श्रीबलदेवविद्याभूषणविरचिता

साहित्यकौमुदी

सम्पादक

डा० ब्रह्ममित्र अवस्थी

Rashtriya Sanskrit Sansthan
(Under the auspices of the Ministry of Education Govt. of India)
Delhi

Ganganatha Jha
Kendriya Sanskrit Vidyapitha
TEXT SERIES
General Editor
Dr. G. C. Tripathi
No. 10

SĀHITYA KAUMUDĪ

by

BALADEVA VIDYĀBHŪṢAṆA

with the

Kṛṣṇanandini Commentary

of the author

Edited by

Dr. Brahma Mitra Awasthi



ALLAHABAD
1981

राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्
(केन्द्रीयशिक्षामन्त्रालयस्याङ्गभूतम्)
दिल्ली

—०—

गङ्गानाथझाकेन्द्रीयसंस्कृतविद्यापीठग्रन्थमाला
प्रधानसम्पादकः
डॉ० गयाचरण त्रिपाठी

—०—

दशमं प्रसूनम्

साहित्यकौमुदी

बलदेवविद्याभूषणविरचिता

'कृष्णनन्दिनी' टीकयासहिता

—०—

सम्पादकः
डॉ० ब्रह्ममित्र अवस्थी

—०—

गङ्गानाथझाकेन्द्रीयसंस्कृतविद्यापीठम्
मोतीलाल नेहरू पार्क
प्रयाग-२११००२
१९८१

श्रीबलदेवविद्याभूषणविरचिता

साहित्यकौमुदी

स्वोपज्ञ 'कृष्णनन्दिनी' टीकासंवलिता

सम्पादकः

डा० ब्रह्ममित्र अवस्थी



गङ्गानाथझाकेन्द्रीयसंस्कृतविद्यापीठम्

मोतीलाल नेहरू पार्क

प्रयाग-२११००२

१९८१

प्रकाशकः
डा० गयाचरण त्रिपाठी
प्राचार्यः
गङ्गानाथझाकेन्द्रीयसंस्कृतविद्यापीठम्
मोतीलाल नेहरू पार्क
इलाहाबाद-२११००२

●

●

मूल्यम्

●

मुद्रकः
शाकुन्तल मुद्रणालयः
३४, बलरामपुर हाउस
इलाहाबाद

FOREWORD

We are happy to place in the hands of our readers a new edition of the *Sāhityakaumudī* by Baladeva Vidyābhūṣaṇa. The work was first published in 1897 A. D. by the Nirnayasagar Press, Bombay and has since long been out of print. It is mainly due to the non-availability of the text that it is not so widely known and does not occupy that important a place among the works of Sanskrit literary criticism which it deserves. The text which is printed here with the *Kṛṣṇanandinī* commentary of the author, marks an improvement over the Nirnayasagar edition since Dr. B. M. Awasthi has utilised an additional manuscript preserved in the B. O. R. I., Poona to restore the text.

Baladeva Vidyābhūṣaṇa was probably born in the fourth dacade of the 18th century in the district of Balasore (Bāleśvara) in Orissa. This was the period when Marathas were ruling over Orissa and the Sanskrit learning was experiencing an unprecedented upsurge in this region. Baladeva was an ardent follower of Caitanya who had flooded Orissa with devotion to Kṛṣṇa some two and a half centuries before. Baladeva was, however, not only a dedicated *bhakta* but also an erudite *ācārya* of his school who had studied at the feet of Govinda Ekāntin, one of the greatest saint-philosophers of his time. In fact, it is he who has won the recognition of a philosophical school for the *acintya-bhedābhedavāda* of Caitanaya and has established it on a firm foundation by writing *bhāṣyas* on the *Prasthānatrayī* in the light of Caitanya's teachings. This was a task which even the Gosvāmins of Vrindavana had failed to do. His *Sidhāntaratna*, *Siddhāntadarpaṇa* and *Prameyaratnāvalī* are reckoned among the best and the most profound productions of Caitanaya school of Vaiṣṇavism.

It was a peculiarity of the Ācāryas belonging to Caitanaya school that besides wtiting terse and tough philosophical treatises, they produced beautiful literary works in pure, lucid and lyrical Sanskrit to propagate the teachings of their master. Like Śrīharṣa they were masters of both *darśana* as well as *sāhitya*. Following the tradition of his predecessors, Baladeva wrote commentaries on several literary works and composed the present scholarly work on the principles of literary criticism.

Sāhityakamudī, however, is not a product of the genius of Baladeva in its entirety; it is a product of the combined genius of Mammaṭa as well as

of Baladeva. The *kārikās* are exactly those of *Kāvyaprakāśa* whereas the *vṛtti* and the illustrative verses have been supplied by Baladeva. These illustrations have mostly been culled from the writings of the Caitanya school and they invariably move around the theme of Kṛṣṇa and Rādhā. A widespread notion about the authorship of *Kāvyaprakāśa* in Bengal was that the *kārikās* of this work were originally composed by Bharata, the first and the foremost of all the Acāryas pertaining to Sāhityaśāstra, and that Mammaṭa had supplied only thc *vṛtti* and *udāharaṇas* to the original work of Bharata. What Mammaṭa had done and became famous for, Baladeva also endeavoured to do in his own manner and tried to make this work a means to prpagate the glory of the Divine Couple. No serious scholar would today share the view held by the scholars of Bengal about the authorship of Kāvyaprakāśa. In matters of *alaṁkāras*, *guṇas* and *doṣa* etc., the Kārikās represent an age of historical development which was achieved long after Bharata wrote his *Nāṭyaśāstra*. That however such a view was held and remained in vogue, is interesting in itself and indirectly indicates the high esteem in which the work, especially its kārikā-portion, was held by the Pandits of Bengal.

Though Sāhityakaumudī can never replace Kāvyaprakāśa, nor can it vie with the monumental work of Mammaṭa as regards the profundity and scholarship, it has an importance of its own. In a simple, short and lucid languge it explains the principles of Sanskrit ltierary criticism as enshrined in the kārikās of Mammaṭa and offers a much easier and convenient access to them than the tough work of the *Vāgdevatāvatāra*. Baladeva has also added an extra *pāriccheda* (not *ullāsā* !) at the end of his work in order to make room for a few additional 'alaṁkāras' which he thought were missing in the original work of 'Bharata'.

I hope, the scholars will find the work published here with a candid exposition of the author himself and embellished with many useful appendices, valuable and interesting and shall welcome its publication.

G. N. Jha K. S. Vidyapeeth, Allahabad
Holikotsava V. 2037
20*th March*, 1981

G. C. Tripathi
Principal

निवेदन

चिरकाल से कवियों ने काव्य को न केवल करुणा की अभिव्यक्ति का साधन बनाया है, और दुःख सागर में निमग्न हो रहे विपन्नजनों को ब्रह्मास्वाद सहोदर आनन्द की प्राप्ति कराने वाला माना है, बल्कि अपने विचारों को दूसरों तक पहुँचाने का प्रशस्ततम साधन भी माना है। विचारों को वहन करने एवं उसे अत्यन्त ग्राह्य बना देने की काव्य की क्षमता के कारण ही अश्वघोष और आर्यशूर आदि बौद्ध कवियों ने रूप जीव कर्णपूर जयदेव आदि वैष्णव कवियों ने एवं क्षेमेद्र जैसे दोष चिकित्सक कवियों ने काव्य को अपने विचारों के प्रचार का साधन बनाया है। काव्य की इस महिमा को समझने वाले आचार्यो ने उपर्युक्त प्रकार के (विचार प्रचारक) कवियों की सहायता के लिए शिलामेघसेन संघरक्षित जयदेव आदि आचार्यों ने स्वभापालंकार, सुबोधालंकार चन्द्रालोक आदि अलंकार ग्रन्थों की रचना की है। बलदेव विद्याभूषण भी इसी परम्परा के आचार्य हैं, जिन्होंने वैष्णव धर्म के प्रमुख आचार्य होते हुए भी अलंकार ग्रन्थ की रचना की है। इतना अन्तर अवश्य है कि उन्होंने काव्यशास्त्र विषयक सिद्धान्तों का कथन अपनी भाषा में न करके पूर्वतः प्रचलित ओर समादृत उन कारिकाओं को स्वीकार कर लिया है, जिन्हें बंगीय परम्परा भरतकृत मानती है और अन्य प्राय सभी ऐतिहासिक उन्हें मम्मट रचित मानते है।

श्री बलदेव विद्याभूषण ने इन कारिकाओं को आधार रूप से स्वीकार करके उनके व्याख्यान के माध्यम से नवीन कवियों के लिए काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का कथन किया हैं, और प्रत्येक काव्य उपादान तत्त्व के स्वरूप को स्पष्ट करके उसके उदाहरण के रूप में कृष्णभक्तिपरक स्वरचित अथवा रूपगोस्वामी जीवगोस्वामी कर्णपूर और भूषण आदि वैष्णव कवियों के पद्यों को उद्धृत किया है।

इस ग्रन्थ का सम्पादन निर्णय सागर बम्बई प्रेस से पं० शिवदत्त शर्मा द्वारा दो पांडुलिपियों द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित प्रति एवं भंडारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट पूना के पाण्डुलिपि संग्रह में संगृहीत मूल और टीका की दो पाण्डुलिपियों के आधार पर किया गया है।

इस ग्रन्थ की मूल प्रति एवं प्रेस कापी तैयार करने में शोध सहायक के अभाव में मेरी शोधछात्रा कुमारी सरोज माथुर एवं मेरी पुत्री कु० इन्दु अवस्थी (श्रीमती इन्दु चन्द्र) से पर्याप्त सहायता मिली है, इसके लिए मैं इन्हें धन्यवाद के साथ ही आशीर्वाद देना चाहूँगा।

प्रथमतः व्यक्तिगत रूप से प्रारम्भ करने पर भी इस कार्य को विद्यापीठ की प्रकाशन योजना में स्वीकार करके गंगानाथ झा शोध ग्रन्थमाला के अष्टम पुष्प के रूप में इसे प्रकाशित करके वर्त्तमान स्वरूप में पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करने के लिए मैं विद्यापीठ के प्राचार्य डा० गया चरण त्रिपाठी का हृदय से आभारी हूँ ।

साथ ही शाकुन्तल मुद्रणालय के स्वामी श्री उपेन्द्र नाथ त्रिपाठी और उनके प्रेस के कर्मचारियों का भी मैं अत्यन्त अभारी हूँ कि उन्होंने अत्यन्त श्रम पूर्वक इस ग्रन्थ को यह स्वरूप प्रदान किया है ।

इस ग्रन्थ के सम्पादन अथवा मुद्रण आदि जन्य अशुद्धियों के लिए मैं विद्वानों से क्षमा चाहूँगा, और यदि इसके द्वारा उन्हें कुछ सन्तोष मिला तो में अपने परिश्रम को सफल समझता हुआ स्वयं को कृतकृत्य समझूंगा ।

विनयावनत

मार्च, ७, १९८१ ई०

ब्रह्ममित्र अवस्थी
रीडर
गंगानाथझा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ
इलाहाबाद

विषयानुक्रमः

तृतीयः परिच्छेदः

चतुर्थः परिच्छेदः

एकादशः परिच्छेद

परिशिष्टानि

भूमिका

साहित्यकौमुदी नामायं ग्रन्थः मम्मटकृते काव्यप्रकाशे समुपलब्धासु कारिकासु व्याख्यारूपः कृष्णभक्तिमयैरुदाहरणैः संवलितः काव्यशास्त्रीयः ग्रन्थः। ग्रन्थोऽयं मुम्बईस्थान्निर्णयसागराख्यान्मुद्रणालयात् सप्तनवत्युत्तराष्टादशशततमेऽब्दे मुद्रितोऽपि प्रायशोऽविदित एवास्ति। अस्याविदितचरत्वादेवाऽनेके ग्रन्थसूचीकाराः साहित्यकौमुदीं काव्यप्रकाशस्य टीकाभावेन विनिर्दिशन्ति। तद्यथा—पुण्यपत्तनस्थभण्डारकरप्राच्यविद्यासंस्थानीयहस्तलेखसूचीनिबन्धने (१८९१-९५) एकादशोत्तरसप्तशततमे क्रमे 'काव्यप्रकाश-टीका साहित्यकौमुदी with a टिप्पणी कृष्णानन्दिनी' इति निर्दिष्टम्। अस्या अविदितचरत्वादेव पूर्वोक्ते भण्डारकरप्राच्यविद्यासंस्थानीय हस्तलिखितग्रन्थसूची निबन्धने ग्रन्थस्यास्य टीका कृष्णनन्दिनी टिप्पणतया निर्दिष्टा। कृष्णमाचारियरमहोदयेन संस्कृतसाहित्यस्यैतिह्यग्रन्थे अत्र साहित्यकौमुद्यां ग्रन्थकृता स्वरचितपद्यानां उदाहरणतया निवेशो निर्दिष्टः, यद्यप्यत्र ग्रन्थकृता स्वयमेव शुकरूपगोस्वामि-कर्णपूर-कृष्णकविप्रभृतीनां काव्यानामुदाहरणतया संग्रहणं टीकायां स्वीकृतम्। कृष्णमाचारियरमहोदयसदृशानां प्रामाणिकतया स्वीकृतानां विदुषामेतादृशमप्रामाणिकं कथनं ग्रन्थरत्नस्यास्याविदितचरत्वमेव प्रमाणयति।

अस्य प्रणेता बलदेवविद्याभूषणः अत्राधारतया स्वीकृता कारिकाः 'भरतकृता' इति स्वीकरोति। ग्रन्थादौ सोऽनुमङ्गलं **'सूत्राणां भरतमुनीशवर्णितानाम्'** इत्यादि पद्येन, प्रतिपरिच्छेदं च **'इति भरतसूत्रवृत्तौ साहित्यकौमुद्याम्'** इत्यादि वचनैः, पुष्पिकायाश्च—

'मम्मटाद्युक्तिमाश्रित्य मितां साहित्यकौमुदीम्।
वृत्तिं भरतसूत्राणां श्रीविद्याभूषणो व्यधात्॥'

इत्यनेनोपसंहार'वचनेन' दशमपरिच्छेदान्ते ग्रन्थान्तपुष्पिकया, 'इह भरतोक्तेभ्यः केचन परिशिष्टाः प्रदर्श्यन्ते' इति परिशिष्टभूते एकादशे परिच्छेदे, तत्रैव स्वोपज्ञायां टीकायां कृष्णनन्दिन्यां 'भरतोक्तपरिशेषान्वक्तुम्' इत्यादि वाक्यैश्चानेकधा कारिकाणां भरतकृतित्वं

वदति, कृष्णनन्दियां च स्वग्रन्थस्य महिम्नः प्रदर्शनप्रसङ्गे 'क्वचिद् भरतसूत्राणि सन्ति, न च संक्षिप्ता वृत्तयः,…… ……क्वचिद् भरतसूत्राण्येव न सन्ति,………… अस्यां मम कृतौ साहित्य-कौमुद्यां त्रीण्यपि तानि सन्ति इत्यादि च वदता पुनः कारिकाणां भरतकृतित्वं समुद्घोषयति। अत्र प्रसंगे विदुषां पक्षद्वयं वरीवर्त्ति। विवरणकृद् 'इमाः कारिकाः भरतकृता' इत्यङ्गीकरोति[1]। बंगीया परम्परापि च कारिकाणां भरतकृतित्वमेव स्वीकरोति[2]। भीमसेनस्तु इमाः कारिकाः मम्मटकृताः इति मनुते। अन्येषामपि विदुषामियमेव मान्यता यत् कारिका इमा मम्मट कृता एव।

अलंकाराणामैतिह्यस्य पर्यालोचनेन इमाः कारिका न भरतकृता अपितु मम्मटकृता इति प्रतीयते। तथाहि भरतकृते नाट्यशास्त्रे उपमारूपकदीपकयमकानां चतुर्णामेवालंकाराणां स्वीकृतिर्दृश्यते[3]। भामहः केषाञ्चिन्मतेऽनुप्रासस्यापि स्वीकृतिपूर्वकं पञ्चालंकाराणामेवाङ्गीकृतिं सूचयति[4], न काव्यप्रकाशे स्वीकृतानां सर्वेषामलंकारणाम्। अपिच उद्भटकृते काव्यालंकारसारसंग्रहेऽलंकाराणां विभाग ऐतिह्यपरम्परयैव कृतमस्ति। तत एव च प्रथमे वर्गे उद्भटः पुनरुक्तवदाभास अनुप्रास-छेकानुप्रास-लाटानुप्रासनामभिः चतसृणां शब्दालंकाराणां रूपकदीपकोपमाप्रतिवस्तूपमानामभिश्चतसृणामर्थालंकाराणां परिगणनपूर्वकम् 'इत्येत एवालंकाराः वाचां कैश्चिदुदाहृताः' [का० सा० सं० १.२] इति

---

१. (क) 'अत्राहुर्विवरणकाराः काव्यप्रकाशस्य द्वात्रंशो कारिका वृत्तिश्चेति। भरतमुनिप्रणीताः या कारिका सा अलंकारसूत्रनाम्ना व्यवह्रियते। मम्मटप्रणीता या वृत्तिः सा काव्यप्रकाशनामभाक् इतिबङ्गीयानां प्रवादः।'

(का० प्र० प्रस्तावना वामनभल्कीकरकृता, पृ० ८)

२. The Current tradition in Bangal is that kārikās are the work of Bharat. F. N. 3, History of Classical skt., lit. P. 755.

३. उपमा रूपकञ्चैव दीपकं यमकं तथा।
अलंकारास्तु विज्ञेया चत्वारो नाटकाश्रयाः॥ ना० शा० १७.४३

४. अनुप्रासः सयमको रूपकं दीपकोपमे।
इति वाचामलंकाराः पञ्चैवान्यैरुदाहृताः। भामह : काव्यालंकार २.४

कथयन् केषाञ्चिन्मते केवलमष्टानामलंकाराणां स्वीकृतिं प्रदर्शयति । भामहेन च केषाञ्चिन्मते अनुप्रासयमकरूपकदीपक उपमाः पञ्चैव स्वीकृता अलंकाराः सूचिताः इति पूर्वमुक्तम् । भामहेन संकेतितेषु एषु पञ्चसु उद्भटेन पुनरुक्तवदाभास-प्रतिवस्तूपमालंकारौ नवीनौ संयोजितौ अनुप्रासश्च द्विधा विभज्य तस्य छेकानुप्रास-लाटानुप्रासभेदौ स्वतन्त्रतया निर्दिष्टौ यमकश्चात्र सर्वथोपेक्षितः । इदमपि संभाव्यते यदमीषामष्टालंकारवादिनां मते यमकं लाटानुप्रासेऽन्तर्भुक्तं भवेत् । भामहोद्भटानुसारमाक्षेपार्थान्तरन्यासव्यतिरेक-विभावनासमासोक्त्यतिशयोक्तयः षडन्येऽप्यलंकाराः अपरैरालंकारिकैरङ्गीक्रियन्ते ।[1] अनयोर्मते अपरे केचिदेभिरलंकारैः सह यथासंख्यमुत्प्रेक्षां स्वभावोक्तिं चेति त्रीनपरानलंकारानपि मन्यन्ते ।[2] पूर्वोक्ता इमे सर्वेऽप्यलंकारा भामहात्पूर्वतरैराचार्यैरङ्गीकृतिं लेभिरे, भामहः केवलममीषां निदर्शनान्येव प्रक्लृप्तवानिति संप्रतिजानीते ।[3]

भामहेनाग्रिमे तृतीये परिच्छेदे यास्त्रयोविंशतिरलंकृतयो विवेचितास्तासां स्वीकृतिः भामहानुसारं ततः पूर्वं सन्दिग्धैव बभूव । अतएव सः—

'गिरामलंकारविधिः सविस्तरः
स्वयं विनिश्चित्य धिया मयोदितः । [काव्या० ३·५८]

इत्यादि ब्रुवाणोऽमीषामलंकाराणां विवेचने स्वविवेचकत्वं घोषयति ।

---

१. (क) आक्षेपोऽर्थान्तरन्यासो व्यतिरेको विभावना ।
समासोक्तातिशयोक्तिश्च षडलंकृतयोऽपराः ।। भा० काव्या० २.६६
(ख) आक्षेपोऽर्थान्तरन्यासो व्यतिरेको विभावना ।
समासातिशयोक्तिश्चेत्यलंकारान्परे विदुः ।। का० सा० सं० २·१
२. (क) यथासंख्यमथोत्प्रेक्षामलंकारद्वयं विदुः ।
स्वभावोक्तिरलंकार इति केचित्प्रचक्षते ।। भा० काव्या २.८८,९३
(ख) यथासंख्यमथोत्प्रेक्षां स्वभावोक्तिं तथैव च ।
अपरे त्रीनलंकारान् गिरामाहुरलंकृतौ ।। का० सा० सं० ३.१
३. स्वयं कृतैरेव निदर्शनैरियं मया प्रक्लृप्ता खलु वागलंकृतिः ।
अतः परं चारुरनेकधापरो गिरामलंकारविधिर्विधास्यते । भा० काव्या २.९६

काव्यप्रकाशकारिकास्वमीषु वक्रोक्तिप्रभृतयः षट् शब्दालंकाराः उपमाप्रभृतयश्च द्वाषष्ठिरर्थालंकाराः यदि भरतेन पूर्वं विवेचिताः स्युस्तर्हि भामहस्येयं प्रतिज्ञालीकभूतैव भवेदिति काव्यप्रकाशीयानां कारिकाणां विषये भरतस्याकर्तृत्वं भामहेन प्रमाणितं भवति। भामहेन तृतीये परिच्छेदे वर्णिता रसवत्प्रभृतयस्त्रयोविंशतिरलंकाराः प्रायशस्तेनैव क्रमेणोद्भटेन चतुर्थपञ्चमवर्गयोः वर्णिताः। षष्ठे वर्गे चानन्वयससन्देहसंसृष्टिभाविकानां विवरणानन्तरमुद्भटः काव्यदृष्टान्तकाव्यलिङ्गनामकौ द्वावलंकारौ सर्वान्ते वर्णयामास[1]। दृष्टान्तकाव्यलिङ्गौ काव्यप्रकाशीयासु कारिकासु स्वीकृतावलंकारौ स्तः। यदीदमलंकारद्वयं भरतेन स्वीकृतम् भवेत् तर्हि उद्भटेनानयो सर्वान्ते परिगणनं न कृतं स्यात्।

दोषविवेचनप्रसंगे काव्यप्रकाशीयकारिकासु अविमृष्टविधेयांशभग्नप्रक्रमनामानौ द्वौ दोषौ वर्णितौ स्तः। अनयो सर्वप्रथमं वर्णनं महिमभट्टकृते व्यक्तिविवेके दृश्यते। भरतेन च स्वीकृता गूढार्थप्रभृतयो दश काव्यदोषा समुपलभ्यन्ते[2]। तेष्वनयोरुल्लेखोऽपि न दृश्यते। महिमभट्टात्पूर्वं केनाप्यालंकारिकेणानयो विवेचनं न कृतमस्ति। यदीमां कारिकाः भरतकृताः स्युः यास्वनयो वर्णनमस्ति, तर्हि तदनुसरणपूर्वकमनयोरपि वर्णनमपार्थव्यर्थादिदोषवत्कृतमन्यत्रोपलभ्येत। न च तथा दृश्यते इत्यमीषां कारिकाणां न प्राचीनत्वमत एव च न भरतकृतित्वम्।

अथापि गुणविवेचनप्रसङ्गे भरतेन श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सौकुमार्यमर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः कान्तिः समाधिश्चेति दशगुणाः नाट्यशास्त्रेऽङ्गी कृताः। अमी एव दशगुणाः दण्डिकृते काव्यादर्शेऽविकलं स्वीकृताः। गुणानामिमाः दशसंख्याः निर्वोढुं प्रयत्नवता वामनेन दश शब्दगुणा दशचार्थगुणा इत्यादि वर्णयता दश संख्यानिर्वाहप्रयत्नेन भरतं प्रत्यादरभावो व्यञ्जितः। भामहस्यापरं मतं सर्वतोभिन्नं गुणविवेचन प्रसङ्गे। तेन केवलं त्रय एव गुणा माधुर्यौजःप्रसादाख्याः स्वीकृताः। काव्यप्रकाशीयासु कारिकासु केवलमेते त्रय एव गुणा अङ्गीकृताः, अपरेषां दशानामीष्वेवान्तर्भावस्तत्र प्रदर्शितः। काव्यप्रकाशीयानां कारिकाणां भरतस्य कर्तृत्वे स्वीकृते उभयोः परस्परं विरोधः, द्वयोरपि प्रामाणिकतायां सन्देहं

---

१. काव्यदृष्टान्तहेतू चेत्यलंकारान्परे विदुः। का० सा० स० ६·१।

२. गूढार्थमर्थान्तरमर्थहीनं भिन्नार्थमेकार्थमभिप्लुतार्थम्।
न्यायादपेतं विषमं विसन्धि शब्दच्युतं वै दश काव्यदोषाः। नाट्यशास्त्र १६·८८।

जनयेत्। कारिकाणां मम्मटकर्त्तृत्वे तु न वदतो व्याघात आपद्येत इति तथैव वाङ्गीकरणं वरम्।

तदेवमिदं वक्तुं शक्यते यत् साहित्यकौमुद्यां काव्यप्रकाशे च निबद्धानां कारिकाणां कर्त्ता भरत इति साहित्यकौमुदीकर्त्तुः बलदेवविद्याभूषणस्य प्रतिज्ञा न प्रामाणिकतामवगाहते। परिशेषादत्र प्रसङ्गे 'इमा कारिकाः मम्मटकृताः इति द्वितीयं मतमेव स्वीकारार्हं सिद्धयति।

साहित्यकौमुद्यां कारिकाभ्यो भिन्नो वृत्ति भागः, यत्र कारिकाणां व्याख्यानं लक्ष्यभूतानां पद्यानां निबन्धनं च कृतमस्ति। तत्र व्याख्यानांशः मम्मटीयव्याख्यानापेक्षया संक्षिप्तः, अतएव न तथा प्रौढतरस्तथापि कारिकार्थं विशदयितुं सुपर्याप्तः, भाषा प्राञ्जला सुस्पष्टा सरला च। मम्मटेन काव्यप्रकाशे लक्ष्याणां निदर्शनाय यतः कुतश्चित् पद्यानां संकलनं कृतम्, तत्र न तस्य कश्चिदाग्रहः। साहित्यकौमुद्यां तु ग्रन्थकृता भगवद्भक्तिमयानि विशेषतः कृष्णभक्तिमयानि पद्यान्येवोदाहर्त्तुं प्रतिज्ञातम्। तदेवं सुस्पष्टतापूर्वकं संक्षिप्तता, लक्ष्यभूतेषु पद्येषु भगवद्भक्तिरित्येतद् द्वयमस्य ग्रन्थस्य वैशिष्ट्यम्।

अत्र ग्रन्थे कारिकाणां व्याख्यानप्रसङ्गे मम्मटप्रभृतीनाम् आचार्याणां वचसामाश्रयणं कृतमस्ति इत्यपि ग्रन्थकृता स्वयमेव संसूचितम्।[1] उदाहरणानि प्रायशः श्री रूपगोस्वामि कविकर्णपूरलीलाशुकभूषणप्रभृतीनां ग्रन्थेभ्यो संकलितानि। बहुत्र च ग्रन्थकृता स्वयमेव रचितानि। एतादृशेषु लक्ष्यपद्येषु काव्यप्रकाशीयलक्ष्यपद्यानां दूरतोऽदूरतो वा प्रभावः द्रष्टुं शक्यते[2]।

---

१. मम्मटाद्युक्तिमाश्रित्य मितां साहित्यकौमुदीम्।
वृत्तिं भरतसूत्राणां श्री विद्याभूषणो व्यधात्॥१०॥

२. काव्यप्रकाशे—यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपा-
स्ते चोन्मीलितमालतीसुरभयः प्रौढाः कदम्बानिलाः।
सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापारलीलाविधौ
रेवारोधसि वेतसीतरुतले चेतः समुत्कण्ठते॥ पृ० १२

अत्र ग्रन्थे (साहित्यकौमुद्यां) ग्रन्थकृता स्वयमेव टीका विहिता, या कृष्णनन्दिनी कृष्णानन्दिनीति नाम्ना वा ज्ञायते। अन्यस्याः कस्याश्चिट्टीकायाः परिज्ञानं नाद्यावधि जातमितीयमेकैवात्र टीकेत्यपि वक्तुं शक्यते। काव्यप्रकाशे दश उल्लासाः सन्ति, येषु प्रथमे काव्यलक्षणं तद्भेदाश्च लक्षिताः, द्वितीये शब्दार्थस्वरूपविवेचनम्, तृतीयेऽर्थव्यञ्जकता निर्णयः, तुरीये रसादिविवरणपूर्वकमुत्तमकाव्यस्वरूपस्य (ध्वने) निरूपणम्, पञ्चमे गुणीभूत-व्यंग्य (मध्यम) काव्यभेदानां विवेचनम्. षष्ठेऽधमकाव्यस्य (शब्दार्थचित्रस्य) निरूपणम्, सप्तमाष्टमयोः दोषगुणयोः निरूपणम्, नवमे शब्दालंकाणां दशमे चार्थालंकाराणां विवरणं कृतमस्ति। अत्र साहित्यकौमुद्यां काव्यप्रकाशीयकारिकाणामाश्रय इति विषयविवेचनक्रमः स एव। उल्लास पदस्य स्थाने परिच्छेद पदश्चात्रप्रयुक्तः। विद्याभूषणेन काव्यप्रकाशीयासु कारिकासु तन्मते भरतकृतासु कारिकास्वनुपलब्धानामपि केषांचिदनिवार्यभूतानां विषयाणां विवेचनमन्तिमे एकादशे परिच्छेदे कृतमस्ति। तत्र भाषासमकबिन्दुच्युकादि च्युतदत्ताक्षर-क्रियागुप्तादिशब्दालंकाराणाम्, उल्लेख-निश्चय-हेतु-अनुकूल-विधि-अर्थापत्ति-पूर्वरूप परि-कराङ्कुर-मिथ्याध्यवसिति-परिणाम-अनुज्ञानामलंकाराणां सोदाहरणं विवरणं काव्यशास्त्र-विदां कवीनाञ्च कृते प्रमोदजनकमस्ति।

कारिकाणां व्याख्यानप्रसङ्गे ग्रन्थकृता पाणिनिसूत्राणां तत्सिद्धान्तस्य वा निर्देशः यथावसरं कृतः इत्यस्य वैशिष्ट्यम्। यथावसरं च तेन कपिलभरतभामहव्यासदण्डि-विश्वनाथ-भृतीनाम्पुरातनानामाचार्याणां मतमपि सादरं संसूचितम्। लक्ष्यपद्यानां उद्धरणप्रसङ्गे ग्रन्थादौ श्रीरूपप्रभृतीनां नामनिर्देशेन सह वाल्मीकिव्यासदण्डिमाघ-जयदेवयामुनाशंकरजीव(जीवगोस्वामि)वोपदेवसामुद्रिकप्रभृतीनां कवीनां हरिवंश-ललित-

---

साहित्यकौमुद्यां—

प्रियः सोऽयं कृष्णः सहचरि कुरुक्षेत्रमिलितः
तथाहं सा राधा तदिदमुभयोः संगमसुखम्।
तथाप्यन्तः खेलन्मधुरमुरलीपञ्चमजुषे
मनो मे कालिन्दीपुलिनविपिनाय स्पृहयति ॥ पृ० ७

१. का० प्र०—तइआ मह गंडथल णिमिअं दिट्ठिं ण णेसि अण्णत्तो।
एण्हि सच्चेह अहं ते कवोला ण सा दिठ्ठी ॥ पृ० ७१

सा० कौ०—तदा मदीये पतितां कपोले दृष्टिं त्वमन्यत्र न नेतुमीशः।
सैवाधुनाहं भगवन्कपोलौ तावेव दृष्टिर्न तु कृष्णसेयम् ॥ पृ० २९

माधव-भक्तिरसामृतसिन्धुप्रभृतीनां ग्रन्थानां, पदार्थविवरणप्रसङ्गे च नानार्थकोशविश्वकोश-अमरकोशप्रभृतीनां ग्रन्थानां च नामनिर्देशपूर्वकं संकेतः कृतोऽस्ति। अनेकत्र च अन्ये अपरे केचित् कैश्चिद् प्रभृतिभिः पदैरपि पूर्वाचार्याणां समुल्लेखोऽपि तेन कृतः।

वंश परिचयः

वलदेव विद्याभूषणः कृषिकर्मोपजीविनि खण्डायतकुले उत्कलप्रदेशे रेमुना ग्रामे समुत्पन्न इति डॉ० गोपीनाथकविराजमहाशयानाम्मतम्।[1] अयं वंगीय इति श्री कृष्णमाचारियरः। अक्षयकुमार शर्मा विद्यारत्नोऽमुम् ब्राह्मणवंशोद्भवं मनुते[2]। अत्र प्रसङ्गे तस्येयं चाप्युक्तिः—

(१) संस्कारपरामर्शात्तदभावाभिलापाच्चेति [१.३.३६] वेदान्तसूत्रव्याख्यान प्रसङ्गे बलदेवविद्याभूषणः 'तत्र ब्राह्मणानामेवाधिकारः' इति निर्दिशति। नाब्राह्मणस्तन्मते ब्रह्मविद्याध्ययनेऽप्यधिकृतः। स्वयं चायं ब्रह्मसूत्राणां व्याख्याता आचार्यपदवीं प्राप्याध्यापयिता च इति नासावब्राह्मणो भवितुमर्हति इति ब्राह्मणत्वमेवास्य स्वीकार्यम्।

यद्यप्यस्य वैश्यकुलोद्भवेऽपि नैतद् वचनं विरुध्यति। यतो ब्राह्मणाः त्रिविधा भवितुमर्हन्ति जन्मना दीक्षया वृत्तेन च। बलदेव विद्याभूषणोहि कान्यकुब्जदेशीयाद् ब्राह्मणाद् दीक्षामवाप, तस्मात् स दीक्षया ब्राह्मणस्त्वस्त्येव इति तस्य ब्रह्मविद्यायामधिकारो न व्याहन्यते। यच्च 'न खलु कश्चिदिह जन्मनि महता तपसा जात्यन्तरमधिन्गतुमर्हति, शास्त्रे यत्र कुत्रचिदेतादृग् वचनाभासः परिलक्ष्यते स तपोमाहात्म्यप्रख्यापकार्थवादरूप एवेति। प्रयोजनं चास्य तपसि प्रवर्त्तनमात्रम्। अपि च 'सवर्णायां संस्कृतायां स्वयमौरसं विद्यात्' इत्यादि स्मरणात् ब्राह्मणेन सवर्णायां संस्कृतायामेव प्रसूतः ब्राह्मणो भवितुमर्हति, नान्यः कश्चिद्। दीक्षासंस्कारो नाब्राह्मणं ब्राह्मणं कर्तुम् पारयतोऽपितु जन्मना ब्राह्मणे प्राशस्त्यमात्रं जनयतः इत्याद्युच्यते ततोऽपि न काचिद्धानिः। शूद्रस्यैव ब्रह्मविद्यायाम् अनधिकृतत्व प्रतिपादनात्, न वैश्यस्य। 'नाग्नि र्न यज्ञो न संस्कारो न व्रतानि शूद्रस्य' इति इति संस्का-

---

1. Baladeva was born in a Khandāyat Vaiśya Family of cultivaters of a Village near Ramuna in the Baleshwar sub-division of orissa. —Gopinath Kaviraj, Introduction to Siddhantaratna.

२. प्रमेय रत्नावली भूमिका पृ० ३, १०।

राभावकथनं शूद्रस्यैव न ब्राह्मणेतरयो क्षत्रियवैश्ययोरपि। यच्च 'ब्राह्मणानामेवाधिकारः इति शंकरविद्याभूषणयोः वाक्यम्, तत्र ब्राह्मणपदं त्रैवर्णिकस्योपलक्षकम्, 'त्रिवर्णिकबाह्यस्य संस्काराविधानात्, संस्कारसापेक्षे वेदपाठे तस्य न सः' इत्युपसंहार वाक्येन शूद्रस्यैवाधिकार निषेधात्, इति नास्य वैश्यत्वेऽपि विरोधः।

बलदेवविद्याभूषणस्य चतुर्थः पूर्वपुरुषः मुरारिनामा इति सिद्धान्तरत्नप्रमेयरत्नावल्योः गोविन्दभाष्यटिप्पण्या कान्तिमालाटीकया च बुध्यते। तथाहि—

दृष्टं न किं किमिह तत्त्वमुदग्रधीभिः,
श्रीमन्मुरारिचरणाम्बुजभक्तिभाग्भिः। [सिद्धान्तरत्न ८·३३]

इत्यादि पद्यं व्याकुर्वन् प्रभुपादः मुरारिः नन्दसूनुः स्वयं भगवान्, पक्षे स्वपूर्वपुरुषश्च [सिद्धान्तरत्न पृ० ३५१] इत्यगादीत् स्वयमेव। अपि च—

निवसतु मम तस्मिन् कृष्णचैतन्यरूपे, मतिरतिमधुरिम्णा दीप्यमाने मुरारौ। इत्यादि सिद्धान्तरत्न गतं (१-२) पद्यं व्याकुर्वन् 'कृष्णचैतन्यरूपे शचीसुतात्मानि मुरारौ कृष्णपक्षे परेशत्वात् कृष्णचैतन्यं निरूपयति। मुरारौ तन्नामके स्वपूर्वचतुर्थे, इत्यादि स्वयमुवाच—

नित्यं निवसतु हृदये चैतन्यात्मा मुरारिर्नः।
निरवद्यो निर्वृतिमान्गजपतिरनुकम्पया यस्य॥ [प्रमेयरत्नावली ९३]

इति पद्यव्याख्यानप्रसङ्गे च 'अत्र श्रीकृष्णः, श्रीकृष्णचैतन्यः स्वपूर्वपुरुषो मुरारिश्च इति त्रयः प्रतिपाद्यन्ते' [कान्तिमालाटीका कृष्णदेवकृता पृ० १३७] इत्यादि कृष्णदेवोऽवादीत्।

मुरारिरिति संक्षिप्ताभिधो रसिकमुरारिः वैष्णवपरम्परायां सुविदितः विद्वान्, न च तस्याब्राह्मणत्वे काचिदपि विप्रतिपत्तिरिति विद्याभूषणोऽपि ब्राह्मण एवेति सिध्यति।

अयं पीताम्बरदासवैरागी महोदयस्यान्तेवासी सन् ततः भक्तिशास्त्रमधीतवान्। पीताम्बरदासो वैष्णवेषु गोविन्ददास नाम्ना गोविन्द एकान्ती नाम्ना वा विशिष्य विदितः। कान्यकुब्जदेशीयः श्री राधादामोदरदासोऽह्यस्य मन्त्रदीक्षागुरुः। सिद्धारत्ने

छन्दःकौस्तुभटीकायां राधादामोदरस्योल्लेखः ग्रन्थकृता गुरुभावेन कृतः[१]। कान्यकुब्जीय-विप्रवंशावतंशोऽयं राधादामोदरदासः[२] वेदान्तस्यमन्तकनामकस्य सुविदितस्य ग्रन्थस्य प्रणेता इति न केषामप्यविदितम्।

गोपीनाथकविराजानुसारमस्य गुरुपरम्परा चेयम्—श्री नित्यानन्दशिष्यो हृदयचैतन्यः, तस्य शिष्यः श्री श्यामानन्दः, तस्य च रसिकानन्दो मुरारी। रसिकानन्दस्य पुत्रः शिष्यश्च राधानन्दः। द्वितीयश्चास्य शिष्यः स्वपौत्रः, राधानन्दस्य पुत्रः नयनानन्दः। नयनानन्दस्य च शिष्यः बलदेवविद्याभूषणस्य गुरुः श्री राधादामोदरदासः। विद्याभूषणस्य चानेके-शिष्या अभूवन्, एषु नन्दमिश्रोद्धवदासौ विशिष्य विदितौ[३]।

बलदेवविद्याभूषणः जयपुराधीश्वरस्य (आमेरराज्याधीश्वरस्य) जयसिंह द्वितीयस्य समसामयिक आसीत्। जयसिंहद्वितीयस्य शासनसमयोऽष्टादशशतकस्य तृतीयोभागः स्त्रीक्रियते। तत अस्यापि स्थितिः अष्टादशशतक एव स्वीकर्तुं शक्यते। रूपगोस्वामि कृतायां स्तवमालायां विद्याभूषणकृते भाष्येऽपि तद्रचनाकालः १६८६ शकाब्दः निर्दिष्टः यच्च १७६४ ख्रिष्टाब्दः प्रपद्यते। तद्धि एतस्य पूर्वोक्तमेव स्थितिमतं प्रमाणयति।

परम्परया स्वीकृतेयं जनश्रुति र्यज्जयसिंहद्वितीयस्य शासनावसरे जयपुरादनतिदूरवर्तिनि 'गलतापीठ'मठस्य स्वामित्वनिर्णयप्रसङ्गे वैष्णवसम्प्रदायस्य आचार्याणां-किञ्चित् सम्मेलनमायोजितं बभूव। यत्र रामानुजरामानन्दवल्लभमाध्वादिवैष्णवसम्प्रदायानामाचार्याः संजग्मुः। महाप्रभुचैतन्यस्यानुयायिनो गौडीयवैष्णवसम्प्रदायस्य प्रतिनिधितया गोविन्दएकान्तीमहोदयेन सह बलदेवापरनामा विद्याभूषणोऽपि तत्र संगतः।

---

१. (क) विजयन्ते श्री राधादामोदरपादपङ्कजद्युतयः।
याभिः सकृदुदिताभिर्विनिर्मितो मे महान्मोदः॥ (सिद्धान्तरत्न ८.३४)

(ख) अचिंतनयनानन्दो राधादामोदरो गुरुर्जीयात्।
श्री राधादामोदरशिष्यो विद्याभूषणो नाम्ना।
छन्दःकौस्तुभशास्त्रे भाष्यमिदं सम्प्रति व्यधात्॥ (छन्दः कौस्तुभ पुष्पिका)

२. राधादामोदरः कान्यकुब्जविप्रवंशावतंसः स्वस्य मंत्रोपदेष्टा। गोविन्दभाष्यपीठिका टिप्पणी पद्मपाद पृ० ३५।

3. Introduction to Siddhantaratna, by Gopinath Kaviraj.

इतरेषां सम्प्रदायानामाचार्याः महाराजस्य जयसिंहस्य समक्षं चैतन्यानुयायिनः गौडीयान् वैष्णवान् गोविन्ददेवस्य सेवायं अनधिकारिणः साधयामासुः। विद्याभूषणेन तेषान्तर्काणां संयुक्तिकं निरासे कृते, तेषामयं मुख्यः प्रतितर्को बभूव यदत्र सम्प्रदाये प्रस्थानत्रयीमधिकृत्य भाष्याणि न सन्तीति। अनेन चाचिरं तत्र भाष्यग्रन्थानुपस्थापयितुं समयो याचितः। एतदर्थं लब्धनिर्देशश्च गोविन्ददेवस्य शरणं जगाम। भगवान् गोविन्ददेवश्च स्वप्नवेलायामुपसृत्य सिद्धान्तांश्च सविशदं निर्दिश्य प्रस्थानत्रय्यां भाष्यनिर्माणायादिशत्। मासाभ्यन्तर एव चानेन ब्रह्मसूत्रे भाष्यं विरचितम्, ततएव च भाष्यमिदं गोविन्दभाष्याभिधां लेभे। गोविन्दभाष्यान्ते निबद्धेन पुष्पिकापद्येनास्याः जनश्रुतेः समर्थनं भवति। तच्च पुष्पिका पद्यमित्थम्—

> विद्यारूपं भूषणं मे प्रदाय ख्यातिं निन्ये तेन यो मामुदारः।
> श्री गोविन्दस्वप्ननिर्दिष्टभाष्यो राधाबन्धुः बन्धुराङ्गः सर्जीव्यात् ॥

विद्याभूषणकृताः ग्रन्थाः

यथा चानुपदमेवोक्तं यद् बलदेवविद्याभूषणः गौडीयवैष्णवसम्प्रदायस्य मुख्य आचार्यः। अयमेव च प्रस्थानत्रय्यां भाष्यकृत् इतिविदुषोऽस्य प्रमुखा ग्रंथाः गौडीयवेदान्तसिद्धान्तस्य प्रतिष्ठापकाः। अन्यत्र विषयेषु तेन प्रासङ्गिकतयैव केचिद् ग्रन्थाः रचिताः। तद्रचिताः ग्रन्थाश्चेमेः—

(१) गोविन्दभाष्यम्, गौडीयवैष्णवसम्प्रदायमनुसृत्य ब्रह्मसूत्रस्य भाष्यम्।

(२) सूक्ष्मा गोविन्दभाष्ये संक्षिप्ता टीका।

(३) गीताभूषणं भगवद्गीतायां भाष्यम्।

(४) उपनिषद् भाष्यम्, दशप्रमुखासूपनिषत्सु सम्प्रदायानुसारिभाष्यम्। (प्रायशोऽप्राप्तम्)।

(५) सिद्धान्तरत्नम्, गौडीयसम्प्रदायस्य प्रतिष्ठापको ग्रन्थः।

(६) सिद्धान्तरत्नटीका।

(७) प्रमेयरत्नावली, सम्प्रदाये स्वीकृतानां तत्त्वानां विवेचको ग्रन्थः।

(८) कान्तिमाला, प्रमेयरत्नावली टीका।

(९) स्तवमालाभूषणम्, रूपगोस्वामिकृतायां स्तवमालायां व्याख्या।

(११) नामार्थसिद्धिः (नामार्थसुधा) विष्णुसहस्त्रनामव्याख्या ।

(१२) सिद्धान्तदर्पणम्, सम्प्रदायानुसारिग्रन्थः ।

(१३) तत्त्वसन्दर्भव्याख्या (षट्सन्दर्भव्याख्या) ।

(१४) साहित्यकौमुदी ।

(१५) कृष्णनन्दिनी (कृष्णानन्दिनी), साहित्यकौमुदी टीका ।

(१६) चन्द्रालोकव्याख्या, जयदेवकृते चन्द्रालोके व्याख्या ।

(१७) छन्दःकौस्तुभभाष्यम्, गुरु राधादामोदरकृते छन्दःकौस्तुभे भाष्यम् ।

(१८) नाटकचन्द्रिका व्याख्या, रूपगोस्वामिकृते नाटके चन्द्रिका टीका ।

(१९) काव्यकौस्तुभम्[1] ।

(२०) वैष्णवी श्रीमद्भागवते टीका[2] ।

श्री अक्षयकुमारशर्मणा इमे कतिपय अन्येऽपि ग्रन्थाः तत्कृताः सूचिताः[3] । यथा—

(१) वेदान्तस्यमन्तकम् ।

(२) श्रीमद्भागवद्भाष्यम् ।

(३) गोपालतापनीयोपनिषदि भाष्यम् ।

(४) व्याकरणकौमुदी ।

पीटर्सन महाभागः पद्यावलीम्-उत्कलिकावलीटीकाम् चेति ग्रन्थद्वयमपरं विद्याभूषणकृतं स्वीकरोति[4] ।

अत्र प्रसङ्गे गुरुनामाङ्कितानि ग्रन्थकृन्नामाङ्कितानि च मङ्गलेषु पुष्पिकासु वा निर्दिष्टानि वाक्यानि द्रष्टव्यानि ।

---

१. Gopinath Kaviraj : Introduction to Siddhantaratna P. 3 ।

२. Kṛṣṇamac'ariar : History of Skt. Lit., F. M. P. 787 ।

३. प्रमेयरत्नावली भूमिका अक्षय कुमार शर्मणा सम्पादिता, पृ० ८ ।

४. Peatərson's Report III PP. 395 & IV.

(१) भाष्यं यस्य निदेशाद् रचितं विद्याभूषणेनेदम् ।
गोविन्दः स परात्मा ममापि सूक्ष्मं करोत्वस्मिन्[१] ॥

(२) श्रीमद्गीता भूषणं नाम भाष्यं यत्नाद्विद्याभूषणेनोपचीतम् ।
श्री गोविन्दप्रेममाधुर्यलुब्धाः कारुण्यार्द्राः साधवः शोधयध्वम्[२] ॥

(३) विद्याभूषणभणितं श्रीमद्गोपालतापनी भाष्यम् ।
तोषयतु वाल्लवीनां मित्रं गोपालकं परं ब्रह्म[३] ॥

(४) विद्यारूपं भूषणं मे प्रदाय ख्याति निन्ये तेन यो मामुदारः ।
श्री गोविन्दः स्वप्ननिर्दिष्टभाष्योराधाबन्धुः बन्धुरांगः स जीव्यात्[४] ।

(५) अथ सोऽयं श्रीगोविन्दैकान्ती बलदेवापराख्यो विद्याभूषणो । ब्रह्मसूत्रेषु गोविन्दभाष्याभिधानं विवरणं निर्माय तत्परितोषाय सिद्धान्तरत्नाख्यं तत्पीठं निर्मातुकामः साक्षाद्भगवतोऽर्च्यमानस्य श्यामसुन्दरस्य भक्तिमङ्गलमाचरति[५] ।

(६) सद्युक्तिभूषणव्राते विद्याभूषणनिर्मिते ।
सिद्धान्तदर्पणे वाञ्छा सतामस्तु मुदर्पणे[६] ॥

(७) विद्याभूषणभणिते स्तवमालाभूषणे भाष्ये ।
परितुष्यतु वनमाली वररुचिरशाली बतैतस्मिन्[७] ॥

---

१. गोविन्दभाष्यटीका मङ्गलपद्य ।
२. गीताभूषणे पुष्पिका पद्यम् ।
३. गोपालतापनीभाष्य पुष्पिका ।
४. सिद्धान्तरत्न पुष्पिका पद्यम् ३१ ।
५. सिद्धान्तरत्ने टिप्पणी पृ० १ ।
६. सिद्धान्तदर्पणे पुष्पिका ।
७. स्तवमालाभूषणे मङ्गलपद्यम् ।

(८) अर्चितनयनानन्दो राधादामोदरो गुरुर्जीव्यात् ।
विवृणोमि यस्य कृपया छन्दः कौस्तुभमहं मितवाक्[1] ॥

(९) श्री राधादामोदरशिष्यो विद्याभूषणो नाम्ना ।
छन्दः कौस्तुभशास्त्रे भाष्यमिदं संप्रति व्यधात्[2] ॥

(१०) नित्यं निवसतु हृदये चैतन्यात्मा मुरारिर्नः ।
निरवद्यो निर्वृतिमान् गणपतिरनुकम्पया यस्य[3] ॥

(११) गणपतिरनुकम्पा सम्पदा यस्य सद्यः ।
समजनि निरवद्यः सान्द्रमानन्दमिच्छन् ।
निवसतु मम तस्मिन् कृष्णचैतन्यरूपे ।
मतिरति मधुरिम्णा दीप्यमाने मुरारौ[4] ॥

बलदेव विद्याभूषणः माध्वदर्शनानुयाय्यपि सन् श्री चैतन्यसिद्धान्तप्रतिष्ठापकेषु प्रधानतम आचार्यो बभूव । चैतन्यमते स्वीकृताः पोषिताश्च केचन सिद्धान्ता इमे—

१—चैतन्यमते भक्तितत्त्वं सर्वेभ्यो गरीयस्तया स्वीकृतम् । अत्र भक्तिः नोपायभूता, परमुपेयभूता । भक्तिरेव मुक्तात्मसु सेवानन्दतया परिणमते । एतन्मते भगवतः श्रीकृष्णस्य चरणारविन्दसेवया समास्वाद्यमान आनन्दो मोक्षसुखमप्यत्येति । तत एव गौडीयेषु वैष्णवेषु भक्तिः पञ्चमपुरुषार्थतया स्वीकृतास्ति ।

अत्र मते कर्माणि चित्तशुद्धिजननतया ज्ञानभक्त्योः सहायभूतानि । ज्ञानमप्यत्र द्विविधं भवतिः केवलज्ञानरूपं विज्ञानरूपं चेति । 'तत्त्वमसी'त्यादीनि वेदान्तवाक्यानि

---

१. छन्दःकौस्तुभ भाष्ये-मङ्गलपद्यम् ।

२. तत्रैवपुष्पिकापद्यम् ।

३. गोविन्दभाष्यटीकायां मङ्गलपद्यम् ।

४. सिद्धान्तरत्ने मङ्गलपद्यम् ।

५. प्रमेयरत्नावल्यां पुष्पिका पद्यम् १, पृ० १३५ ।

केवलज्ञानं जनयन्ति। अत्र 'त्वं' पदार्थज्ञानेन प्रथमं केवलज्ञानमुत्पद्यते, तत्पदार्थचिन्तनेन च भगवत्प्रसादो लभ्यते, ततश्च भक्तः महावाक्यार्थज्ञानेन सायुज्यभक्तिमुपलभते। विज्ञानं तु भवति भक्तिरूपम्, येन भक्तः न केवलं भगवत्प्रसादं लभते, परं भगवन्तमपि वशीकरोति। तदेवं भगवद्वशीकाराग भक्तिः (विज्ञानम्) श्रेष्ठं साधनम्।

२—भक्तेर् (विज्ञानस्य) आश्रयभूतो भगवान् विज्ञानानन्दविग्रहः। सः खलु सत्य कामत्व-सत्यसंकल्पत्व–सर्वविद्यत्व-सर्वज्ञत्वाद्यनन्तकल्याणगुणसम्पन्नः। अत्र मते गुणगुणिनोर्न वास्तवो भेदोऽपितूभयोरभेद एव तिष्ठति। अभेदबुद्ध्यैव बहुधा पुराणेषु भगवान् ज्ञानबलादिस्वरूपोऽप्युच्यते।

३—चैतन्यमते भगवान् (ब्रह्म) सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदशून्योऽखण्डचिदात्मकः। अचिन्त्याभिरपरिमेयाभिः शक्तिभिः सम्पन्नोऽयं नानात्मतया भासमानोऽपि सदैवैकात्मक एव। अत स वैदूर्य मणिसन्निभः भवतैरुच्यते। इयं शक्तिः 'विशेष' नाम्ना परिभाष्यते। अत्रमते 'विशेषस्य' कल्पना माध्वसिद्धान्ताद् गृहीता। एतन्मते 'यत्र भेदभावो भेदकार्यं च प्रमिते, तत्रैव भेदप्रतिनिधिविशेषः कल्प्यते[1]।' विशेषः भेदव्यवहारस्य केवलं निर्वाहको भवति। तस्य (भेदस्य) सत्ता तु वास्तविकी एव भवति। भगवतः जीवात्प्रकृतेश्च पृथग्भावो भेदसाध्यः:, स्वगुणेभ्यः स्वविग्रहाच्च तस्य भेदो विशेषजन्य एव भवति। वस्तुतस्तु तयोरैक्यमेवास्ति[2]। अनयैवाचिन्त्य शक्त्या भगवान् मूर्तोऽपि सन् विभुर्भवति।

४—अचिन्त्यशक्तिमति भगवति यद्यपि सन्त्यनन्ताः शक्तयस्तथापि तत्र मुख्यास्तिस्रः शक्तयः सन्तिः (१) **स्वरूपशक्तिः (२) तटस्थशक्तिः, (३) मायाशक्तिश्चेति**। स्वरूपशक्तिः चिच्छक्तिरन्तरङ्गशक्तिनामभ्यामप्यभिधीयते। सदानन्दस्वरूपेयं स्वरूपशक्तिः त्रिधाऽभिव्यक्तिमाप्नोति। अभिव्यक्तिभेदेन सा **सन्धिनी ह्लादिनी संवित्** संज्ञाः लभते[3]। आसु **सन्धिनीशक्ति**बलाद् भगवान् स्वयं सत्तावान् परेभ्यश्च सत्ताप्रदो भवति।

---

१. सिद्धान्तरत्न पृ० २३।

२. विशेषनिर्भेदेऽपि तत्त्वे भेदव्यवहारो विशेषबलात्। सिद्धान्तरत्न पृ० २३।

३. **ह्लादिनी सन्धिनी संवित् त्वय्येका सर्वसंश्रये।**
ह्लादतापकरी मिश्रा त्वयि नो गुणवर्जिते॥ विष्णुपुराण ६-७-६२।

अनयैव शक्त्या सः सर्वकालं चराचरं जगद् व्याप्नोति। संवित् शक्त्या भगवान् स्वयं ज्ञानवान् परेभ्येश्च ज्ञानप्रदो भवति ह्लादिन्या शक्त्या भगवान् स्वमानन्दसम्पन्नः परेभ्य-श्चानन्दप्रदो भवति। तटस्थाशक्तिः जीवशक्तिरित्युच्यते। अनयैव शक्त्या परिच्छिन्न-स्वभावोऽणुत्वविशिष्टः जीव आविर्भवति। मायाशक्त्या प्रकृतेर्जगतश्चाविर्भावः सम्पद्यते। इमा तिस्रः शक्तयः समष्टिभावेन पराशक्तिनाम्नाऽभिधीयन्ते। तदेवं भगवान् स्वरूप-शक्त्या जगतोनिमित्तकारणं जीवशक्त्या मायाशक्या चोपादान कारणं भवति। तदेवं चैतन्यमते निमित्तोपादानकारणभूतो भगवान्, माध्वमते केवलं निमित्तकारणतया-ऽङ्गीक्रियते।

५—अत्र मते भगवान् धर्मस्य वृद्धयायधर्मस्य च नाशाय भक्तानां रुच्यनुगुणं प्राकट्यमेव लभते, नावतरति। अतएव 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'[1] इत्यादि सुसंगतं भवति। इतरषां वैष्णवानां मते तु भगवानवतरति इत्यत्र परेभ्यो भेदः।

६—चैतन्यमते जगत्प्रपञ्चमिदं न मिथ्या, परं सत्यभूतम्, यतस्तद् भगवतः सत्येन संकल्पेनाविर्भवति 'यथातथ्यतोर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः'[2] इत्यादीनि श्रुतिवचांस्यत्र प्रमाणभूतानि। अतएव विष्णुपुराणेऽपि जगदिदमक्षय्यं नित्यं चोच्यते[3]। एवं जगतः सत्यत्वे सत्येपि वैराग्यजननाय बहुधा तदनित्यमप्युक्तम्। प्रलयेऽपि जगतः तथैव तिरोभावमात्रं भवति, यथा निशि पक्षिगः सन्तोऽपि निलीयन्ते। तदेवमेतन्मते जगदिदं सृष्टिकाले भगवति व्यक्तभावेन प्रलयकाले चाव्यक्तभावेन सदेव भवति[4]।

चैतन्यप्रवर्त्तितो विद्याभूषणेन पुष्टिमानीतोऽयं दर्शनसम्प्रदायः 'अचिन्त्यभेदाभेद-वाद' इति नाम्ना विदितोऽस्ति। चैतन्य सिद्धान्तानां (बलदेवविद्याभूषणस्य सिद्धान्तानां) संक्षिप्तः परिचयः श्रीविश्वनाथचक्रवर्त्तिनः पद्येऽस्मिन् लब्धुं शक्यते—

---

१. श्रीमद्भागवत् १-३-२८।

२. ईशावास्योपनिषद् ८।

३. तदेतदक्षयं नित्यं जगन्मुनिवराखिलम्।
आविर्भावतिरोभावजन्मनाशविकल्पवत्॥ विष्णुपुराण १-२२-६

४. प्रमेयरत्नावली ३-२।

'आराध्यो भगवान् व्रजेशतनयस्तद्धाम वृन्दावनम्,
रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता।
शास्त्रं भागवतं प्रमाणममलं प्रेमा पुमार्थो महान्,
श्री चैतन्यमहाप्रभोर्मतमिदं तत्रादरो नः परः॥

अत्र साहित्यकौमुद्यादाहरणपद्येषु एत एव दर्शनसिद्धान्ताः आत्मभावेन प्रतिष्ठिताः सन्ति।

अत्र साहित्य कौमुद्याः सम्पादनप्रसङ्गे पंडित शिवदत्तकाशिनाथाभ्यां मातृकाद्वयमधिकृत्य सम्पादितं मुम्बईस्थ निर्णयसागर यन्त्रालयात् सन् १८९७ ख्रिस्ताब्दे प्रकाशितं पुस्तकं मूलाधारतया स्वीकृतम्, पाठटिप्पण्यां क. संज्ञया च निर्दिष्टम्।

ख. संज्ञया निर्दिष्टपुस्तकं भाण्डारकर प्राच्यविद्यासंस्थानस्य पाण्डुलिपि संग्रहालये संग्रहीतं तत आनीय प्रयुक्तम्।

फाल्गुन पूर्णिमा
सं० २०३७ वि०

ब्रह्ममित्र अवस्थी



साहित्य-कौमुदी

कृष्णनन्दिनी-व्याख्या सहिता

कारुण्याद् गजपतिराशु यस्य भेजे
निर्धूताखिलवृजिनः परं प्रमोदम् ।
चैतन्याकृतिमजितं जितं स्वभक्तै-
स्तं वन्दे मधुरिमसागरं मुरारिम् ॥

साहित्यकौमुदी—कृष्णनन्दिनी-व्याख्या ।

प्रणम्य कृष्णं सर्वेशं श्रीवत्साद्युक्तिसंश्रयात् ।
व्याख्यायतेऽतिसंक्षेपात्सेयं साहित्यकौमुदी ॥

सद्भिः पद्यैः कारिका भारतीयां शुद्धिं निन्ये तुच्छपद्यैरनच्छा ।
साहित्याम्भोजन्मसच्चञ्चरीकः सोऽयं विद्याभूषणोऽस्मान्पुनीताम् ॥

काव्यरसास्वादनाय वह्निपुराणादिदृष्टां साहित्यप्रक्रियां भरतः संक्षिप्ताभिः कारिकाभिर्निबबन्ध कारिकास्ता व्याचिख्यासुः वृत्तिकृन्मङ्गलमाचरति—कारुण्यादिति । यस्य कारुण्याद्गजपतिर्निर्धूताखिलवृजिनः सन्नाशु परं प्रमोदं भेजे तमित्यनुषङ्गः । अत्र मुरारिश्चैतन्यश्चेति द्वौ वन्द्यौ प्रतिपाद्येते । तत्राद्यो ग्रन्थकुर्तुः परमेष्ठगुरुः श्रीमद्रसिकानन्दापराख्यः । तत्पद्मे गजपतिर्गोपालदासनामा करिराजः । वृजिनं पशुस्वभावः । प्रमोदं सत्सेवाजनितमानन्दम् । चैतन्याख्याकृतिर्यस्य तम् । चैतन्यदेवसेवनसमर्पितशरीरमित्यर्थः । अजितं बौद्धम्लेच्छादिभिः । जितं वशीकृतम् । स्वीयैर्भक्तैः । मधुरिमा निजो भागवतो वा । अथ द्वितीये पक्षे । चैतन्याख्याकृतिर्यस्य तम् । महाप्रभुमित्यर्थः । मुरारिं तत्प्रकाशरूपं भक्तिप्रदानेन संसृतिरूपकुत्सानिवर्तकमिति च । गजपतिः प्रतापरुद्र उत्कलाधिपतिः । वृजिनं राजसत्त्वम् । प्रमोदं प्रेमाणम् । अजितं विषयैः । अत्र प्रथमोऽर्थो वाच्यः । प्रकरणवैशिष्ट्याद् द्वितीयस्तु व्यङ्ग्य एव । गुरुविषया रतिश्च । अभिधामूलाध्वनिरयम् । भगवत्पक्षेऽपि पद्यमिदं योजयितुं शक्यम् ॥

सूत्राणां भरतमुनीशवर्णितानां
वृत्तीनां मितवपुषां कृतौ ममास्याम् ।
लक्ष्याणां हरिगुणशालिनां च सत्त्वा-
त्कुर्वन्तु प्रगुणधियो बतावधानम् ॥

निष्प्रत्यूहप्रारिप्सितपरिसमाप्तिकामो मुनिः समुचितां गीर्देवीं प्राक्प्रणमति—

नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम् ।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारतीकवेर्जयति ॥१॥

अत्र विधिकृतविलक्षणविश्वविधानाज्जयतीति नतिमाक्षिप्य तां प्रति प्रणतोऽस्मीति व्यज्यते[1] ।

स्वप्रवृतेः साफल्यमाह सूत्राणामिति । क्वचिद्भरतसूत्राणि सन्ति । न च संक्षिप्ता वृत्तयो नापि भगवद्विषयाण्युदाहरणानि । क्वचिद् भरतसूत्राण्येव न सन्ति । क्वचित्तु तानि त्रीण्यपि न । अस्यां मम कृतो साहित्यकौमुद्यां तु त्रीण्यपि तानि सन्तीति सुधियां प्रवृत्तिर्भवेदेवेत्यर्थः । अत्रत्यानि पद्यानि श्रीशुकस्य श्रीरूप-कर्णपूर-कृष्णकवि प्रभृतेश्च वचांसि प्रायः संगृहीतानि । समाहर्तुं स्तु क्वचिदेव कतिचिदेवेति बोध्यम् ।।

मुनिकृतां मङ्गलकारिकामवतारयति—निष्प्रत्यूहेति । निर्विघ्ना या प्रारब्धुमिष्टस्यास्य शास्त्रस्य पूर्तिस्तत्कामो मुनिर्भरतः । गीर्देव्याः समुचितत्वं वाङ्मयग्रन्थाधिष्ठातृत्वात् । नियतीति । भारती सरस्वती, जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तते । सर्वोत्कर्षाश्रयत्वात्तदितरसर्वनतिराक्षेपाल्लभ्यते । सर्वान्तःपातात्स्वस्यापि सा व्यज्यते । किं कुर्वती जयति । कवेर्निर्मितिमादधती । कीदृशीम् । नियतिरदृष्टं तत्कृतेन नियमेन वर्जिताम् । शब्दार्थौ हि काव्यम् । तत्रार्थो नित्यानित्यसाधारणस्तत्रादृष्टाधीनता कथमिति भावः । ह्लादैकमयीमानन्दमात्रस्वरूपाम् । अनन्यपरतन्त्राम् भारत्या । अन्यस्य परस्यासाधारणस्य तन्त्रामधीनाम् । पश्चान्नञ्समासः । ननु नित्यानित्यरूपायां काव्यस्वरूपनिर्मितावपरतन्त्रामिति युक्तं वक्तुमिति चेन्न, परशब्दात् । असाधारणामन्याप्रकाश्यामनन्यपरतन्त्रामित्यर्थस्य विवक्षितत्वात् । नवरसा चासौ रुचिरा चेति विशेषणयोः कर्मधारयः । विधिनिर्गतः खलु जीवादृष्टानुसारिणी त्रिगुणमयत्वात् सुखःदुखमोहस्वभावा प्रकृतिमहदहंकारादिकारणकलाधीना, षड्रसा, न च हृद्या दृष्टा, तद्विलक्षणा तु कविनिर्मितिरिति । व्यतिरेकालंकारो व्यङ्ग्यः,भारतीविषयको भावश्च । न च मङ्गलमप्रमाणमफलं चेति वाच्यम् । शिष्टाचारानुमितश्रुतिप्रामाण्याद् ग्रन्थसमाप्तेः फलत्वात् । ननु क्वचित् सत्यपि मङ्गलेऽसमाप्तेरसति मंगले च समाप्तेर्वीक्षणाद्व्यभिचारः । मैवम्, अनुरूपमङ्गलाकरणात्

---

१. व्यज्येत् ख ।

प्रेक्षावत्प्रवृत्तये शास्त्राभिधेयफलं तावदाह—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्यः परनिर्वृत्तये कान्तासंमिततयोपदेशयुजे ।।२।।

कीर्तिर्धनप्राप्तिर्देवमनुष्यादिव्यवहारावगतिर्देवतावन्दनकृतः क्लेशनाशः सपद्येत्र रसानुभवसमुद्भूतः परमानन्दः सरसतया धर्मादिरूपहितोपदेशश्च काव्यादेव भवतीति सर्वथा तत्र प्रयतनीयम् । वेदः खलु शब्दप्राधान्यात्प्रभुसंमितः । पुराणादिश्चार्थप्राधान्यात्सुहृत्संमितः शास्ति । काव्यं तु शब्दार्थयोर्गुणतया रसाङ्गभूतव्यापारप्रावण्यात्तद्विलक्षणमतः कान्तासंमितं तदिति ।

तस्य हेतुमाह—

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् ।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ।।३।।

शक्त्यादित्रयं[1] काव्यकारणमित्यर्थः । तत्र शक्तिः प्राक्तनसंस्कारविशेषः काव्योत्पादास्वादैकहेतुः। यां विना काव्यं नोदयति, उदितं वोपहासाय । लोकः स्थावरजंगमात्मकं लोकवृत्तम् । शास्त्रं छन्दोव्याकरणादि ।

बहिस्तत्करणाच्च । प्रेक्षावन्तः सुधियः, शास्त्रं काव्यनिरूपकं कारिकाप्रचयः । तदभिधेयं च काव्यम् । काव्यफलमेव तन्निरूपकस्यास्य फलमित्यर्थः ।।१।। काव्यं यशस इति । काव्यमतिचमत्कारि कविवचनसंदर्भः । कृत्-वित्-युज्-शब्दाभावे क्विबन्ताः । तादर्थ्ये चतुर्थ्यः । कान्तासंमितेति । संमितं तुल्यम् । शब्दः खलु प्रभुसुहृत्कान्तसंमितत्वात्त्रिधा । तत्राद्यो वेदः शासनप्रधानो विधिलक्षणः । स हि त्वमेवं कुर्विति प्रभुरिवाज्ञापयति । ततश्च तन्नियुक्तो निष्फले संध्यावन्दनादौ प्रवर्तते । द्वितीयस्त्वर्थतात्पर्यवान् सिद्धार्थरूपः पुराणेतिहासादिः । स हि सुहृदिवैवं कृत इदमिष्टं भवत्येवं कृते त्विदमनिष्टमित्येतावन्मात्रं बोधयति, न त्वाज्ञापयति । तृतीयः पुनस्ताभ्यां विलक्षणो रसप्रधानः काव्यरूपः । तत्र हि रसाङ्गभूतेन व्यापारेण विभावनादिसयोजनात्मना । व्यञ्जनव्यापारेण वा निष्पाद्यस्य रसादेर्निष्पादकतया शब्दार्थयोरुभयोरपि गौण्याद्रसस्यैव प्राधान्यम् । स च कान्तेवोपदिशति । अयं भावः—सुकुमारमतयोऽतिसुखिनो हि राजकुमारादयः शासनाप्रधानवेदादौ प्रवर्तयितुमशक्याः। काव्यं तु तान्कान्तेव सरसतापादनेनाभिमुखीकृत्य हितोपदेशं ग्राहयति । गुडजिह्विकया शिशूनिवौषधय इति । ततश्चैवमिष्टसाधकत्वात्काव्यस्य हेतुरुपादेयः ।।२।।

शक्तिरिति । देवताप्रसादादिजातः कवित्वबीजसंस्कारविशेषः शक्तिः । सैव प्रतिभा । लोकशब्देन लोकवृत्तं योगादुपचाराद्वा । धर्मिमात्रपरामर्शस्य व्युत्पत्त्यनाधायकत्वात् ।

---

१. शक्त्यादित्रय *ख* ।

काव्यं महाकविकृतम्। आदिशब्दादितिहासादि च। तेषां परामर्शाद्व्युत्पत्तिः। काव्यज्ञाः काव्यनिर्माणविचारणचतुरास्तदुपदेशेन निर्माणे योजने च पुनः पुनः प्रवृत्तिरिति त्रिकं समुदितमेव हेतुरित्येके। डिम्भेनापि काव्योत्पादनाच्छक्तिरेव केवलेत्यपरे।

तस्य स्वरूपमाह—

तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।

दोषशून्यं[1] सगुणं सालंकारं शब्दार्थयुगलं तावत्काव्यम्। अदोषाविति। यावद्दोषराहित्यं स्फुटदोषराहित्यं रसापकर्षसदोषराहित्यं वा नञर्थः। अनलंकृती क्वापीति स्फुटालंकारविरहेऽपि न काव्यत्वहानिः॥

यथा—

प्रियः सोऽयं कृष्णः[2] सहचरि कुरुक्षेत्रमिलित-
स्तथाहं सा राधा तदिदमुभयोः संगमसुखम्।

निर्माणं रचनम्। रसानुगुणतया प्रबन्धादौ घटनं विचारणम् तदेव योजनम्। इति शब्दो मिलितोपस्थापनाय। अन्यथा तद्द्वैयर्थ्यात्। तथा च काव्यस्योद्भव उत्कृष्टोत्पत्तिः। डिम्भेनापीति। अत एवैकहेतुरित्येकशब्दः। अन्यद्द्वयं तु प्रकर्षायैवेति भावः। शक्तिः खलु अनन्यथासिद्धनियतपूर्ववर्तिकारणम्, परयोस्तु न तथात्वमिति भावः। न च डिम्भेऽपि पूर्वजन्मार्जितयोर्निपुणताभ्यासयोः प्राचीनयोस्तयोः सत्त्वान्न व्यभिचार। अतएव—'जन्म जन्म यदभ्यस्तम्' इत्याद्युक्तिरिति वाच्यम्। परस्पराश्रयापत्तेः। तथा हि—सिद्धे कारणत्वे तयोः कल्पनम्, तस्मिंश्च सति कारणत्वमिति। तस्मान्मतद्वयमिदं परीक्षणीयं सुधीभिः॥३॥

'अदोषं गुणवत्काव्यमलंकारैरलंकृतम्।
रसान्वितं कविः कुर्वन्कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति॥

इति वह्निपुराणमनुसृत्याह—तददोषाविति। सगुणमिति'। गुणस्य रसनिष्ठत्वेऽपि तद्व्यञ्जकपरं गुणपदम्। यावदिति। अत्र काव्यपदं विरलविषयनिष्ठम्। स्फुटदोषेति। यदुक्तम्:—

कीटानुविद्धरत्नादिसाधारण्येन काव्यता।
दुष्टेष्वपि मता यत्र रसाद्यनुगमः स्फुटः"॥ इति,

नन्वेतत्कुरङ्गनयनेत्यादौ पर्याप्तम्। निर्दोषसगुणालंकारशब्दार्थरूपत्वादिति चेन्न। तादृशवचनसंदर्भरूपतायास्तत्र विवक्षितत्वात्। अनलंकृती क्वापीति। नञोऽत्राल्पार्थत्वादलंपत्वस्य चास्फुटत्वे विश्रामात् स्फुटालंकारविरहेऽपीति व्याख्यातम्॥

---

१. सून्यं ख।
२. कृष्णं ख।

तथाप्यन्तः खेलन्मधुरमुरलीपञ्चमजुषे
मनो मे कालिन्दीपुलिनविपिनाय स्पृहयति ॥'

अत्र न कश्चिदलंकारः स्फुटः, रसस्तु प्राधान्यादलंकार्य इति वक्ष्यते। न चात्र विभावना विशेषोक्तिर्वा स्फुटा, निषेधमुखेनानुपादानात्।

तद्भेदानाह—

इदमुत्तममतिशायिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद्ध्वनिर्बुधैः कथितः ॥४॥

इदं काव्यं वाच्याद् व्यङ्ग्येऽतिचमत्कारिणि सत्युत्तमम्। तदेतदुत्तमं काव्यं ध्वन्यतेऽस्मिन्निति व्युत्पत्त्या बुधैर्ध्वनिरित्यभिधीयते।

यथा—

'मुक्तावली निशि मया दयिताकदम्ब-
वाटीकुटीरकुहरे सखि विस्मृतास्ति।
तामाहरेति वृषभानुजया नियुक्ता
तां प्रोज्झ्य किं शशिकले गृहमागतासि[१] ॥'

अत्र कृष्णाङ्गसङ्गानुभवायैव तया त्वं प्रतार्य प्रेषिता, न पुनर्मौक्तिकहाराहरणाय[२]। यन्नखाङ्कशशिकलाञ्चितवक्षोजशंभुः समागतासीति व्यङ्ग्यस्य वाच्यादतिचारुत्वादुत्तममिदं काव्यम्।

अताद‍ृशि गुणीभूतव्यङ्ग्यं व्यङ्ग्ये तु मध्यमम्।

प्रिय इति। कुरुक्षेत्रे कृष्णेन संगता राधा विशाखामाह—तथा चार्थे पूर्वार्धान्ते यद्यप्येवमिति वाच्यं परत्र तथापीत्युक्तेः। वक्ष्यत इति। रसाभावतदाभासेत्यादौ। न चात्रेति। अत्र प्रियादीनामनुपभुक्तत्वस्य प्रसिद्धकारणस्याभावेऽपि तत्कार्यस्य स्पृहारूपस्योत्पत्तिर्विभावना तेषामत्यन्तोपादेयत्वस्याप्रसिद्धकारणस्य विभावनात्। अस्फुटत्वं चानुपभुक्तत्वाभावत्वेनानुक्तेः। एवमुपभुक्तत्वरूपकारणसत्त्वेऽप्यस्पृहारूपस्य कार्यस्याभावोक्तेर्विशेषोक्तिरप्यस्पृहाभावत्वेनानुक्तेरस्फुटैव। तदेतदुक्तम्—निषेधमुखेनानुपादनादिति। निषेधवाचकैर्नञादिशब्दैरप्रतिपादनादित्यर्थः। एवं सति तयोः सन्देहरूपसंकरोऽपि निरस्तो वेदितव्यः ॥४॥

तद्भेदानिति। बुधैर्ध्वनिपण्डितैः। मुक्तावलीति। ललितादीनां यन्नखाङ्केति। त्वमद्यान्वर्थसंज्ञासीति भावः। अताद‍ृशीति। वाच्यादचारुणीति। तस्मादचारुत्वं तस्य समत्वे न्यूनत्वे वा ज्ञेयम्।

---

१. गृहमागतास्ति इति क।
२. मौक्तिकहरणाय इति क।

वाच्यादचारुणि व्यङ्ग्ये तदिदं मध्यमं काव्यं गुणीभूतव्यङ्ग्यमित्यभिधीयते ।

यथा—

'कर्णकल्पितरसालमञ्जरीपिञ्जरीकृतकपोलमण्डलः ।
निष्पतन्नयनवारिधारया राधया मधुरिपुर्निरीक्ष्यते ॥'

अत्र रसालवाटीकृतसकेता तत्राहं न गतेति व्यङ्ग्यं गुणीभूतं तदपेक्षया वाच्यस्यैव चारुत्वात् ॥

शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यम् त्ववरं स्मृतम् ॥५॥

स्फुटव्यङ्ग्यरहितं तदिदमवरं काव्यं चित्रमित्यभिधीयते । तच्च शब्दचित्रमर्थचित्रमिति द्विविधम् ।

क्रमेणोदाहरणम्—

'ऊर्जत्स्फूर्जद्गर्जनैर्वारिवाहाः प्रोद्य[1]द्विद्युद्दामविद्योतिताशाः ।
अद्रावद्रौ विद्रुता द्राघयन्ते दन्तिभ्रान्त्या सिंहसंघप्रकोपान् ॥'

'कदम्बमाला कलिता कं सहर्षं न कुर्वती ।
कृष्णमूर्तिरिवाभाति कालिन्दीकाननस्थली ॥'

अनयोरनुप्रासनिबन्धः शब्दसाम्योपमा च क्रमात्स्वादाय कल्पते, न तु किंचिद् व्यङ्ग्यं प्रसरति ततः कनिष्ठमेतत् ।

इति भरतसूत्रवृत्तौ साहित्यकौमुद्यां काव्यप्रयोजनहेतुस्वरूपविशेषनिर्णयो नाम
प्रथमः परिच्छेदः ।

कर्णेति । नान्दीमुखी वृन्दाह—पिञ्जरीकृतं पीतीकृतम् ॥ शब्दचित्रमिति । चित्रं गुणालंकारयोगि । इदं वृत्तावध्याहृतं बोध्यम् । ऊर्जदित्यादिद्वयं मधुमङ्गलवाक्यम् । द्राघयन्ते दीर्घान्कुर्वन्ति कंसस्य हर्षं न कुर्वती मूर्तिः । कं जनं सहर्षं न कुर्वती, अपि तु सर्वं सहर्षं कुर्वती सती । पूर्वत्र भ्रान्तिमतः सत्त्वेऽपि न तस्योत्कटत्वम्, किंत्वनुप्रासस्यैव । ततः शब्दचित्रत्वव्यपदेशः । परत्रानुप्रासे सत्युपमायास्ततोऽर्थचित्रत्वव्यपदेशः । भूम्ना व्यपदेशा भवन्तीति हि न्यायः । ५॥

**इति कृष्णनन्दिन्यां साहित्यकौमुदीटीकायां
प्रथमः परिच्छेदः ।**

---

१. प्रोद्यत् क ।

द्वितीयः परिच्छेदः

शब्दार्थौ काव्यमित्युक्तं तयोः क्रमेण स्वरूपमाह—

स्याद्वाचको लाक्षणिकः शब्दोऽत्र व्यञ्जकस्त्रिधा ।

अत्र काव्ये शब्दस्त्रिधा । उपाधित्रैविध्यादेव । स्वरूपमेषां वक्ष्यते—

वाच्यादयस्तदर्थाः स्युः

तेषां वाचकादीनामर्थाः क्रमाद्वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्याः स्युः ।

तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित् ॥१॥

षष्ठ्यर्थे सप्तमी । केषांचिन्मते वाक्यार्थस्तात्पर्याख्यवृत्तिगम्यः एकैकपदार्थबोधनेनाभिधाया विरतत्वाद्वाक्यार्थस्वरूपस्य पदार्थानामन्वयस्य बोधनाय तात्पर्यनाम्नी वृत्तिः[1] । तदर्थस्तात्पर्यार्थः । तद्बोधकं तु वाक्यमित्यभिहितान्वयवादिनः ।

अर्थस्यापि व्यञ्जकतामाह—

स्वरूपलक्षणादिना विवेचनीयेषु काव्यलक्षणपदार्थेषु प्राधान्याच्छब्दार्थयोः स्वरूपं पूर्वं निरूपयिष्यञ् छब्दं तावद्विभजति—स्यादिति । शास्त्रे व्यञ्जकस्यादर्शनादत्रेति । एकैकेति । वृत्तिं विनार्थबोधनेऽतिप्रसङ्गादन्वये तात्पर्याख्या वृत्तिः । अन्वयस्तात्पर्यार्थः । अभिहितानामभिधयोपस्थापितानां पदार्थानां तात्पर्यवृत्यान्वय इति वादिनो भाट्टाः[1] । परे तु—नैतां स्वीकुर्वन्ति पदार्थशक्तत्वेन ज्ञातं पदमेवं स्वार्थस्मृतिद्वाराकाङ्क्षायोग्यतासंनिधिसाचिव्यात् समभिव्याहृतपदार्थेन सह स्वार्थान्वयं बोधयति, तथैव कार्यकारणभावकल्पनात्किमनया तात्पर्यवृत्त्येत्याहुः । शब्दवदर्थोऽपि व्यञ्जकः ॥१॥

---

१. गौणलक्षणावृत्त्योरपि शब्दवाच्यत्वाभावेऽर्थस्य शब्दार्थान्तरानन्वयापत्तेः । शब्दस्य वाचकत्वावगतेर्विपक्षाभावाद् विरुद्धत्वायोगमाशंक्याशब्दस्वरूपनिमित्तबोधकत्वाभावेऽपि तात्पर्याख्यशब्दव्यापारस्य सर्वत्रभावात् शाब्दत्वेनार्थान्तरान्वयोपपतेः । न्यायसुधा ३.१४.१९ पृ० १४४५

सर्वेषां प्रायशोऽर्थानां व्यञ्जकत्त्वमपीष्यते ।

प्रायशो वक्त्रादिवैशिष्ट्ये सतीत्यर्थः ।

तत्र वाच्यस्य यथा—

'मधुरिता मधुना विधुनाप्यसौ सखि पतङ्गसुतापुलिनाटवी ।
सवयसा वयसा च विभूषिता ननुरियं किमिह क्षममुच्यताम् ॥'

अत्र तथाभूता पुलिनाटवी तरुणतमालेनेव, मत्तनुश्च महेन्द्रमणिनेव येन राजिष्यते, तं कृष्णं त्वरितमाहर यदि चातुर्यं बिभर्षीति वाच्योऽर्थो व्यञ्जयति ।

लक्ष्यस्य यथा—

'साधयन्त्यनुलवं प्रियं हरिं मत्कृते श्रममवाप यत्सखी ।
तच्चकार चरितं हितैषिणी वन्धुराङ्गि करणीयमुच्चकैः ॥'

अत्र स्वसुखतात्पर्यान्मत्कान्तं रमयन्ती[1] त्वं शत्रुत्वं कृतवतीति लक्ष्योऽर्थः कान्ते सापराधत्वप्रकाशनं व्यञ्जयति ।

स च सर्वोऽपीत्याह—सर्वेषामिति । मयाद्य तव बुद्धिः परीक्षणीयेति कृष्णाङ्गसङ्गाभिलाषिणी राधा विशाखामाह—मधुरितेति । मधुना वसन्तेन । सवयसा सख्या । वयसा यौवनेन । अत्र वाच्यार्थेनैव वक्तुर्वैशिष्ट्यम् । वाक्यार्थोत्तरं प्रतीयमाने कृष्णसङ्गाभिलाषे न शब्दस्य व्यापारो किंत्वर्थस्यैवेति बोध्यम् ।

साधयन्तीति । स्वसखीं भद्राह । बोध्यसख्याः वैशिष्ट्यम् । ज्ञातापकारिणीं प्रतीदृशवचसो बाधान्मुख्यार्थः श्रोत्रा प्रत्येतुं न शक्य इति स्वनिमित्तप्रियसाधनाहितैषणादिरूपं शत्रुत्वाचरणं कृतमिति विपरीतं[2] लक्ष्यते । लक्षणामूलो ध्वनिरयम् ॥

---

१. रमयती ख । २. मुख्यविपरीतं ख ।

व्यङ्ग्यस्य यथा—

'नाक्षिणी क्षिप कुरङ्गि सर्वतः साक्षिणी भव सखीभिरन्विता ।
माधवः किल दुनोति मामसौ साधवः शृणुत भोः शिखण्डिनः ॥'

अत्र निर्जनोऽयं देश इति व्यङ्ग्योऽर्थः । स्वच्छन्दमिह मया सह विहरेति व्यञ्जयति ।

वाचकादीनां क्रमात्स्वरूपमाह—

साक्षात्संकेतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः ॥२॥

यस्य शब्दस्य यत्राव्यवधानेन संकेतो गृह्यते । स तस्यार्थस्य वाचकः संकेतश्चास्माच्छब्दादयमर्थो बोध्य इतीश्वरेच्छा । तद्ग्रहस्तु वृद्धव्यवहारादितः । तथाहि । प्रयोजकवृद्धेन 'गामानय' इत्युक्ते प्रयोज्यवृद्धे सास्नादिमन्तमर्थं[1] स्थानात्स्थानान्तरं नयति सति पार्श्वस्थः शिशुः 'अनेनास्माच्छब्दादेवं विधोऽर्थो ज्ञातः' इति प्रथमं प्रतिपद्यते । ततश्च 'गां नयाश्वमानय' इति तेनोक्ते तस्मिंस्तथा तथा प्रवृत्ते 'तस्य तस्य शब्दस्य तत्र तत्रास्ति कश्चन संबन्धः' इति निश्चिनोति । आदि शब्दाद् व्याकरणकोशाप्तवाक्यादेः ।

नाक्षिणीति । कृष्णान्तिके स्वयं दौत्यं कुर्वती राधाह—अत्र कुरङ्ग्यादीनां तत्तत्संभवान्न लक्षणाप्रसङ्गः । साक्षादिति । अभिधत्ते प्रतिपादयति । तेन न विशेषणान्तरवैयर्थ्यम् । संकेतितं गृहीतसंकेतम्, इदम् साक्षादर्थप्रतिपादिकायां चेष्टायां, माधुर्यादिव्यञ्जकस्पर्शादिवर्णेषु चातिव्याप्तेर्वारणाय । न च साक्षादित्यधिकम्[2] । 'यन्नामा यत्र चैत्यादिर्विषयोऽपि स तादृशः' इति व्यवहितसंकेतवति चैत्यादिपदेऽतिव्याप्तेर्वारणीयत्वात् । तत्र शक्यसंकेत-व्यवहिसंकेतसत्त्वात् । यथा 'वटो ग्रामः' 'पुरुषोत्तमो देशः' इति वृक्षादिसंकेतेन ग्रामादिसंकेतस्य व्यवधानात् न साक्षात्संकेतः । न च तत्रापि शक्तिः । लक्षणयैवोपपत्तेः । ननु 'साक्षात्संकेतवान्वाचक' इत्येव युक्तम्, तेनाभिधत्त इति व्यर्थम् । मैवम् । संयोगाद्यैरभिधायां नियन्त्रितायां वाच्यार्थव्यञ्जकदशायामतिव्याप्तेर्वार्यत्वात् । न च तथापि तत्रातिव्याप्तिः । यस्य शब्दस्य यत्राव्यवहितसंकेतग्रहो यदा यदर्थग्रहे उपयुज्यते स तदा तदर्थवाचक इति लक्षणार्थत्वात् । अव्यवधानेन न तु विरम्य व्यापारान्तरेण ॥२॥

---

१. सास्नादिमंतमर्थः ख । २. °दित्यधिकः ख ।

सः चार्थः क इत्याह—

'संकेतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा ।

जातिगुणक्रियासंज्ञारूपश्चतुर्विधोऽर्थः संकेतितः । तत्र जातिर्गुणश्च सिद्धरूपो वस्तुधर्मः । पदार्थव्यवहारयोग्यता निर्वाहिका गोपिण्डादिषु गोत्वादिका जातिः, विशेषाधानहेतुर्गुणः । शुक्लादयो हि गवादीन्सजातीयेभ्यो नीलगवादिभ्यो[1] व्यावर्तयन्ति ।

क्रिया पूर्वापरीभूतावयवा पाकादिः, साध्यरूपो वस्तुधर्मः । संज्ञा तु डित्थादिद्रव्येषु वक्त्रा यदृच्छया संनिवेशितं डित्थादिशब्दस्वरूपमेव । एकव्यक्तिवाचकः सेत्यन्ये । एष्वेव व्यक्त्युपाधिषु 'गौः शुक्लः पाचको डित्थः' इत्यादेः चतुर्विधस्य शब्दस्य क्रमात् संकेतः । न चोपाधिष्वर्थक्रियाकारितानुपपत्तिः । तैर्व्यक्त्याक्षेपात् । न चैवं[2] व्यक्तिष्वेव संकेतोऽस्त्विति वाच्यम्, आनन्त्यव्यभिचारदोषापत्तेः ।

संकेतितश्चेति । न चाधुनिकसंकेतेष्वव्याप्ति । तत्रापि वेदकृतत्वेन तदिच्छात्वानपायात् । तथा हीति । तेन प्रयोजकवृद्धेन । तस्मिन्प्रयोज्यवृद्धे । तथा तथा गोर्नयनेऽश्वस्यानयने चेत्यर्थः । संबन्धः संकेतात्मा । ननु संकेतग्रहस्य शब्द एव सहकारितायां किं मानमिति चेत्, अगृहीतसंकेतस्य पुंसः शब्दार्थप्रत्ययं गृहाण । आदिशब्दादिति । यदुक्तम्—

'शक्तिग्रहं[3] व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद्व्यवहारतश्च ।
वाक्यस्य शेषाद्विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः ॥ इति ॥

स चार्थ इति । विशेषः सजातीयेभ्यो व्यावर्तनम् । 'शिष् असर्वोपयोगे' इति धात्वनुसारात् । आधानं प्रत्ययः । सजातीयव्यावृत्तिधीहेतुरित्यर्थः । क्रियेत्यादि । यदुक्तम्—

यावत्सिद्धमसिद्धं वा साध्यत्वेन विवक्ष्यते ।
आश्रितक्रमरूपत्वात्सा क्रियेत्यभिधीयते ॥' इति

यदृच्छया स्वेच्छया संनिवेशितं प्रयुक्तम् शब्दरूपं स्फोटरूपमित्यर्थः । एकेति । एकस्याः व्यक्तेर्वाचकं पदं संज्ञेत्यर्थः । संज्ञाशब्दः खलु स्वरूपमेवाभिधत्ते । एवं हि मन्यन्ते—

'ग्राह्यत्वं ग्राहकत्वं च द्वे शक्ती तेजसो यथा ।
तथैव सर्वशब्दानामेते पृथगवस्थिते ॥' इति ॥

एष्विति । जात्यादिषु चतुर्ष्वित्यर्थः । न चेति । अर्थः प्रयोजनं जलाहरणादिक्रियानिर्वाहः ।

---

१. 'नीलगवादिभ्यो' इति क पुस्तके नास्ति ।
२. चैव ख ।
३. शक्तिग्रहो क ।

गुणादीनामप्येकव्यक्तित्वान्न किंचिदवद्यम् । तेषां भेदावभासस्त्वाश्रयभेदादेव, न तु स्वतः । मणिदर्पणादिभेदान्मुखभेदवत् । अथवा सर्वत्र जातिरेव संकेतगोचरः । चन्द्रचन्दनशंखादिषु 'अयं शुक्लोऽयं शुक्लः' इत्यादि प्रतीत्यविशेषाच्छुक्लत्वादि, गुडतण्डुलतैलपाकादिषु 'अयं पाकोऽयं पाकः'[1] इति पाकादित्वम्, बालवृद्धशुकाद्युक्तेषु डित्थादिषु 'डित्थोऽयम्' इति । डित्थादित्वमिति सर्वत्र तदवगाहात् । चतुर्विधानां गवादिशब्दानां जात्यादिचतुष्कं क्रमात्प्रवृत्तिनिमित्तम्, जातिरेव वा सर्वेषां तेषामिति ह्यर्थः ।

तैरिति । जात्याद्यैरुपाधिभिः । न चैवमिति । सर्वासु व्यक्तिषु संकेतग्रहो, व्यवहाराङ्गम्, उत यस्यां कस्यांचिदिति ? नाद्यः, आनन्त्यात् । सर्वासां तासामनुपस्थितेः । सामान्यलक्षणानङ्गीकारात् । नापरः, व्यभिचारात् । असंकेतितगोपिण्डस्येव घटादेरपि गोपदात् प्रतीतिः स्यात्, अगृहीतसंकेततायाः साम्यात् ।

ननु गवादिगतानां शुक्लादिगुणानां गुडादिगतानां पाकादिक्रियाणां बालादिगतानां डित्थादिसंज्ञानां च प्रत्यक्षतो भेदसिद्धौ व्यक्तिसंकेतपक्षोक्तोदोषस्तुल्यः इति चेत्तत्राह—

गुणादीनामिति । आदिना क्रियासंज्ञे । तेषामिति । प्रत्यभिज्ञया धर्मिभेदग्रहस्य बाधादाश्रयभेदहेतुका तद्भेदधीरित्यर्थः ।। जातिरेवेति पक्षं व्याचष्टे—अथवेति । चन्द्रचन्दनादौ शुक्लादिर्गुणः परमार्थतो भिन्न एवाबाधित तारतम्यप्रतीतेः, गुडपाके रूपपरावृत्तिः तण्डुलपाके चैकध्वंसादपरोत्पत्तिरिति नैकरूप्यम् । बालवृद्धेति । स्वरवैजात्येन भेददर्शनादनुगतप्रत्ययानुरोधेन तत्रापि डित्थत्वादिजातिः । सर्वत्रेति । सर्वेषु पदार्थेषु जातिमेव निमित्तं कृत्वा शब्दानां प्रवृत्तेरित्यर्थः । वादिद्वयमतं निष्कृष्याह—चतुर्विधानामिति । पूर्वं वैयाकरणानाम्, परं तु मीमांसकानामिति बोध्यम् । नैयायिकास्तु—व्यक्तौ न संकेतः आनन्त्याद् व्यभिचाराच्च । नापि जातौ व्यक्त्यप्रतीतिप्रसङ्गात् । तस्माज्जात्यादिविशिष्टे सः । न चात्र तौ दोषौ । सामान्यलक्षणया सर्वव्यक्त्युपस्थितौ सर्वत्र संकेतग्रहसौकर्यात्—इत्याहुः । क्षणभङ्गवादिनस्तु तदितरव्यावृत्तिमेव शब्दार्थमाहुः । गोत्वमगोभिन्नत्वमित्येवं रूपम् ॥

---

१. 'अयं पाकः' इति ख पुस्तके नास्ति ।

वाचकस्योपाधिमाह—

स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते ॥३॥

स साक्षात्संकेतितो जात्यादिर्मुख्योऽर्थस्तत्रास्य शब्दस्य मुख्यो व्यापारो वृत्तिरभिधोच्यते। इदमत्र बोध्यम्—वाचकः शब्दस्त्रिधा—यौगिको रूढो योगरूढश्चेति। यत्रावयवार्थ एव बुध्यते स यौगिकः। यथा—पाचकादितेयादिः। यत्रावयवशक्तिनैरपेक्ष्येण समुदायशक्तिमात्रेण बोधः स रूढः। यथा—गोमण्डपादिः। इह गमनमण्डपानकर्तृत्वरूपं योगार्थं विनैव व्यक्तिविशेषगृहविशेषयोरवगमः। यत्र त्ववयवशक्तिविषये समुदायशक्तिरप्यस्ति स योगरूढः। यथा—पङ्कजवक्षोजादिः। पङ्कजशब्दो ह्यवयवशक्त्या पङ्कजनिकर्तृरूपमर्थं बोधयति, समुदायशक्त्या तु पद्मत्वेन रूपेण, पद्ममिति योगार्थसत्वेऽपि व्यक्तिविशेषबोधनाद्योगरूढ एवासाविति।

लाक्षणिक निरूपणाय तदुपाधिमाह—

मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणारोपिता क्रिया ॥४॥

वाचकस्येति। उपाधिः क्रियावृत्तिर्व्यापारश्चेति पर्यायशब्दाः। मुखे आदौ साधुर्मुख्यः। योगार्थं विनैवेति[1], रूढिर्योगमपहरति' इति न्यायात्। पङ्कजं शैवालादि, वक्षोजं रोमव्रणादि च लक्षणया बोध्यम् ॥३॥

लाक्षणिकेति। मुख्यार्थेति। मुख्यार्थबाधः, शक्यसम्बन्धः, रूढिफलान्यतरच्चेति लक्षणायां हेतुत्रयम्। तत्रादौ मुख्यार्थस्य वाच्यार्थस्य बाधे समन्वय वेलायां स्खलद्गतित्त्वे सतीत्यर्थः। तेन वाच्यार्थेन सह लक्ष्यस्य योगे सम्बन्धे सति। रूढ़ितः प्रयोजनादिति। विभागपरमेव, न तु स्वरूपनिर्वाहकम्। ल्यब्लोपे वा पञ्चमी। 'रूढि प्रसिद्धिः' इत्यादि ग्रन्थात्।

---

१. 'वाचकस्येति। उपाधिः क्रियावृत्तिव्यापारश्चेति पर्यायशब्दाः। मुखे आदौ साधुर्मुख्यः योगार्थं विनैवेति रूढिर्योगमपहरति'—इति ख पुस्तके न पठ्यते।

'कलिङ्गः साहसिकः' इत्यादौ देशविशेषादिरूपार्थानां साहसाद्यसंभवात् 'गंगायां घोषः प्रतिवसति' इत्यादौ प्रवाहादिरूपार्थानां घोषाधारत्वाद्यसंभवाच्च मुख्यार्थबाधायामाधाराधेयभावादौ सामीप्यादौ[1] च सम्बन्धे रूढेः प्रयोजनाच्च हेतोर्मुख्येनामुख्योऽन्योऽर्थो यया लक्ष्यते सा लक्षणा नाम क्रियावृत्तिरर्थनिष्ठाप्यर्पिता शब्दे। तत्र रूढिः प्रसिद्धिः, तामनुसृत्य तत्संयुक्तपुरुषादिरन्योऽर्थः [2]पूर्वत्र लक्ष्यते। परत्र तु गङ्गागतशैत्यपावनत्वादेस्तटादौ प्रतिपादनं प्रयोजनं तदुद्दिश्य तटादिरन्योऽर्थः। सा चेयं जहत्स्वार्था। 'कुन्ताः प्रविशन्ति' इत्यादावजहत्स्वार्था कुन्तधारिसहितप्रवेशात्। 'छत्रिणो गच्छन्ति' इति छत्रि[3]पदस्यैकसार्थवाहित्वे लक्षणा। तत्त्वेन रूपेण छत्रितदन्ययो[4]र्बोधात्।' 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इत्यत्र काकपदस्य दध्युपघातकेषु लक्षणा। तेन तन्मात्रस्य बोधनात्। 'सोऽयं देवदत्तः' इत्यादौ जहदजहत्स्वार्था। अत्र 'तत्कालै[5]तत्कालयोः' त्यागाज्जहत्स्वार्था। पिण्डमात्रस्यात्यागात्

कलिङ्ग इति। साहसस्य चेतनधर्मत्वाद्देशविशेषेऽसंभवः। घोषस्य स्थित्यसंभवादेव न तदाधारो गङ्गा। ननु प्रवाहं प्रत्याय्य गङ्गाशब्दो निवृत्तव्यापारः। तत्प्रत्यायितः प्रवाहस्तटं लक्षयतीत्यर्थधर्मो लक्षणा, न तु शब्दधर्म* ततः शब्दो लाक्षणिकः इति कथम्?

तत्राह—अर्थनिष्ठापीति। वाच्यधर्मः शब्दे आरोप्यते, तत्प्रतिपादितस्यैवार्थस्य लक्षकत्वादित्यर्थः। अन्ये तु व्याचक्षते—'सा शब्दस्यार्पिता वृत्तिः स्वाभाविकेतरेश्वरानुद्भाविता नेति।

सा चेयमिति। जहत्स्वार्थो यामिति द्वितीयान्तोन्यपदार्थो बहुव्रीहिः। अत्र 'कर्मणि कुशलः' मञ्चाः क्रोशन्ति' इत्यादि चोदाहरणं मृग्यम्। अत्र दर्भग्रहस्य मुख्यार्थस्य दक्षान्वयतात्पर्ये बाधात्तेन

---

१. शमीप्यादौ ख।

२. सर्वत्र ख।

३. 'छत्रि' इति ख पुस्तके नास्ति।

४. छत्रितदन्वयोः = ख।

५. तत्काले' इति ख पुस्तके नास्ति।

*तुलनीय—(क) शब्दस्यैकाभिधाशक्तिरर्थस्यैकैव लिङ्गता। व्यक्तिविवेक १.२७

(ख) अत्रोच्यतेऽभिधा संज्ञः शब्दस्यार्थप्रकाशने।

व्यापार एक एवेष्टो यस्त्वन्योऽर्थस्य सोऽखिलः। व्यक्तिविवेक १.७१

अजहत्स्वार्था च। एवं 'रथो गच्छति' इत्यादौ च। इयमेव भागलक्षणोच्यते।

अथ प्रयोजनवतीं विभजते—

'स्वसिद्धये पराक्षेपः परार्थं स्वसमर्पणम्।
उपादानं लक्षणं चेत्युक्ता शुद्धैव सा द्विधा ॥५॥

'कुन्ताः प्रविशन्ति' इत्यादौ कुन्तादिभिः स्वप्रवेशसिद्धये स्वसम्बन्धिनः पुरुषा उपस्थाप्यन्ते[1]। एवं 'वेणुर्गायति' इत्यत्र वेणुना स्वगीतिसिद्धये स्ववादकस्य हरेराक्षेपः।

मुख्यार्थस्याप्यत्रोपादानादियमुपादानलक्षणा, कुन्तादीनामतिगहनत्वादि फलम्। यत्र त्वविनाभावोऽर्थापत्तिर्वा तत्र नेयं[2] लक्षणा रूढिफलयोरभावात्। यथा—'गौरनुबन्ध्यः इति श्रुतिनोदितमनुबन्धनं मे कथं स्यादिति' जात्या व्यक्तिराक्षिप्यते। 'विशेष्यं नाभिधा गच्छेत्क्षीणशक्तिर्विशेषणे' इत्युक्तेः, न तु शब्देनोच्यते। एवं क्रियतामित्यत्र कर्ता, कुर्वित्यत्र कर्म, प्रविश पिण्डीमित्यादौ गृहं, भुङ्क्ष्वे[3]त्यादि च। अविनाभावो ह्याक्षेपः।

विवेचकत्वसंबन्धात् प्रसिद्धेश्च दक्षो लक्ष्यते। मञ्चशब्देन तद्वर्तिनो लक्ष्यन्ते तेषां क्रोशनासंभवात्। तत्त्वेनैकसार्थवाहित्वेनेत्यर्थः। तेन काकपदेन। उच्यते वेदान्तिभिः ॥४॥

यथेति। 'गौरनुबन्ध्यः', 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इत्युपादानलक्षणां केचिदुदाहरन्ति। एवं चैतद व्याचक्षते—श्रुत्या प्रतिपादितमनुबन्धनं गोपदार्थस्य जातेर्मम कथं स्यादिति जात्यवच्छेदकतया कथंचित्स्वान्वयसिद्धये व्यक्तिर्लक्ष्यते। 'अभोजी पीनः' इतिवत् पीनत्वान्वयप्रयोजकस्य भोजित्वस्याप्रतीत्या योग्यतामलभमानं वाक्यमन्वयं न बोधयति तेन तत्सिद्धये रात्रिभोजनं लक्ष्यते। तथा च दिवा न भुङ्क्ते इति मुख्यार्थमुपादायैव तल्लक्षणेत्युभयत्रोपादानलक्षणेति।

तान्दूषयितुमाह—यत्र त्विति। आक्षिप्यतेऽनुमीयते। जातिर्व्यक्त्याश्रिता जातित्वादित्यनुमानसंभवान्न लक्षणेत्यर्थः। विशेष्यं व्यक्तिमभिधा न गच्छेत्। हेतुमाह—विशेषणे जातौ क्षीणशक्तिरिति।

'नागृहीतविशेषणाबुद्धिर्विशेष्ये चोपजायते' इति विशेषणं प्रत्याय्य विरामात् शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावाच्च ॥ एवमिति। कृतिः साश्रया गुणत्वात्। कृतिः सविषया, कृतित्वादित्याक्षेपेणैव कर्तृकर्मणोर्लाभः। प्रविशेत्यत्र गृहमिति। पिण्डीमित्यत्र भुङ्क्ष्वेत्याक्षिप्यते।

---

१. उपस्थाप्यते ख।

२. नेय ख।

३. 'भुङ्क्ष्येत्यादि' ख।

'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इत्यत्र रात्रिभोजनमर्थापत्त्यैव लभ्यते न तु लक्ष्यते। **असिध्यदर्थदृष्ट्या साधकान्यार्थकल्पनं ह्यर्थापत्तिः।** 'गंगायां घोषः' 'मञ्चाः क्रोशन्ति' इत्यादौ तटादीनां घोषाधारत्वादिसिद्धये गङ्गादिस्वार्थं तत्रार्पयन्तीति परोपलक्षणहेतुः लक्षणलक्षणा। द्विधा चेयं शुद्धैव, उपचारेणामिश्रत्वात्। सादृश्येन सम्बन्धेन प्रवृत्तिर्भेदेन प्रतीतयोरैक्यारोपो वोपचारः।

सारोपान्या तु यत्रोक्तौ विषयी विषयस्तथा।

यत्रारोप्यमाण आरोपविषयश्च स्फुटः सा लक्षणा सारोपा नाम। यथा—'गौर्वाहीकः' इत्यादौ। इह गौरारोप्यमाणः। वाहीकः आरोपविषयः। तौ द्वौ व्यक्तौ निर्दिष्टौ। अत्र गोशब्दः साधारणगुणाश्रयणेन परार्थं लक्षयति। तदुक्तम्—

'अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते।
लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद्वृत्तेरिष्टा तु गौणता॥' इति।

एवम् 'अमृतं हरिकीर्तनम्' इत्यादौ च।

पीन इति। दिवाभुञ्जानस्य पीनत्वं रात्रिभोजनं विनानुपपन्नमित्यपपत्त्या रात्रिभोजनं कल्प्यत इति भट्टमते, 'रात्रौभुङ्क्ते इति शब्दः कल्प्यत इति श्रुतार्थापत्तिवादः। गुरुमते तु तदर्थमात्रमिति दृष्टार्थापत्तिवादः। यत्र दृष्टोऽर्थोऽनुपपद्यमानोऽर्थान्तरं कल्पयति सा दृष्टार्थापत्तिः, सा चात्रासिध्यदर्थे लक्षिता,[1] लक्षणलक्षणामुदाहरति—गङ्गायामिति। स्वार्थमिति[2]। तत्र तटादौ। स्वार्थमात्मानं त्यजन्तीति यावत्, भावप्रधाननिर्देशात् स्वार्थत्वं तत्र कुर्वतीति वा, गंगात्वेन तटबोधनादिति भावः॥ यत्रेति। साधारणः सजातीयः परार्थे वाहीकमेव, न तु वाहीकत्वम्, तस्य वाहीकपदादेवप्राप्तेः; गोशब्दोऽत्र मुख्यया वृत्त्या वाहीकशब्देनान्वयमप्राप्नुवञ्जाड्यादिसमानधर्मसंबन्धाद्वाहीकार्थं लक्षयतीत्यर्थः।

तदुक्तमिति। अभिधेयेन साक्षात्संकेतितेनार्थेनाविनाभूता संबद्धा प्रतीतिर्यस्याः सा वृत्तिः। लक्ष्यमाणस्य वाहीकादेः गुणैर्जाड्याद्यैः वृत्तेर्लक्षणायाः। अत्र लक्षणायामविनाभावशब्देन सम्बन्धमात्रमुच्यते, न तु व्याप्तिः। तथात्वे 'मञ्चाः क्रोशन्ति' इत्यत्र लक्षणा न स्यात्। मञ्चपुरुषयोर्मिथोव्याप्त्यभावात्। साहचर्यनियमो हि व्याप्तिः॥

---

१. अर्थेति लक्षिता क।
२. 'स्वार्थमिति' ख पुस्तके न पठ्यते।

विषय्यन्तः कृतेऽन्यस्मिन्सा स्यात्साध्यवसानिका ॥६॥

विषयिणारोप्यमाणेनान्यस्मिन्नारोपविषयेऽन्त कृते निगीर्णे सैव साध्यवसानोच्यते। यथा—गौरेवायम्' इत्यादौ। गवेह वाहीकोऽन्तर्निगीर्णः। एवम् 'अमृतमेवेदम्' इत्यादौ च। अस्मिन्भेदद्वये सत्यपि भेदे ताद्रूप्यप्रतीतिः सर्वथा भेदावगमश्च फलम्।

भेदाविमौ च सादृश्यात्संबन्धान्तरतस्तथा।
गौणौ शुद्धौ च विज्ञेयौ

इमावारोपाध्यवसानरूपौ भेदौ सादृश्यात्संबन्धाद्गौणौ। सम्बन्धान्तरतस्तु शुद्धौ। तत्र गौणौ दर्शितौ। शुद्धौ यथा—'आयुर्घृतम्' आयुरेवेदम्' इत्यादौ। अत्र सादृश्यादन्यत्कार्यकारणभावादिसंबन्धान्तरं तत्पूर्वके आरोपाध्यवसाने। एवं 'हरिभक्तिर्महत्सङ्गः' 'हरिभक्तिरेवायम्' इत्यादौ च अस्मिन्भेदद्वयेऽन्यवैलक्षण्येनाव्यभिचारेण च कार्यकारित्वादि फलम्। क्वचित्तादर्थ्यात्संबन्धादुपचारः। यथा—'इन्द्रार्थास्थूणा इन्द्रः' 'कृष्णसेवार्थो व्यापारः कृष्णसेवा'। अत्रेष्टार्थप्रदत्वम्।

क्वचित्स्वस्वामिभावात्। यथा—'राजसेवको राजा', 'हरिसेवको हरिः'। अत्रानुल्लङ्घ्याज्ञत्वादि। क्वचिदवयवावयविभावात्। यथा— हस्ताग्रे हस्तः' जगद्विष्णुः' अत्र हस्तव्यापारकारि सामर्थ्यादि। क्वचित्तात्कर्म्यात्। यथा—'ब्राह्मणोऽपि तक्षासौ' 'ईश्वरोऽपि क्षत्रियोऽसौ'। अत्र तत्कर्मनैपुण्यम्।

संकलयति—

लक्षणा तेन षड् विधा ॥७॥

विषय्यन्तरिति। सैव सारोपैव। अस्मिन्निति। ताद्रूप्यं गोगतजाड्यादि। सर्वथेति। वाहीकत्वाद्यसाधारणधर्मानुपस्थितेरित्यर्थः। दर्शिताविति। 'गौर्वाहीकः, गौरेवायम्' इत्यत्र गोवाहीकयोः सादृश्यम्। घृतं कारणम्, तत्कार्यमायुः॥

संबन्धान्तरं प्रपञ्चयति[1]—क्वचिदिति। यथा—हस्ताग्र इति। कर्मधारयेऽग्रहस्त इत्यत्रावयवेऽग्रमात्रे हस्तोपचारः। जगद्विष्णुरित्यत्र विष्णुवज्जगतोऽपि सत्यत्वं फलम्॥

---

१. प्रपञ्चति ख।

तेनोपादानादिप्रकारेण षोढा फलवती। इहोपादानलक्षणादिषु[1] भेदेष्वाद्याभ्याम-र्थान्तरसंक्रमितवाच्यात्यन्ततिरस्कृतवाच्यौ, मध्याभ्यां रूपकप्रथमातिशयोक्ती, शेषाभ्यां हेत्वलंकारश्च निरूपयिष्यन्ते[2]।

व्यंग्येन रहिता रूढौ सहिता तु प्रयोजने।

रूढि लक्षणायां न किंचिद् व्यङ्ग्यम्। फलवत्यां त्वस्ति तत्।

तच्च गूढमगूढं वा

तच्च व्यङ्ग्यम्। तत्र गूढं यथा—

उत्कीर्णैरिव चित्रितैरिव नवोद्भिन्नैरिवोद्यद्भिः।
कुन्दे विभ्रमितैरिव स्मरकलाशाणे[3] निशातैरिव।
मग्नोन्मग्नतयालसैरिव भृशं लावण्यवापीजले
केयं[4] केलिकलानिधिः सुबल मे चेतो हरत्यङ्गकैः॥'

अत्रोत्कीर्णादिपदानि तत्सदृशेषु लाक्षणिकानि। तेषां व्यङ्ग्यम् निगूढ प्रतीयते। तथा हि—उत्कीर्णैरिति निर्माणसौष्ठवम्। चित्रितैरिति पादादिगतरागादिप्रद्योतः। नवोद्भिन्नैरिति सौकुमार्यम्। उद्यद्‌िति सुवलित्वम्। स्मरेति हृद्भेदकत्वम्। मग्नेति लावण्याधिक्य-मिति गूढमेव।

अगूढं यथा—

'गोप्यस्तपः किमचरन्यदमुष्य रूपं लावण्यसारमसमोर्ध्वमनन्यसिद्धम्।
दृग्भिः पिबन्त्यनुसवाभिनवं दुरापमेकान्तधाम यशसः श्रिय ऐश्वरस्य॥'

एवमुपादानादिकृतं प्रकारषट्कमापाद्य व्यञ्जनकृतं प्रकारत्रयमाह—व्यङ्ग्येनेति। तच्चेति। सहृदयमात्रवेद्यं गूढम्। काव्यभावनापरिपक्वधियः सहृदयाः। सहृदयासहृदयवेद्यमगूढम्।

उत्कीर्णैरिति। आराद्राधां वीक्ष्य कृष्णः सुबलमाह। अत्र मुख्यार्थबाधादुत्कीर्णसादृश्यं लक्ष्यम्।

गोप्यइति। मथुरास्त्र्युक्तिः। असमोर्ध्वं समाभ्यधिकरहितम्। अनन्यसिद्धं स्वतः सिद्धम्॥

---

१. षट् उक्त० इत्यधिकं ख पुस्तके। २. निरूपयिष्येते क।

३. शाने ख। ४. 'केयं पदं ख पुस्तके नास्ति।

अत्र दृग्भिः पानस्यासंभवात्सादरावलोको लक्ष्यते । गाढासक्तिर्व्यङ्ग्या । स च वाच्यवत्प्रतीतेरगूढा ।

तदेषा कथिता त्रिधा ॥८॥

अव्यङ्ग्या गूढव्यङ्ग्यागूढव्यङ्ग्या चेति लक्षणा नाम वृत्तिस्त्रिधा । एवमुपाधिमुक्त्वा तदाश्रयमाह—

तद्भूर्लाक्षणिकः

शब्द इति संबध्यते । तद्भूर्लक्षणाश्रयः शब्दो लाक्षणिकः कथ्यते ।

अथ व्यञ्जकं निरूपयितुं तदुपाधिमुद्दिशति[1]—

तत्र व्यापारो व्यञ्जनात्मकः ।

तत्र लाक्षणिके शब्दे व्यङ्ग्यबोधके सतीत्यर्थः ।

सा च लक्षितान्यैः—

'विरतावभिधाद्यासु ययाऽर्थो बोध्यते परः ।
सा वृत्तिर्व्यञ्जना नाम शब्दादीनां निगद्यते ॥' इति ।

द्वेधा चैषा—शाब्दी आर्थी चेति । शाब्दी द्वेधा—अभिधालक्षणामूलत्वात् ।

तदेषेति । तत्तस्मात् । एवं लक्षणां निरूप्य लाक्षणिकमाह—तद्भूरिति । स्याद्वाचक इत्यतः शब्द इत्यनुवर्तनीयमित्याह—शब्द इति । शब्दादीनामित्यादिपादद्वयं दर्विग्रहः । प्राथम्यादुपजीव्यत्वाच्च यद्यप्यभिधामूलंवादो वक्तुं युक्ता, तथापि लक्षणामूलोच्यते । प्रसङ्गात्सुप्रसिद्धेश्चेत्यर्थः । यस्य पावनादिफलस्य प्रतीत्यै लक्षणेष्टा तत्फलं लाक्षणिकशब्दादेव गम्यम्, न तु प्रमाणान्तरात् । व्याप्तिस्मृत्यादेरनपेक्षणात् ।

---

१. °मुद्दिश्यति ख ।

तत्र प्रसङ्गाल्लक्षणामूला निरूप्यते—

यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते ॥९॥
फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनान्नापरा क्रिया ।

फलं प्रतिपादयितुं यत्र लाक्षणिकः शब्दः प्रयुज्यते, तत्र नान्यतस्तत्प्रतिपत्तिः, अपि तु तस्मादेव शब्दात् । तत्र वृत्तिर्व्यञ्जनैव ।

तथा हि—

नाभिधा समयाभावात्

'गंगायां घोषः' इत्यादौ शैत्यादयो धर्मास्तटादौ प्रतीयन्ते, तत्र गङ्गादिशब्दानां नाभिधा संकेताभावात् ।

हेत्वभावान्न लक्षणा ॥१०॥

मुख्यार्थबाधः, शक्यसम्बन्धः, रूढिफलान्यतरश्चेति लक्षणाया हेतुस्तदभावान्न सा । तमुपपादयति—

लक्ष्यं न मुख्यं नाप्यत्र बाधा[1]योगः फलेन नो ।
न प्रयोजनमेतस्मिन्न च शब्दः स्खलद्गतिः ॥११॥

गंगाशब्दस्य प्रवाहो मुख्योऽर्थस्तत्र बाधः, तस्य तीरेण सम्बन्धः । लक्षिते च तीरे शैत्यादिफलमिति गंगाशब्देन तीरं लक्ष्यते । एवं चेत्तीरमपि मुख्यं स्यात्, तत्र च बाधा[2] भवेत् । तीरस्य च शैत्यादिना संबन्धः स्यात् । फले च तस्मिँल्लक्षिते यदि फलमन्यद्भवेत् तदा फलमपि तेन लक्ष्येत । न चैतत्किमप्यस्तीति । न च गंगाशब्दः तीरमिव शैत्यादि

नाभिधेति । सा हि संकेतग्रहसहायैवोपयुज्यते, न स्वरूपसतीत्यर्थः । तमिति । हेत्वभावमित्यर्थः । न च शब्दः स्खलद्गतिरिति व्याचष्टे—न गंगाशब्दस्तीरमिवेति । स्खलन्ती मुख्यार्थं बाधाद्यनुसंधानेन बिलम्बमाना गतिर्बोधकता[3] यस्य । न चैवं प्रयोजने । अत्र हेतुर्लक्षणयेत्यादि ।

---

१. काव्यप्रकाशे 'बाधो' इति पठ्यते ।
२. 'तत्र च वा भवेत्' *ख* ।
३. बोधकर्त्ते यस्य इति *ख* ।

बोधयितुं मन्थरः । लक्षणया तीरप्रत्ययानन्तरमेव झटित्येव व्यञ्जनया तत्प्रत्ययात् । तस्माद्विवक्षितान्वयानुपपत्त्यभावाच्च फले न लक्षणा ।

एवमप्यनवस्था स्याद्या मूलक्षतिकारिणी ।

एवमपीति । फलं चेल्लक्ष्यं तर्हि तदपि फलान्तरेण तदपि तदन्तरेणेत्येवं मूलभूतफललक्षणा क्षतिरित्यर्थः । न शैत्यादिधर्मविशिष्टमेव तीरं लक्षणीयम् । ततः किं व्यञ्जनयेति चेत्तत्राह—

प्रयोजनेन सहितं लक्षणीयं न युज्यते ॥१२॥

कस्मादित्याह—

ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलमन्यदुदाहृतम् ।

प्रत्यक्षादेर्हि ज्ञानस्य शुक्लादिर्विषयः, फलं तु ज्ञातता, हानोपादानधीर्वा । विषयो ज्ञानस्य हेतुः, फलं तु तस्य कार्यमिति युगपदप्रतीतेर्न सह लक्ष्येतेत्यनुशयः । यत्तूक्तम्—तीरं शैत्यादि च लक्षणैव[1] बोधयेत् इति, तन्न । शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावात् ।

विशिष्टे लक्षणा नैवं

एवं उक्तयुक्त्या ।

विशेषाः स्युस्तु लक्षिते ॥१३॥

लक्षिते तीरादौ विशेषाः शैत्यादयस्ते च व्यञ्जनयैव गम्याः स्युः । तथाहि—गंगाशब्दः पूर्वमभिधया प्रवाहं प्रत्याययति । इतरथा मुख्यार्थबाधो न स्यात् । तद्विरतौ लक्षणया

तस्मादिति । पावनत्वाद्यन्वयो विवक्षितस्तदनुपपत्तिर्नास्ति, व्यञ्जनयैव तत्सिद्धेः । अतो न फले लक्षणेत्यर्थः । ॥११॥

एवमिति तदन्तरेण । फलान्तरेणेत्यर्थः । हेतुफलयोस्तीरप्रतीतिशैत्यप्रतीत्योः कालभेदादेकव्यापारविषयत्वमसुन्दरमिति व्यञ्जनासिद्धिरित्याशयः । यत्त्विति । लक्षणैव[1] बोधयित्वा शैत्यादि बोधयतु, ततः किं व्यञ्जनासिद्धिरित्याशयः । परिहरति तन्न ।

तत्र हेतुः—शब्दबुद्धीति । वाचकस्य लाक्षणिकस्य वा शब्दस्याभिधया लक्षणया वा सकृच्छाब्दबोधमुत्पाद्य पुनरभिधया लक्षणया वार्थान्तरबोधने सामर्थ्याभावादित्यर्थः ।

तथाहीति । शैत्यादीनां व्यञ्जनागम्यत्वं दर्शयतीत्यर्थः ।

---

१. लक्षणयैव क ।

तीरम्, तद्विरती व्यञ्जनया पावनत्वादीति। वाक्यार्थबोधनाय तात्पर्याख्या वृत्तिः, साप्यत्र नादृता। वाक्यं विनाप्येकस्य पदस्य पदांशस्य च व्यञ्जकत्वेन ध्वनिकाव्यत्वाङ्गीकृतेः। तस्माद् व्यञ्जना नाम चतुर्थी वृत्तिर्ध्वननद्योतनादिपर्यायावश्यमन्वेष्टव्यैवेति।

ये त्वाहुः—इपुवेगवदभिधाव्यापारो दीर्घतरस्तेन सर्वोऽप्यर्थो वाच्यः इति, तन्मते गङ्गायां घोषान्वयानुपपत्तेर्मुख्यार्थबाधादभिधैव नास्ति। कुतस्तस्या दीर्घदीर्घतरत्वम्, येन तटोऽपि बोध्यः। किमिति तैर्लक्षणोपास्या, तेनैव तदर्थसिद्धेः। किमिति च ब्राह्मण पुत्रस्ते जातः, कन्या ते गर्भिणी' इत्यादौ हर्षशोकादीनामपि न वाच्यत्वम्।

किं च वाच्यार्थव्यङ्ग्यार्थयोः 'त्वदङ्घ्रिमूलं भजतां मुकुन्द' इत्यादौ निन्दास्तुतिरूपेण स्वरूपस्य, 'गतोऽस्तमर्कः' इत्यादौ वाच्य एकरूपो व्यङ्ग्यस्तु तत्तत्प्रतिपत्रादिभेदाद् बहुविधः इति संख्यायाः, वाच्यः शब्दोच्चारणमात्रेण वेद्यः स तु तथापि तथाविधप्रतिभानैर्मल्यादिना चेति निमित्तस्य, शब्दाश्रयत्वेन शब्दतदेकदेशतदर्थवर्णसंघटनाश्रयत्वेन चाश्रयस्य, प्रतीतिमात्रचमत्कारयोः कारणात्कार्यस्य।

'कस्य वा न भवेत्कोपः क्षतं वीक्ष्य प्रियाधरे।
आघ्रातभृङ्गवत्पद्मे पद्मे दुःखं सहाधुना॥'

वाक्यार्थेति। अन्वयबोधनेनोपक्षीणा तात्पर्यवृत्तिर्व्यङ्ग्यबोधनाय नालमिति च बोध्यम्। ये त्वाहुरिति। यथा बलिष्ठप्रेरित इषुरेकेनैव वेगाख्यव्यापारेण शत्रोः कवचभेदमुरश्छेदं प्राणापहारं च करोति, तथा शब्दः एकेनैव शक्तिव्यापारेण पदार्थस्मृतिं वाक्यार्थबुद्धिं व्यङ्ग्यप्रतीतिं च विधत्त इति व्यङ्ग्यस्य वाच्यत्वमित्यर्थः। तेनैवेति। अभिधादैर्घ्येणैव लक्ष्यार्थसिद्धेरित्यर्थः। अत्र वाच्यव्यङ्ग्ययोर्वाचकव्यञ्जकयोश्च वैलक्षण्यं दर्शयति—किं चेत्यादिना। स्वरूपस्येत्यादीनां नवानां षष्ठ्यन्तानां भेद इत्यनेन सम्बन्धः।

कस्य वेति। पत्या तर्ज्यमानां पद्मां प्रति तत्सखीवाक्यम्। दुःखं पतिगञ्जारूपम्। सखी नायिका वाच्यार्थस्य विषयः, इयं भृङ्गेण दष्टा न तु परेण पुंसेति व्यङ्ग्यस्य विषयवस्तु तत्कान्तो

इति सखी तत्कान्तगतत्वेन विषयस्य, पदतदर्थमात्रनिपुणैः सहृदयैरेव च[1] वेद्यतया प्रतिपत्तुः, केवलरूपतया चमत्कारितया च प्रतीतेः। पूर्वपश्चाद्भावेन कालस्य च भेदः। तथा वाचक-व्यञ्जकयोरप्यर्थापेक्षानपेक्षाभ्यां लक्ष्याद्भेदस्तु पूर्वमुक्तः। न चानुमानं व्यङ्ग्यस्य बोधकम्। तत्परम्परायामनेकानुमानकल्पने गौरवात्।

तथाहि—

मनस्तव मनस्विन्या मलिनं न वपुस्तथा।
यत्पादनखराः कृष्णं श्लिष्यन्ति प्रतिबिम्बितम्॥'

अत्र पादनखरा इति मानादावृतसर्वाङ्गत्व मुद्रितनेत्रत्वं च। अन्यथा पादोपान्तगत-कृष्णवीक्षासहिष्णुत्वोपपत्तेः। पश्चात् सखीवचसा सत्वरं पादसंवृतिश्च। ततो मान-शैथिल्यम्। कृष्णस्य च प्रणयजविनयमहिम्ना पादान्तिकमुपेत्यापि तत्स्पर्शाक्षमत्वम्। सख्याश्च तत्पक्षपातित्वं स्वसखीमानहानिसाग्रहत्वं चेत्यादीनि वस्तून्यनेकानुमानैः साध्या-नीति गौरवम्।

गृहपतिरितित्यर्थः। गृहीतसंकेतं सन्तमर्थं वाचको बोधयतीति तस्यार्थापेक्षा। असदेव पावनत्वादिकं तीरे बोधयतीति। व्यञ्जकस्य नार्थापेक्षा। पूर्वं 'ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः' इत्यत्र। न चानुमानमिति। यत्रैकस्मिन्नेव वाक्ये उत्तरङ्गवद्बहवोऽर्था व्यज्यन्ते, तत्र तावतामनुमानानां कल्पने ग्रन्थगौरवापत्तिर्धी-गौरवं चेत्यर्थः।

मनस्तवेति। मानवतीं श्रीराधां प्रति कृष्णपक्षपातिनी सख्याह। अत्र पादनखरा इत्युक्तेस्त-दितराङ्गनानां वासनावृत्तिर्व्यज्यते मुद्रितनेत्रत्वं चेति। अन्यथा प्रणामाय चरणोपान्तगते कृष्णे तद्वीक्षां सा न सहेत तस्मादुत्थायान्यत्र व्रजेदेति बोध्यम्। प्रतिबिम्बितं श्लिष्यन्तीत्यनेन विनयवशात्पादप्रान्तं गतस्यापि कृष्णस्य मानभङ्गाद्विना पादस्पर्शाक्षमत्वं ध्वन्यते।

---

१. सहृदयैरेव च इति क पुस्तके नास्ति।

व्यञ्जनावादिनस्त्वेकयैव व्यञ्जनयेति लाघवात्सैव श्रेयसीति ।

अथाभिधामूला व्यञ्जना दर्श्यते—

अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते ।
संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद्व्यापृतिरञ्जनम् ॥१४॥

आद्यशब्दाद्वियोगादयः ।

तदुक्तम्—

'संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता ।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः ॥
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः ।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ॥' इति ।

सन्निधिरैकार्थ्यम् । औचिती योग्यता । व्यक्तिः पुंनपुंसकादिः । अनवच्छेदे संशये ।

क्रमेणोदाहरणानि—

'सकौस्तुभो भाति विधुः शेते विधुरकौस्तुभः ।

अत्र कौस्तुभसंयोगवियोगाभ्यां विष्णौ विधुशब्दस्याभिधा नियम्यते । 'रामलक्ष्मणयोः कीर्तिः' इति साहचर्येण रामशब्दस्य दाशरथौ । 'कर्णार्जुनकृतो रणः' इति विरोधितया-

---

अभिधामूलेति । अनेकार्थस्यानेकाभिधानशक्तेः । वाचकत्वमभिधा । नियन्त्रिते नियमिते एकतरमात्रस्मरणानुकूलतां नीते सति । तदुक्तमिति । संयोगः प्रसिद्धयोगः । विप्रयोगः प्रसिद्धसम्बन्धविरहः, विभागरूपो गुणो वा । साहचर्यं सहचरता विरोधिता बाध्यबाधकत्वं, सहानवस्थानं च । अर्थः फलमनन्यसाध्यम् । प्रकरणं वक्तृबुद्धिस्थत्वम् । लिङ्गं संयोगान्यसंबन्धेन परपक्षव्यावृत्तोधर्मः ।

शब्दस्याव्यभिचरितस्य । सन्निधिः सामानाधिकरण्यम् । इदमेवैकार्थ्यमिति वृत्तिकृता व्याख्यातम् । समानमेकाधिकरणमर्थ इति तौल्यात् । सामर्थ्यं तत्करणनियमः । देशकालौ तद्विशेषौ । स्वर उदात्तादिः । विष्णाविति । कौस्तुभसंयोगस्य विष्णावेव प्रसिद्धेरनेकार्थस्यापि विधुशब्दस्य तस्मिन्नेवाभिधा नियम्यते । अन्यविधुपदार्थे तत्संयोगाभावात् । वियोगस्तादृशसम्बन्धाभावः । तेनापि तत्रैव सा नियम्यते । अभावस्य प्रतियोगिपूर्वकत्वात् । गाण्डीविनीति । बाध्यबाधकतायाम् । सहानवस्थाने

र्जुनशब्दस्य गाण्डीविनि। 'स्थाणुः कृष्णागुणामोदी' इति गुणामोदरूपार्थस्य वृक्षखण्डेऽसंभवात्तेन स्थाणुशब्दस्य शिवे। 'देवो जानाति मे मनः' इति प्रकरणाद्देवशब्दस्य युष्मदर्थे। राधिकां बाधते नाथ! कुपितो मकरध्वजः।' इति कोपलिङ्गेन मकरध्वजशब्दस्य कामे। 'कृष्णोऽयं मुनिवर्योऽस्ति' इति मुनिवर्यशब्दसान्निध्यात्—कृष्णशब्दस्य श्रीव्यासे। 'प्रमत्तो मधुना पिकः' इति मदविधानसामर्थ्यान्मधुशब्दस्य वसन्ते। 'प्रमत्ता मधुना रामा' इति तद्विधानयोग्यत्वान्माध्वीके च। 'चन्द्रो व्योम्नि चकास्त्यसौ' इति देशविशेषाच्चन्द्रशब्दस्य शशिनि।[1] 'चित्रभानुर्विभात्येष' इति चित्रभानुशब्दस्य दिने रवौ, निशि त्वग्नौ। 'मित्रो मित्रं च दीप्यते' इति पुंनपुंसकरूपया व्यक्त्या मित्रशब्दस्य सूर्ये सुहृदि च। स्वरस्तु वेदे एवार्थविशेषप्रतीतिकृत्, न तु काव्ये। आदिपदादभिनयादि।

यथा—

'एतावत्कुचयुग्मेयमेतावन्नेत्रपङ्कजा।
पङ्कजाक्ष भवत्वद्य तव वक्षस्यलंकृतिः॥'

एवं संयोगाद्यैरनेकार्थशब्दस्य वाचकत्वे नियमितेऽपि यो वाच्यभिन्नार्थधीहेतुर्व्यापारः। साभिधामूला व्यञ्जनैव। उदाहरणम्—

तु छायातपौ इति बोध्यम्। छायाशब्दोऽत्रातपाभावे। कुपितो मकरध्वज इति। मकराकारध्वजसमुद्राभ्यां व्यावृत्तेन समवायसंबन्धवता कोपेन मकरध्वजशब्दस्याभिधा कामे नियम्यते। पिकमदं वसन्तः करोति, रामामदं तु मध्विति। तथोदाहृतम्। शशिनीति। न तु कर्पूरादौ। दिने रवावित्यादि। दिनरात्र्योर्वह्निसूर्ययोर्दीप्तियोगात्। अभिनयः साक्षादिवार्थाकारादिप्रदर्शिका हस्तादिचेष्टा। तेनापि परिमाणविशेषावच्छिन्नेऽर्थे शब्दानामभिधानं नियम्यते। आदिशब्दादपदेशः।

अतिदुर्लभायां कस्योचिद्गोपकिशोर्यां संसक्तचेतसा श्रीगोविन्देन तदवाप्तये मुहुरभ्यर्थिता काचित्प्रगल्भा दूती साधितार्था पुरोऽभिनयेन तां दर्शयन्ती कृष्णमाह—एतावदिति। अत्र कुचादीनां पङ्कजकोरकाद्याकारता हस्तचेष्टया बोध्यते।

एवं संयोगादीनुदाहृत्य प्रकृतां कारिकां व्याचष्टे—एवमिति। वाच्यभिन्नो योऽर्थस्तद्बुद्धिजनको यो व्यापारःसः[2] वृत्तिः।

---

१. 'चित्रमाशशिनीति नतु कपूरदौ' इत्यधिकं ख पुस्तके पठ्यते।
२. सः इति क ख पुस्तकयोः नास्ति।

'अखिलरसामृतमूर्तिः प्रसृमररुचिरुद्धतातारकापालिः ।
कलितश्यामाललितो राधा प्रेयान्विधुर्जयति ॥'

अत्र प्रकरणात्कृष्णो वाच्यश्चन्द्रस्तु व्यङ्ग्यस्तयोरुपमानोपमेयभावश्च ।

एवं व्यञ्जनां निरूप्य तदाश्रयमाह—

तद्युक्तो व्यञ्जकः शब्दः

तया व्यञ्जनया युक्तः शब्दो व्यञ्जक उच्यते ।

यत्सोऽर्थान्तरयुक्तथा ।
अर्थोऽपि व्यञ्जकस्तत्र सहकारितया मतः ॥१५॥

यस्मादर्थान्तराश्रयः सन् शब्दो व्यञ्जकस्तस्मादर्थोऽपि सहकारितया तत्र तथा । शब्दस्य तत्र प्रबला शक्तिरिति व्यञ्जनायास्तन्मूलतया भणितिः ॥

इति भरतसूत्रवृत्तौ साहित्यकौमुद्यां शब्दनिर्णयो नाम
द्वितीयः परिच्छेदः ।

अखिलेति । विधुः कृष्णो जयति । अखिलाः शृङ्गारादयः सर्वे रसा यत्र तादृशममृतं परमानन्द एव मूर्तिस्तनुर्यस्य । प्रसृमराभिः प्रसरणशीलाभी रुचिभिः कान्तिभी रुद्धा वशीकृता तारका पालिश्च नायिका येन सः । राधायां वृषभानुपुत्र्यां प्रेयानतिशयेन प्रीतिकर्ता । 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' इति कर्त्तरि कस्मरणात् । पक्षे विधुश्चन्द्रः । अखिलोऽखण्डो रस आस्वादो यत्र तादृशं यदमृतं सुधा तन्मयो मूर्त्तिर्मण्डलं यस्य सः । प्रसृमराभी रुचिभिः रुद्धा वृता तारकाणां पाली श्रेणी येन सः । कलितं स्वीकृतं श्यामाया रात्रेर्ललितं विलासो येन सः । राधायां विशाखानाम्न्यां तारकायामधिकप्रीतिकर्ता ॥१४॥

अत्र श्रीकृष्णस्यैव वक्तृबुद्धिस्थत्वात् स एव वाच्यः, चन्द्रस्तु व्यङ्ग्यस्तयोरुपमानोपमेयभावश्च । अत्र केचित् श्लेषस्यायं विषयः परिवृत्त्यसहविध्वादिशब्दोपादानात् । न तु व्यञ्जनस्येत्याहुः । नैवम् । रहस्यावबोधविजृम्भितत्वात् । इदमत्र रहस्यम् । नानार्थेषु यत्रानेकत्र तात्पर्यग्राहकं प्रकरणादि युगपदवतरति नावतरति वा स श्लेषः । यत्र क्रमेण तत्रावृत्तिः । यत्र त्वेकत्रैवावतरति तत्र व्यञ्जनमिति सुष्ठ्वेवोदाहृतम् । एवमिति । तदाश्रयं व्यञ्जकं शब्दम् । ननूक्तस्थलेऽर्थस्याव्यञ्जकत्वे कथं शब्दार्थरूपस्य काव्यस्य ध्वनित्वं भवेदित्यत आह— यत्स इति । तथा व्यञ्जको मत इत्यर्थः । तन्मूलतया शब्दमूलतया भणितिर्व्यपदेशः ॥१५॥

इति कृष्णनन्दिन्यां साहित्यकौमुदीटीकायां
द्वितीयः परिच्छेदः ।

तृतीयः परिच्छेदः

एवं शाब्दीं व्यञ्जनां निरूप्यार्थीं तां वक्तुमुपक्रमते—

अर्थाः प्रोक्ताः पुरा तेषामर्थव्यञ्जकतोच्यते ।

तेषां वाचकादीनां वाच्यादयोऽर्थाः पूर्वमुक्तास्तद् व्यञ्जकता च। इदानीं सा कीदृशीत्युच्यते ।

वक्तृबोद्धव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसन्निधेः ॥१॥
प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात्प्रतिभाजुषाम् ।
योऽर्थस्यान्यार्थधीहेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा ॥२॥

वक्त्रादिवैलक्षण्यात्प्रतिभाजुषां योऽर्थान्तरजनकोऽर्थत्रयस्य व्यापारः सार्थी व्यञ्जना । बोद्धव्यः प्रतिपाद्यः । काकुर्ध्वनेर्विकारः । अन्यो वक्तृबोद्धव्याभ्याम् । प्रस्तावः प्रकरणम् । देशो विजनादिः । कालो वसन्तादिः । प्रतिभा वासनाविशेषः । क्रमेणोदाहरणानि—'मुक्ता-

---

एवमिति । तां व्यञ्जनाम् । अर्थ इति । पुरेति । 'वाच्यादयस्तदर्थाः स्युः' इत्यत्र । अर्थव्यञ्जकता च सर्वेषां प्रायशः इत्यत्र । अथ सा कीदृशीत्युच्यते—वक्तृबोद्धव्येति । बोद्धव्यः प्रतिपादनीयो जनः । अन्तर्भावितणिजर्थोऽयम् । अतो वाच्येन नाभेदः । शोकभीत्यादिभिः कण्ठध्वनिभेदः काकुः । 'काकुः स्त्रियां विकारो यः शोकभीत्यादिभिर्ध्वनेः' इत्यनुशासनात् । वाक्यवाच्याभ्यां सहितस्यान्यसन्निधेरिति बोध्यम् । तेन न द्वन्द्वे एकवद्भावे क्लीबत्वप्रसङ्गः ।

क्रमेणोदाहरतीति । वक्तुरिति । कृष्णानुरागिल्दमेवोभयोर्वैदिग्ध्यम् । हन्तेति । मथुरास्थे कृष्णे विरहिणी काचित्स्वसखीं पृच्छति । माकन्दमाम्रम् ।

वली निशि मया' इत्यादि [पृष्ठ ७]। अत्र हारानयनाय न गतास्यपितु कृष्णाङ्गसङ्गायैवेति वक्तुर्बोध्यव्यस्य च वैशिष्ट्यात् व्यज्यते ।

'हन्त कं दलयन्मन्दं माकन्दं मलयानिलः ।
आयातः सखि कालेऽस्मिन्नपि नैष्यति माधवः ॥'

अत्रेदानीमेष्यत्येवेति सख्युक्तिः काकुवैशिष्ट्यात् ।

'तदा मदीये पतितां कपोले दृष्टिं त्वमन्यत्र न नेतुमीशः ।
सैवाधुनाहं भगवन्कपोलौ तावेव दृष्टिर्न तु कृष्ण सेयम् ॥'

अत्र कपोलप्रतिबिम्बितां वयस्यां पश्यतस्ते दृष्टिर्यादृक् । चलितायां तु तस्यां न तादृक् । अहो प्रच्छन्नकामुकस्त्वमिति वाक्यवैशिष्ट्यात् ।

'यमुनातीरवानीरनिकुञ्जस्तन्वि रञ्जनः ।
मालतीनर्तनं कुर्वन्सरत्यत्र समीरणः ॥'

अत्र 'इह सुरतार्थं प्रविश' इति वाच्यवैशिष्ट्यात् ।

'इध वुन्दावणमज्जे णिसङ्कणीसुत्तमोरमअणिअरो ।
अलिमेत्तभुत्तकुसुमो रमणिज्जो जामुणो कुञ्जो ॥'

प्रौढाया भंग्या भयात्तदन्तिकस्थां तदतिशयितरूपराशिं भामाम् साक्षाद्विहाय प्रौढामुखवीक्षणमिषेण तत्कपोलगततत्प्रतिबिम्बमग्रदृष्टिं हरिं तदपसृतौ सा प्रौढाह—

तदेति । पतितां स्खलितपदां माधुर्यपिच्छलत्वात् । सैवाधुनाहं न तु परिवृतरूपगुणा । पूर्वं दृष्टिः स्निग्धा निर्निमेषा चासीत् । इदानीं विषण्णोद्विग्नाभूदित्यर्थः । अहो इतीयत्कालं गोपनेन गतमित्याश्चर्यम् । अत्र तदाधुनेति पिच्छिन्नं वाच्यं गृह्यते तेनैवेङ्गिताभिज्ञानम् । अन्यथातिप्रसङ्गात् । सर्वत्र वाक्यवैशिष्ट्यसत्त्वात् । ततश्च सखीसान्निध्यातिरिक्तसकलसत्वे तादृशदृष्टिविरहस्तदाधुनापदात्मकवाक्यगम्यः सखीसान्निध्याभावस्य स्वप्रयोजकं गमयतीति वाक्यवैशिष्ट्योदाहृतिः । ललितमाधवानुसारीदं पद्यं बोध्यम् । यमुनेति । राधां विशाखा आह । अत्र मालतीनर्तकसमीररूपविशेषणप्रकाशिताद्वाच्यस्य कुञ्जस्य वैशिष्ट्यादेव रतार्थमिह प्रविशेति वक्तुराशयो व्यज्यत इत्यर्थः ।

अत्र मयूरादीनां निःसुप्तत्वादिना विजनोऽयं देशः सुरतार्ह इत्यन्यसन्निधि-वैशिष्ट्यात्। 'मुक्तावली निशि मया'—इत्यादि पृ० ७]। अत्र कृष्णाङ्गसङ्गार्थं तया त्वं प्रेषितासीति प्रकरणवैशिष्ट्यात्। 'मम समीचीना कापि सखी छद्मना त्वदन्तिकं प्रेषणीया, त्वया तु सा तोषणीया' इति प्राक् प्रस्तावः।

'जउणासीअरसिसिरा कमलवणी पवणधुअकिसलअग्गा।
जह वल्लीधरपल्ली धण्णा पेक्खन्ति तं देसम्॥'

अत्र कृष्णेन सह तत्र मां संगमयेति सखीं प्रति निजेच्छाव्यक्तिर्देशवैशिष्ट्यात्।

'एण्हिं जलहरसमये रअणिज्जा रअणवलहीओ।
णिवडन्तवारिधारा गहीरतरमुहरगब्भकुहराओ॥

अत्र कृष्णमानेष्यामीति संकेतमिङ्गितेन पृच्छतीं दूतीं प्रति नाधुना कुञ्जो रम्यः किन्तु भवनमेवेति कालवैशिष्ट्यात्। आदिना चेष्टाप्रसिद्ध्योः। उदाहरणम्—'एतावत्कुचयुग्मेयम्' इत्यादि [पृ० २६]। अत्र कुचादीनां कमलकोरकाद्याकारता हस्तादि चेष्टा-वैशिष्ट्यात्।

इध वुन्देति। प्राग्वत्।

"इह वृन्दावनमध्ये निःशङ्कनिःसुप्तमयूरमयनिकरः।
अलिमात्रभुक्तकुसुमो रमणीयो यामुनः कुञ्जः॥" [इतिच्छाया।]

अत्रेति। संनिहितोऽन्योन्यसन्निधिः स चात्र वाच्यार्थं प्रत्युदासीनो व्यङ्ग्यार्थजीवातुः। संकेतार्थी कृष्णस्तत्सखी वा बोध्यः। जनान्तरसन्निधौ तु नैवमिति तद्वैशिष्टयम्। मुक्तावलीति। शशिकलाया। कृष्णस्पृहणीयाङ्गत्वमेव प्रस्ताववैशिष्ट्यम्, तदाह—ममेति। जउणेति।

'यमुनासीकरशिशिरा कमलवनी पवनधूतकिसलयाग्रा।
यत्र वल्लीगृहपल्ली धन्याः पश्यन्ति तं देशम्॥' [इतिच्छाया]

अत्र मन्दसुगन्धशीतलपवनसेवितलतामयत्वरूपदेशवैशिष्टयाद्वक्तृवैशिष्ट्याच्च तादृशनिजा-भिलाषप्रकटनं व्यङ्ग्यम्। एण्हिमिति।

इदानीं जलधरसमये रमणीया रत्नवलभ्यः।
निपतद्वारिधारा गभीरतरमुखरगर्भकुहराः॥ [इतिच्छाया]।

'करकिसलयलीलाम्बुजनिमीलनोन्मीलनातिकुतुकिन्या ।
दक्षिणमक्षि मुरारेः पिधीयते मुच्यते च सिन्धुजया ॥'

अत्र हरेर्दक्षिणं नेत्रं सूर्यात्मकमिति प्रसिद्धिवैशिष्ट्यात् ।

शब्दप्रमाणवेद्योऽर्थो व्यनक्त्यर्थान्तरं यतः ।
अर्थस्य व्यञ्जकत्वे तच्छब्दस्य सहकारिता ॥

यस्माच्छब्दबोध्य एवार्थोऽर्थान्तरं व्यञ्जयत्यतः शब्दस्यापि तत्रोपकारिता, किन्त्वर्थस्य तत्र प्रधान्यादार्थी व्यञ्जनेति भणितिः ।

इति भरतसूत्रवृत्तौ साहित्यकौमुद्यामर्थनिर्णयो नाम
तृतीयः परिच्छेदः ।

अत्रासारवर्षित्वरूपकालवैशिष्ट्यात् वक्तृवैशिष्ट्यात् तत्तद्वयज्यते । करेति । लक्ष्मीसख्यो मिथो वदन्ति । सिन्धुजया लक्ष्म्या । यद्यप्येकस्मिन्नुदाहरणे भेदान्तराण्यपि सन्ति तथापि निःसंदेहत्वप्रतिपत्तये पृथक्पृथगुदाहृतमिति बोध्यम् । नन्वर्थमात्रस्य व्यञ्जकत्वे शब्दार्थरूपस्य काव्यस्य व्यञ्जकत्वमसिद्धमित्यत आह—शब्दप्रमाणंति ॥

इति कृष्णनन्दिन्यां साहित्यकौमुदीटीकायां
तृतीयः परिच्छेदः ॥

चतुर्थः परिच्छेदः

अथ दोषगुणालंकारान्परत्र वक्ष्यन्पूर्वं तदाश्रयभूतान्काव्यभेदान् प्रपञ्चयति—

अविवक्षितवाच्यो यस्तत्र वाच्यं भवेद् ध्वनौ ।
अर्थान्तरे संक्रमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम् ॥१॥

उत्तमकाव्यरूपो ध्वनिर्द्विभेदः—लक्षणामूलोऽभिधामूलश्चेति । तयोराद्यं विभाजयति—अविवक्षितेति । लक्षणामूलत्वादविवक्षितं बाधितं वाच्यं यत्र तस्मिन्नविवक्षितवाच्याख्ये ध्वनौ वाच्यं द्वेधा । उपादानलक्षणायां सत्यामनुपयोगादर्थान्तरे परिणतम् ।

लक्षणलक्षणायां त्वत्यन्तानुपपत्तेरत्यन्ततिरस्कृतञ्च ।

क्रमेणोदाहरणे —

ब्रुवे त्वामहमत्रास्ति संहतिर्विदुषामतः ।
कीर्तयन्हरिमात्मीयां धियं धृत्वा स्थितिं कुरु ॥

धर्मिणि काव्ये सामस्त्येन निरूपिते तद्धर्माणां दोषगुणालंकाराणां हेयोपादेयता ज्ञातुं शक्या । यथा—श्रुतिकटुत्वं दोषः शृङ्गारादिरसध्वनौ हेयः । रौद्रादिरसध्वनौ चित्रभेदे चाहेयः । एव माधुर्यादिर्गुणः शृङ्गारादिरसध्वनावुपादेयः । रौद्रादिरसध्वनावनुपादेय एव । यमकादिरलंकारोऽपि रसादिध्वनावनुपादेयश्चित्रभेदे तूपादेय एवेत्येतदर्थं काव्यभेदान्परिच्छेदत्रयेण निरूपयति— अथेत्यादिना । अविवक्षितेति । वाच्यो जात्यादिधर्माणां धर्मी । उत्तमेति । 'इदमुत्तममतिशयिनि' इत्यत्र दर्शित इत्यर्थः । तयोराद्यमिति । सूचीकटाहन्यायप्राप्तेरिति भावः ।

ब्रुवे त्वा मति । शिष्यं गुरुराह । अत्रेति । ब्रुव इत्यनुपयुक्तार्थम्, अनुपादानेऽपि वचनक्रियाप्रतीतेः । अत उपदेशत्वं लक्ष्यं तत्र वाच्यार्थः संक्रमितः । आदरग्राह्यत्वं फलम् । एवं त्वामहमितिपदे अप्यनुपयुक्तार्थे । संबोध्यतयैव युष्मदर्थस्य वचनकर्मत्वावगमात् । ब्रुवे इत्युत्तमपुरुषेणैवास्मदर्थस्य

अत्र वचनादेर्मुख्यार्थस्यानुपयोगादुपदेशादिरूपेऽर्थान्तरे परिणतिः । आदरग्राह्यत्वादि फलम् ।

'स्मेरां भङ्गीत्रयपरिचितां साचिविस्तीर्णदृष्टिं
वंशीन्यस्ताधरकिसलयामुज्ज्वलां चन्द्रकेण ।
गोविन्दाख्यां हरितनुमितः केशितीर्थोपकण्ठे
मा प्रेक्षिष्ठास्तव यदि सखे बन्धुसङ्गेऽस्ति रङ्गः ॥

अत्र बन्धुसङ्गे रङ्गश्चेन्मा प्रेक्षिष्ठा इति वाच्योऽर्थः, तं विहाय तामेव प्रेक्षस्वेति वैपरीत्यभाक् । प्रेक्षणात्यावश्यकत्वं फलम् ।

द्वितीयं विभाजयति—

विवक्षितं चान्यपरं वाच्यं यत्रापरस्तु सः ।

अभिधामूलत्वाद्वाच्यं यत्र विवक्षितमबाधितमन्यपरं व्यङ्ग्योपसर्जनीभूतं च स विवक्षितान्यपरवाच्यो नाम ध्वनिः । इह वाच्योऽर्थः स्वं रूपं प्रत्याययन्नेव व्यङ्ग्यस्य प्रकाशकः, दीप इव घटस्य ।

तत्कर्तृत्वावगमात् । अतस्ताभ्यां लक्ष्ययोरुपदेश्याप्तत्वयोस्तद्वाच्यौ संक्रमितौ । अवश्यवाच्यहिताहितत्वमनुल्लङ्घ्यवचस्त्वं च फलम् । संहतिरिति मिथः सापेक्षत्वं लक्ष्यम् । तद्वाच्यस्तत्र संक्रमितः आशु विपक्षदूषकत्वं सर्वग्राह्यैकपक्षत्वं च फलम् । कीर्तयन्हरिमिति । स्थापनं नित्यगुणविग्रहत्वं च लक्ष्यं, तद्वाच्यौ तत्र संक्रमितौ, सर्वोत्तमत्वं सर्वोपास्यत्वं च फलम् । आत्मीयाया एव धियः सर्वैर्धारणादनुपयुक्तार्थेन तत्पदेन पराप्रतार्यत्वे लक्ष्ये तद्वाच्यं संक्रमितम् । फलं त्वदुष्टपक्षोद्भावनमिति संक्षेपः । वृन्दावने गोविन्दं वीक्ष्य मथुरां व्रजता केनचित्पथि मिलितः कश्चिदुपदिश्यते—स्मेरामिति । स्मेरशब्दस्य तनुविशेषणत्वात् सर्वावयवावच्छेदेन स्मितं बोध्यते । परमकमनीयत्वं व्यङ्ग्यम् । अत्र तादृशविशेषणवैशिष्ट्येन कीर्त्यमानायास्तनोर्वीक्षणनिषेधका मा प्रेक्षिष्ठा इत्यादयः शब्दाः स्वार्थान्वयमलभमानाः स्वार्थविपरीतार्थं लक्षयन्ति । स च वृत्तौ तथैव योजितः । तं रङ्गम् । तां तनुम् । द्वितीयमभिधामूलध्वनिम् ।

स चेति । कोऽपीति । एक इत्यर्थः । लाघवात् शैघ्र्यात् । रसभावेति । रसश्च भावश्च तयो रसभावयोराभासौ च भावशान्तिश्च ता आदयो यस्य स व्यङ्ग्योऽक्रमः अलक्ष्यक्रम इत्यर्थः । मध्यमपदलोपी समासः ।

स च द्विभेद इत्याह—

कोऽप्यलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो लक्ष्यव्यङ्ग्यक्रमः परः ॥२॥

अलक्ष्येति । न खलु विभावादयो रसः, किं तु रसस्तैरभिव्यज्यत इत्यस्ति यद्यपि क्रमस्तथापि स न लक्ष्यते, लाघवात । युगपत्पद्मपत्रशतवेधवत् ।

रसभावतदाभासभावसान्त्यादिरक्रमः ।
भिन्नोरसाद्यलंकारादलंकार्यतया स्थितः ॥३॥

आदिशब्दादुदयसन्धिशवलत्वानि । स चालंकार्यतया स्थितो रसादिरलंकाररूपात्तस्माद्भिन्नोऽसंलक्ष्यक्रमः । अयमर्थः—अलंकार्योऽलंकारश्चेति रसादिर्द्वेधा । यत्र चित्तविश्रान्तिधामत्वादङ्गी तत्रालंकार्यः । स च रसनिरूपणे दर्शयिष्यते । यत्र वाक्यार्थो मुख्यो रसादिरङ्गत्वादमुख्यस्तत्र त्वलंकारो रसवदादिः । स च गुणीभूतव्यङ्ग्यनिरूपणे दर्शयिष्यत इति ।

तत्र रसस्वरूपमाह—

कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च ।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्योः ॥४॥

विभावा अनुभावास्तत्कथ्यन्ते व्यभिचारिणः ।
व्यक्तः सः तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावः स्मृतो रसः ॥५॥

लोके रत्यादेः स्थायिनो यानि ललनोद्यानप्रभृतीनि कारणादीनि तानि यदि

रसादिरङ्गत्वादिति ।

'प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गं तु रसादयः ।
काव्ये तस्मिन्नलंकारो रसादिरिति मे मतिः ॥' [ध्वन्यालोक २.५]

इति हि स्वीकृतम् ॥२॥

तत्र रसस्वरूपमिति । व्यक्त इति । व्यक्तिश्चर्वणेति पर्यायः । सा च विशेषणम् । तथा च व्यक्तिविशिष्टः स्थायी रस इत्यर्थः । एवमस्याः कार्यत्वोक्तिः संगच्छते । तेनैव साधारण्येनैव । स्मर्यते वह्निपुराणादौ परमर्षिचरणैः तदनुसारिभिरपरैश्च निबन्धकृद्भिः ।

काव्यादौ निबध्यन्ते तदा तत्तच्छब्दवाच्यतां हित्वा विभावनादिव्यापारवत्त्वादलौकिकविभावादिशब्दवाच्यानि भवन्ति। स च स्थायी साधारण्येन प्रतीतैस्तैरभिव्यञ्जितः सभ्यानां हृदि वासनात्मना संस्थितस्तेनैव सर्वहृत्संवादी चर्वणैकप्राणो विभावादिपरामर्शावधि जीवितो बहिरन्तश्च परिस्फुरन्सर्वाङ्गमिवालिङ्गन्नानन्दसिन्धुमिवावगाहयन् विगलितवेद्यान्तरोऽलौकिकचमत्कारकारी शृंगारादिको रसः स्मर्यते।

एवमन्यत्रापि उक्तं मुनिना—

'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' इति।

अस्यार्थः—विभावयत्युत्पादयति रत्यादिमिति विभावो निमित्तकारणम्। स चालम्बनोद्दीपनभेदात् द्वेधा।

यदुक्तमाग्नेये—

'विभाव्यते हि रत्यादिर्यत्र येन विभाव्यते।
विभावो नाम स द्वेधालम्बनोद्दीपनात्मकः॥' इति।

आद्योऽपि द्वेधा—विषयाश्रयभेदात्। यमुद्दिश्य रत्यादिः प्रवर्तते सोऽस्य विषयः। आश्रयस्तु तदाधारः। यत्र तमुद्दीपयति तद्वनाभ्रविद्युत्प्रभृत्युद्दीपनम्। अनु पश्चाद्भावो यस्य सोऽनुभावः कार्यम्। स च द्वेधा—स्तम्भादिः स्मितकटाक्षादिश्चेति।

एवमिति। अन्यत्र ग्रन्थान्तरे। मुनिना भरतेनैव। विभावयतीति। उत्पादयति वासनात्मना संस्थितान् रत्यादीनास्वादाङ्कुरयोग्यतां नयतीत्यर्थः। भाव उत्पत्तिः।

स च द्वेधेति। स्तम्भादयः स्वतः प्रवर्तन्त इति सात्त्विकाः। स्मितादयो बुद्धिपूर्वका उत्पद्यन्त इत्यनुभावाः कथ्यन्ते कैश्चित्। स्वतो धीपूर्वकत्वं चेति धर्मभेदाद्धर्मिभेदः श्रीमता मुनिना। मुनीन्द्रेण तु भावबोधकत्वरूपधर्मैक्यादुभयेऽप्यनुभावाः संमता इति बोध्यम्[1]।

---

१. विशेषेणेति क, ख।

तदुक्तम्—

'ते स्तम्भस्वेदरोमाञ्चाः स्वरभङ्गोऽथ वेपथुः।
वैवर्ण्यमश्रुप्रलय इत्यष्टौ सात्विकाः स्मृताः॥
स्मितं गीतं कटाक्षश्च भुजक्षेपश्च हुंकृतिः।
तनुमोटनजृम्भादिश्चानुभावः प्रकीर्त्यते॥' इति।

विशेषेणाभिमुख्येन स्थायिनं प्रति चरतीति व्यभिचारी। संचारयति[1] भावस्य गतिमिति संचारी। संचारी चैष रत्यादेः सहायभूतो निर्वेदादिः। एषां संयोगात्स्थायिनि संबन्धाद्रसस्य निष्पत्तिरभिव्यक्तिर्ज्ञप्तिः पुष्टिश्च क्रमादिति।

स च रसो नानुकार्यादौ—लौकिकत्वात्पारिमित्याद् भयादिसद्भावाच्च। न चानुकर्त्रादौ जीविकार्थमनुकृत्यादौ प्रवृत्तेः। किं तु सभ्येष्वेव सवासनेषु तत्तन्निबन्धनचातुरीभिस्तत्र अलौकिकत्वप्राप्तेः।

किं च अलौकिकी हि रसस्थितिः। यत्र विभावादयोऽपरिज्ञातविशेषाः साधारण्येन स्फुरन्ति। यदुक्तं मुनिना—

संबन्धादिति। विभावेनोत्पाद्योत्पादकभावरूपात्। अनुभावेन गम्यगमकभावरूपात्। व्यभिचारिणा पोष्यपोषकभावरूपाच्चेत्यर्थः।

'रसस्य निष्पत्तिरुत्पत्तिरभिव्यक्तिः पुष्टिश्च' इति भट्टलोल्लटः। 'स्थायिनो विभावादिभिः सह व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावात् संबन्धात्। विभावादीनां मिथः संपर्करूपाद्वा रसस्य निष्पत्तिरभिव्यक्तिरित्यभिनवगुप्तः।

स चेति। अनुकार्योऽभिनेयः। आदिनाभिधेयश्च नलादिः। लौकिकत्वात् प्राकृतत्वात्। पारिमित्यात् परिच्छेदात्। भयं च शत्रुकृतं कालकृतं च। अनुकर्ताभिनेता। आदिशब्दादभिधाता च। अनुकृतिरभिनयः। आदिशब्दादभिधानं च। तत्तदिति। काव्यनिबद्धचातुरीमहिम्ना विभावादावलौकिकत्वादिस्फुरणादित्यर्थः। किं चेति। अपरिज्ञातो विशेषो दमयन्तीत्वादिर्येषाम्। स्फुरन्ति कामिनीत्वादिसामान्येनेत्यर्थः।

शक्तिरस्ति विभावादेः कापि साधारणीकृतौ ।
प्रमाता तदभेदेन स्वं यथा प्रतिपद्यते ॥' इति ।

साधारण्यं च स्वपरसंबन्धनियमानिर्णयः । यस्मान्नृणामप्यब्धिलङ्घनादौ प्रवृत्तिः सभ्यानां त्रपातङ्काद्यनुदयश्च । यदुक्तम्:—

'स रत्यादिर्विभावाद्यैरेकीभावमयोऽपि सन् ।
ज्ञप्त तत्तद्विशेषश्च तत्तदुद्भेदतो भवेत् ॥' इति ।

ननु रत्यादीनां चित्तावस्थाविशेषत्वाद्विभावादिसंभिन्नानां तेषां कथमानन्दात्मक-रसरूपतेति चेत्, उच्यते । आत्मैवानन्दांशे विभावादिभिर्भग्नावरणस्तद् व्यञ्जितरत्याद्य-वच्छिन्नस्तत्सन्निभश्च रसस्तस्मान्न काप्यनुपपत्तिरिति लोके । यत्र तु भगवद्रतिरेव विभा-वादिसंभिन्ना रसस्तत्र रतेर्ह्लादिनीसंविद्वृत्तिभूतत्वात्तदालम्बनादीनां च ज्ञानसुखात्मक-त्वात् । हासादीनामपि रत्यनुगृहीतत्वात्तथाभूतरसरूपता सुसिद्धैव । लौकिकत्वादिहेतु-विरहादिहानुकार्यादिष्वपि रसः । अपि च विभावादेः किञ्चिन्मात्रस्य यत्र स्थितिस्तत्रान्य-समाक्षेपात्पूर्तिः । लक्ष्याण्यूह्यानि ।

अथ तद्विशेषानाह—

श्रृंङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः ।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्याष्टौ नाट्ये रसा स्मृताः ॥६॥

स्वपरेति—स्थाय्यनुभावादीनां संबन्धिविशेषानवच्छेदः । तेन ममैव न ममैवेति, परस्य न, परस्य चेत्यसाधारण्यं विहाय सर्वसाधारण्येन स्थायिभावाद्याः प्रतीयन्ते । यस्मादिति । तत्तदुद्भेद-तस्तेषां विभावादीनामुद्भासात् । यथा च मूलसिद्धान्तेन सहाविरोधः ।

नन्विति । संभिन्नानां मिलितानाम् । अयमाशयः चितस्याहंकार्यत्वाद्विकारभूतो रत्यादिः स्थायी नानन्दात्मा, तद्विभावभूतो ललनावनाभ्रप्रभृतिरपि पञ्चभूतात्मैव । तथा च सर्वं जडमेवेति नानन्दरूपता रसस्य इति । अत्र समाधिः—उच्यते इति । ज्ञानानन्दरूपो ह्यात्माविद्यया संवृतस्तस्या-नन्दांशे या संवृतिः सा स्वभावनाप्रपञ्चैर्विभावैर्विभज्यते तद्व्यञ्जितया स्वरत्या संवलित आनन्दः प्रसरतीति रसस्यानन्दरूपतेतिभावः ।

यत्र त्विति—भगवद्रतिरूपा भक्तिरानन्दात्मा । 'आनन्दघना विज्ञानघना सच्चिदानन्दैकरसे भक्तियोगे तिष्ठति' इति श्रुतेः । तद्विभावभूतानां च स्वप्रकाशचिदानन्दरूपत्वम् ।

तत्र संभोगो विप्रलम्भश्चेति शृंगारस्य द्वौ भेदौ। तत्रानुरक्तयोर्यूनोरन्योन्यालिङ्ग-नादिहेतुभूता रतिर्विभावादिसंयोगात्संभोगः। स च मिथो वीक्षा श्लेषाधरचुम्बनाद्यनन्त-भेदत्वादपरिच्छेद्य इत्येक एव गण्यते।

यथा—

'धृते पाणिद्वन्द्वे झटिति झणितं रत्नवलयै-
र्हृते नीविग्रन्थौ मुखरितममन्दं रसनया।
प्रियायाः स्वानन्दप्रतिहतधियः किं त्वपघनो
घनोत्तृष्णं कृष्णं प्रतिसमतनोत्तर्जनमिव॥'

अत्र मिथो रतिः स्थायी। कृष्णः प्रियः च मिथस्तदालम्बनः। उद्दीपनं मिथोलाव-ण्यादि विजनस्थानादि च। अनुभावो हस्तग्रहादिः। व्यभिचारी श्रमजाड्यादिः।

यथा वा—

'दोर्भ्यां संयमितः' पयोधरभरेणापीडितः पाणिजै—
राविद्धो दशनैः क्षताधरपुटः श्रोणीतटेनाहतः।

'तमेकं किल गोविन्दं सच्चिदानन्दविग्रहम्।
श्रीः परा प्रकृतिः प्रोक्ता चेतना विष्णुसंश्रया।
सत्त्वं तत्त्वं परत्त्वं च तत्त्वत्रयमहं किल॥
त्रितत्त्वरूपिणी सापि राधिका मम वल्लभा।
पञ्चयोजनमेवास्ति वनं मे देहरूपकम्॥'

इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यः। ऊह्यानीतिः—

'त्वन्मुखं यदि मुग्धाक्षि मुद्रिता शशिनः कथा।
त्वन्नेत्रे यदि रम्भोरु शोच्यमम्भोरुहं बहु॥

अत्र नायिकारूपो विभावो वर्णितः। अनुभावसंचारिणोस्त्वाक्षेपात्सामग्रीकात्स्र्न्यम्।

नायकेनारब्धं संभोगमुदाहरति—धृत इति। प्रिययो रजनीवृत्तमिदं सखीं प्रति सख्याह—झणितं मुखरितमिति च भावे निष्ठा। अपघनोऽङ्गम्।

अथ नायकारब्धं तमाह—दोर्भ्यामिति। ललिताद्याः सख्यः प्रेष्ठयोश्चेष्टां जालिकारन्ध्रा-

हस्तेनानमितः कचेऽधरसुधापानेन संमोहितः
कान्तः काममपि तृप्तिमाप तदहो कामस्य वामा गतिः ॥'

यूनोरयुक्तयोर्युक्तयोर्वा रतिरभीष्टालिङ्गनाद्यलाभात्प्रकृष्टा विभावादियोगाद्विप्रलम्भः। स च पूर्वरागमानप्रवासप्रेमवैचित्र्यभेदाच्चतुर्विधः। संगमात्पूर्वं दर्शनादिजा रतिः पूर्वरागः।

यथा—

'इन्दीवरोदरसहोदर मेदुरश्री—
वासो द्रवत्कनकवृन्दनिभं दधानः।
आमुक्तमौक्तिकमनोहरहारवक्षाः
कोऽयं युवा जगदनङ्गमयं करोति ॥'

यथा वा—

'कनकाद्रिनिकेतकेतकी कलिता कल्पकलेवरद्युतिः।
हृदि सा मुदिरालिमेदुरे चपला मां किमलं करिष्यति ॥'

एकत्र सतोरनुरक्तयोरपि यूनोरभीष्टाऽऽलिङ्गनादिविरोधी भावो विभावादियोगान्मानः। स चेर्ष्याप्रणय हेतुको द्वेधा। तत्र प्रेयसा विपक्षादेवैंशिष्ट्ये पूर्वः।

द्विदित्वा मिथः कथयन्ति। कान्तः श्री हरिः। विभावनाविशेषोक्तिर्वालंकारः। अर्थान्तरन्यासश्चेत्यनुग्राह्यानुग्राहकभावः। यूनोरिति। प्रकृष्टा प्रकर्षं प्राप्ता।

रतिर्द्वेधा—कान्तविषया कान्ताविषया च। तत्राद्यां दर्शयति—

इन्दीवरेति। विशाखां श्रीराधाह। अमुक्तानि ग्रथितानि मौक्तिकानि तैर्मनोहरो हारो यत्र तथाभूतं वक्षो यस्य सः, अनङ्गमयं अनङ्गाविष्टम्। जगत् तद्वर्तितरुणीः।

अथ द्वितीयं दर्शयति—कनकेति कृष्णोक्तिः। केतक्याः कनकाद्रिप्रभवत्वेन सुष्ठुगौरिमलाभः। तां विना ममं रूपयौवनसंपत्तिरपार्थैवेति भावः।

एकत्रैति। एकस्मिन्स्थान इत्यर्थः। वैशिष्ट्ये उत्कर्षे।

यथा—

'राधामोहनमन्दिरादुपगतश्चन्द्रावलीमूचिवान्
राधे ! क्षेममिहेति तस्य वचनं श्रुत्वाह चन्द्रावली ।
कंस, क्षेममये विमुग्धहृदये कंसः क्व दृष्टस्त्वया
राधा क्वेति विलज्जितो नतमुखः स्मेरो हरिः पातु वः ॥'

परस्तु प्रेमस्वाभाव्यात् । यदुक्तम्—

'नदीनां च वधूनां च भुजङ्गानां च सर्वदा ।
प्रेम्णामपि गतिर्वक्रा कारणं तत्र नेष्यते ॥' इति ।

यथा—

'अहमिह विचिनोमि त्वद्गिरैव प्रसूनं
कथय कथमकाण्डे चण्डि वाचंयमासि ।
विदितमुपधिनालं राधिके, शाधि केन
प्रियसखि कुसुमेन श्रोत्रमुत्तंसयानि ॥'

सङ्गविच्युतिः प्रवासः । तज्जत्वाद्विप्रलम्भोऽपि तथोच्यते । स च किंचिद्दूरसुदूरगमनात् द्वेधा ।

तत्राद्यो यथा—

'धन्याः स्म मूढमतोऽपि हरिण्य एता
या नन्दनन्दनमुपात्तविचित्रवेषम् ।

श्रीकृष्णचन्द्रावल्योरुक्तिप्रत्युक्ती बिल्वमङ्गलोऽनुवदति । राधेति । राधाया यन्मोहनमन्दिरं तस्मादित्यर्थः । अत एव सर्वत्र राधामयतावभासः । राधे इति चन्द्रावलीं प्रतिसंबोधनम् । कंसेति तु कृष्णं प्रति । मच्छत्रुनाम्ना यथाहं त्वया सम्बोधिता तथा त्वच्छत्रुनाम्ना त्वं मया संबोध्यसे इति भावः ।

अहमिति । श्रीकृष्णोक्तिः । उपधिना कपटेन । शाधि अनुशिक्षय । सङ्गविच्युतिरिति । तथेति । निमित्तनैमित्तिकयोरैक्योपचारादित्यर्थः ।

आकर्ण्य वेणुरणितं सहकृष्णसाराः ।
पूजां दधुर्विरचितां प्रणयावलोकैः ।'

यथा वा—

'मधुरया गिरा वल्गुवाक्यया बुधमनोज्ञया पुष्करेक्षण !
विधिकरीरिमा वीर मुह्यतीरधरशीधुनाप्याययस्व नः ।''

द्वितीयस्तु भावी भवन्भूतश्चेति त्रिधा । क्रमेणोदाहरणानि—

'एष क्षत्ता व्रजनरपतेराज्ञया गोकुलेऽस्मिन्—
बाले प्रातर्नगरगतये घोषणामातनोति ।
दुष्टं भूयः स्फुरति च बलादीक्षणं दक्षिणं मे
तेन स्वान्तं स्फुरति चटुलं[1] हन्त भाव्यं न जाने ॥'

'अहो विधातस्तव न क्वचिद् दया संयोज्य मैत्र्या प्रणयेन देहिनः ।
तांश्चाकृतार्थान्वियुनङ्क्ष्यपार्थकं विचेष्टितं तेऽर्भक चेष्टितं यथा ॥'

'ताः किं निशाः स्मरति यासु तदा प्रियाभिः
वृन्दावने कुमुदकुन्दशशाङ्करम्ये ।
रेमे क्वणच्चरणनूपुर रासगोष्ठ्याम्—
अस्माभिरीडितमनोज्ञकथः कदाचित् ॥'

धन्या इति । गोप्यो मिथ आहुः । या हरिण्यो वेणुरणितमाकर्ण्य नन्दनन्दनं प्रति पूजां दधुः । मधुरयेति । कृष्णेऽन्तर्हिते गोप्यस्तं समवेता गायन्ति । हे वीर, आप्यायस्व तृप्ताः कुरु ।

एष क्षत्तेति । मुरारेर्मथुराप्रस्थानं संभावयन्ती काचिद्वयस्यामाह । भाव्यं भविष्यवृत्तम् । मथुरां गच्छति कृष्णे गोप्यो विधातारमाक्रोशन्ति अहो इति । अकृतार्थानप्राप्तभोगान् । वियुनङ्क्षि वियुक्तान्करोषि । तस्मात् तावत्तव दया । मूर्खश्च त्वमित्याहुरपार्थकमिति ।

ताः किमिति । माथुरमुद्धवं प्रति गोपीनां प्रश्नः । कुमुदैः कुन्दैः शशाङ्केन च रम्ये वृन्दावने, क्वणन्ति चरणपुराणि यत्र तथाभूतायां रासगोष्ठ्याम् अस्माभिः प्रियाभिरीडिता स्तुता मनोज्ञा

---

१. चहलं ख ।

प्रिय सान्निध्येऽपि रागस्वाभाव्याद्विश्लेषधियार्तिः प्रेम वैचित्र्यम् ।

यथा—

'कुररि विलपसि त्वं वीतनिद्रा न शेषे
स्वपिति जगति रात्र्यामीश्वरो गुप्तबोधः ।
वयमिव सखि कच्चिद्गाढनिर्भिन्न चेता
नलिननयनहासोदारलीलेक्षितेन ॥'

विप्रलम्भोऽयमानन्दात्मैव ह्लादिनीसंवित् । तथापि दुःखादिशब्देनोल्लेखस्तस्य लवणार्द्रकभक्षणादिव दुःसहत्वात् न तु प्रतिकूलवेद्यत्वादिति ।

एष शृंगारो वारणादियोगे प्रकृष्यति ।

यदुक्तं मुनिना—

'बहु वार्यते यतः खलु यत्र प्रच्छन्नकामुकत्वं च ।
या च मिथो दुर्लभता सा परमा मन्मथस्य रतिः ॥' इति

रुद्रेण च—

'वामता दुर्लभत्वं च स्त्रीणां या च निवारणा ।
तदेव पञ्चबाणस्य मन्ये परममायुधम् ॥' इति ।

कमनीया कथा यस्य सः । तदा यासु निशासु रेमे ताः कदाचित्कृष्णः किं नु स्मरति न वेति । प्रियेति । विश्लेषधिया विच्छेदभ्रान्त्या प्रेमवैचित्त्यवत्यः पट्टमहिष्यः कुररी वीक्ष्य वदन्ति ।

कुररीति । हे कुररि, ईश्वरो द्वारकानाथो भगवान्स्वपिति, त्वं तु तन्निद्रामपनयन्ती विलपसि, न शेषे न स्वपिषि । तदनुचितमित्यर्थः । अथ वा तवापि न दोष इत्याशयेनाहुः नलिननयनस्य तस्य हासेन सहितं यदुदारलीलेक्षितं तेन कदाचिद्गाढं निर्विद्धचेतास्त्वमसि । विप्रलम्भः शृङ्गारपुष्टिकृदेव, न तु शृङ्गाररसत्वं तस्येति केनचिदाहुः । तान्निराकुर्वन्नाह । विप्रलम्भोऽयमिति । दुःखादिशब्देनेति । गोप्यः कृष्णे वनं याते इत्यादौ निन्युर्दुःखेन वासरानित्यादि । आदिपदादुष्णक्षीरतप्तेक्षोर्वास्वादनं ग्राह्यम् । एष इति । वारणमत्र परोढालम्बनकत्वादित्येके । स्वोढालम्बनकत्वेऽपि शर्मिष्ठारताविव तत्संभवेदित्यन्ये । एवमेव संमतियुगलं व्याक्षते—यदुक्तमिति । ग्रन्थान्तरे इति ज्ञेयम् । वह्विति । यतो रतेर्हेतोः । यत्र रतौ सत्यां या च रतिर्मिथोदुर्लभतामयी । रुद्रेण तदाख्येनाचार्येण ।

अथ हास्यः—

'यास्याम्यस्य न भीषणस्य सविधं जीर्णस्य शीर्णाकृते—
र्मातर्नेष्यति मां पिधाय कपटादाधारिकायामसौ ।
इत्युक्त्वा चकिताक्षमद्भुतशिशावुद्वीक्षमाणे हरौ
हास्यं तस्य निरुन्धतोऽप्यतितरां व्यक्तं तदासीन्मुनेः ॥'

करुण :—

'तं नागभोगपरिवीतमदृष्टचेष्ट—
मालोक्य तत्प्रियसखाः पशुपाः भृशार्ताः ।
कृष्णेऽर्पितात्मसुहृदर्थं कलत्रकामा
दुःखाभिशोकभयमूढधियो निपेतुः ॥'

रौद्रः—

'हरौ श्रुतिशिरः शिखामणिमरीचिनीराजित—
स्फुरच्चरणपङ्कजेऽप्यवमतिं व्यनक्त्यत्र यः ।
अयं क्षिपति पाण्डवः शमनदण्डघोरं हठात्
त्रिरस्य मुकुटोपरि स्फुटमुदीर्य सव्यं पदम् ॥'

वीर :—

'गुणं कर्णाकृष्टं करकिसलयं तूणशिखरे
धनुष्चक्रीभूतं निपतदिषु वृन्दं तत इतः ।

यास्यामीति । गर्गं वीक्ष्य कृष्णो यशोदामाह सर्वज्ञोऽप्यज्ञवच्चेष्टत इति हास्यव्यक्तिः ।

तमिति । परीक्षितं प्रति शुकोक्तिः । नागः कालियः स प्रियो येषां ते तत्प्रियाः । ते च ते सखायश्चेति तस्य प्रियसखा इति वा । पशुपास्तेभ्यः परे गोपाः ।

हराविति । भगवन्निन्दकं चैद्यमुद्दिश्य सहदेवोक्तिः । व्यनक्ति व्यञ्जनयापि प्रकाशयति । अयं सहदेवः । शमनो यमः । त्रिर्वारत्रयम् । सव्यं वामम् ।

गुणमिति । शुकः परीक्षितं प्रति मगधेन्द्रयुद्धं वर्णयति । समं युगपत् आजौ सङ्ग्रामे । तुल्य-

रिपून्भूमौ सुप्तान्कलयति समं देवनिकरे
जरासंधस्याजौ जयति भुजवीर्यंभुरभिदः ॥'

युद्धदानदयाधर्मपूर्वकत्वाद्वीरश्चतुर्विधः । सर्वत्रोत्साहः स्थायी । लक्ष्याण्यूह्यानि ।

भयानकः—

'दंष्ट्राकोटि[1]कठोरकूटकटुना ब्रह्माण्डभाण्डस्थितं
सर्वं चर्वयसीव हन्त वदनेनोद्गीर्णपूर्णत्विषा ।
जिह्वाग्रेण समग्रमुग्रमहसा लेलिह्यसे रोदसी
त्रस्तं मामिह पाहि पाहि भगवन्पार्थोऽप्यपार्थोऽभवम् ॥'

वीभत्सः—

'घ्राणोद्घूर्णकपूतिगन्धविकटे कीटाकुले देहली—
स्रस्तव्याधितयूथगूथघटनानिर्धूतनेत्रायुषि ।
कारानामनि हन्त मागधयमेनास्मी वयं नारके
क्षिप्तास्ते स्मृतिमाकलय्य नरकध्वंसिन्निह प्राणिमः ॥'

अद्भुतः—

'चित्रं बतैतदेकेन वपुषा युगपत्पृथक् ।
गृहेषु द्व्यष्टसाहस्रं स्त्रिय एक उदावहत् ॥'

योगितालंकारः । ऊह्यानीति । रसामृतसिन्धुप्रभृताविति बोध्यम् ।

दंष्ट्रेति । श्रीकृष्णं प्रति विश्वरूपवीक्षणत्रस्तस्यार्जुनस्योक्तिः । दंष्ट्राणां कोटयः कोटिसंख्या दंष्ट्रास्तासां कठोराणि यानि कूटानि अग्राणि तैः कटुना तीव्रेण । रोदसी द्यावाभूमी ।

घ्राणेति । जरासंधनिबद्धानां राज्ञां कृष्णं प्रति निवेदनपत्रम् । देहल्यां स्रस्ताः पतिता ये व्याधिता रोगिणस्तेषां यूथस्य गूथघटनाभिः शकृत्संयोगैः निर्धूतं नेत्रायुर्यत्र तथाभूते कारानामनि नारके निःक्षिप्ता वयं भवतः स्मृतिमाकलय्य प्राणिमः जीवामः हे नरकध्वंसिन् ।

चित्रमिति । नारदविस्मयोक्तिः । एकेन वपुषा, न तु कायव्यूहप्रकाशेन । युगपत् न तु समय-भेदेन । पृथक् न तु वपुर्दैर्घ्येण । अत्र केचिदाचक्षते—ननु वियोगादिषु स्थायिता रसता च प्रतीयते ।

---

१. कोष्टि ख ।

एषां स्थायिभावानाह—

'रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः ॥७॥

क्रमादिति बोध्यम्। सामान्यलक्षणं तूक्तम्—

'अविरुद्धान्विरुद्धांश्च भावान्यो वशतां नयन्।
सुराजेव विराजेत स स्थायीभाव उच्यते ॥' इति।

अनुभावेषु सात्त्विकाः। यथा—

'स्विन्ना गद्गदभाषिणी पुलकितास्तच्चास्फुरद्वेपथुः
साश्रुम्लानरुचिर्यदद्य जलदालोकेऽभवद्भामिनी।
तन्मन्ये स्फुटमिन्द्र नीलमहसः कस्यापि लीलानिधे—
र्वृन्दारण्यविलासिनो द्युतिभरैरेषा पराभूयत ॥'

करुणबीभत्सभयानकेषु तु नानन्दात्मकत्वाभावात्तत्ता समस्ति। आलम्बनप्राप्त्याशासंभवात्। अहृद्यस्फुर्त्या हृद्यालम्बनस्यास्फुरणात्। भयेनावरणात्।

मैवम्। अनिष्टाशङ्कात्मकदुःखमयेऽपि करुणे स्वत परमानन्दरूपया रत्या गर्गादिसर्वज्ञशवयविश्वस्तिज्ञप्तिताशया च लोकोत्तरचमत्कारकारिविभावस्फूर्तिप्राप्तेः परमानन्दरूपता स्यात्। बीभत्से तादृश्या रत्या हृद्यस्फूर्तिमुपमर्द्य तादृशविभावस्फूर्तिकारिण्या सर्वज्ञोक्त्या च। भयानकेपि तादृशरत्या प्राप्त्याशया च तादृशविभावादिस्फूर्तिप्राप्तेः सा स्यात्' इति।

एषामिति। शृङ्गारादीनामष्टानाम्। तत्र चित्तानुकूलेऽर्थे चित्तप्रवणता रतिः। सा च मनोनुकूलस्य कान्तत्वे शृङ्गारस्थायीति बोध्यम्। विकृताकृतिवाग्वेशादिभिश्चित्तविकासो हासः। इष्टवियोगादिना चितक्लेशातिशयः शोकः। प्रातिकूल्यादिना चित्तज्वलनं क्रोधः। श्लाध्यफले युद्धादौ स्थेयसी सत्वरा च चित्तासक्तिरुत्साहः। घोरवीक्षापराधादिना चितात्तिचापल्यं भयम्। अहृद्यानुभवाच्चित्तमुद्रणं जुगुप्सा। अलौकिकवीक्षादिना चित्तविस्तृति[1] विस्मय। क्रमादिति। शृङ्गारादिरसक्रमेणेत्यर्थः। उक्तमिति। श्रीरूपचरणैरिति शेषः। अविरुद्धान् हासादीन्। विरुद्धान्

---

१. विस्मृतिः क।

अथ व्यभि चारिणः—

निर्वेदग्लानिशङ्काख्यास्तथासूयामदश्रमाः ।
आलस्यं चैव दैन्यं च चिन्ता मोहः स्मृतिर्धृतिः ॥८॥

शोकादीन् । स भावः स्थायीत्यन्वयः । स्विन्नेति । पराभूयते इति । प्रलयोऽनुसंधेयः । तेनाष्टसंख्या-पूर्तिः । लक्षणं तु तदनुयायिभिरन्यैः कृतमस्ति । तद्यथा—

तत्त्वज्ञानापदीर्ष्यादेर्निर्वेदः स्वावमाननम् ।
दैन्यचिन्ताश्रुनिश्वासवैवर्ण्योच्छ्वसितादिकृत् ।
रत्यायाक्षमनस्तापक्षुत्पिपासादिसंभवा ।
ग्लानि निष्प्राणताकम्पकार्श्यानुत्साहनादिकृत् ।
परक्रौर्यात्मदोषाद्यैः शंकाऽनर्थस्य चिन्तनम् ।
वैवर्ण्यकम्पवैमुख्यपार्श्वालोकास्यशोषकृत् ।
परोत्कर्षाक्षमासूयागर्वदौर्जन्यमन्युजा ।
क्रोधावमानभ्रूभेददोषोद्घोषेङ्गितादिकृत् ।
संमोहानन्दसंभेदः स्खलदङ्गवचो गतिः ।
मधुपानादिजो ज्ञेयः मदो विविधभावकृत् ।
खेदः श्रमोऽध्वरत्यादेः श्वास निद्रा भ्रमादिकृत् ।
अलस्यं सति सामर्थ्ये श्रमतृप्त्यादिसंभवः ।
क्रियाविमुखता तत्र जृम्भा तन्द्रादयो मताः ।
दौर्गत्यादेरनौजस्यं दैन्यं मलिनतादिकृत् ।
ध्यानं चिन्ता हितानाप्तेरनिष्टाप्तेश्च कीर्त्यते ।
अत्र वैवर्ण्यभूलेखश्वासाधोमुखतादयः ।
मोहो हृन्मूढता हर्षविषादभयजात्र हि ।
शून्येन्द्रियत्वभूपातभ्रमणादर्शनादयः ।
बोधःपूर्वानुभूतस्य स्मृतिः सदृशवीक्षया ।
भवेदत्र शिरः कम्पभ्रूसमुल्लसनादिकम् ।
धृतिः स्यात्पूर्णताज्ञानदुःखभावोत्तमाप्तिभिः ।
अप्राप्तातीतनष्टार्थानभिसंशोचनादिकृत् ।

व्रीडा चपलता हर्ष आवेगो जडता तथा ।
गर्वो विषाद औत्सुक्यं निद्रापस्मार एव च ॥९॥
सुप्तं विबोधो मर्षश्चाप्यवहित्थमथोग्रता ।
मतिर्व्याधिस्तथोन्मादस्तथा मरणमेव च ॥१०॥

पूर्णता चित्ताचाञ्चल्यमित्यर्थः ।

दुराचारादिना धाष्ट्यार्च व्रीडाधोमुखतादिकृत् ।
मात्सर्यद्वेषरागादेश्चापलं त्वनवस्थितिः ।
तत्र भर्त्सनपारुष्यस्वच्छन्दाचरणादयः ।
मनःप्रसादो लाभादेर्हर्षोऽश्रुपुलकादिकृत् ।
आवेगः प्रियःवीक्षादेश्चित्तसंभ्रम उच्यते ।
तत्र विस्मरणं स्तम्भः स्वेदः कम्पः स्खलद्गतिः ।
जाड्यमप्रतिपतिः स्यादिष्टानिष्टेक्षणादिभिः ।
अत्रानिमिषता तूष्णीम्भावविस्मरणादयः ।
गर्वोऽभिजनलावण्यधनैश्वर्यादिभिर्मदः ।
अवज्ञासविलासाङ्गदर्शनाविनयादिकृत् ।
प्रारब्धकार्यासिद्ध्यादेर्विषादः सत्त्वसंक्षयः ।
निश्वासोच्छ्वासहृत्तापसहायान्वेषणादिकृत् ।
कालाक्षमत्वमौत्सुक्यमिष्टेप्साप्तिस्पृहादिभिः ।
तत्रोच्छ्वासत्वराश्वासहृत्तापस्वेदविभ्रमा ।
चेतः संमीलनं निद्रा क्लमश्रममदादिभिः ।
तत्र जृम्भाङ्गभङ्गाक्षिमीलनोच्छ्वसनादयः ।
दुःखोत्थधातुवैषम्याद्युद्भूतश्चित्तविप्लवः ।
अपस्मारोऽत्र भूपातफेनस्रुत्यादयो मताः ।
सुप्तं निद्राभ्युपेतस्य विषयानुभवस्तु यः ।
इन्द्रियोपरतिश्वासनेत्रसंमीलनादिकृत् ।
विबोधो मोहनिद्रादिविध्वंसाच्चेतनागमः ।
जृम्भाङ्गभङ्गनयनमीलनाङ्गावलोककृत् ।

त्रासश्चैव वितर्कश्च विज्ञेया व्यभिचारिणः ।
त्रयस्त्रिंशदमी भावः समाख्यातास्तु नामतः ॥११॥

एवत्रात्मन्ययोग्यतामननं निर्वेदः । चित्तसभ्रम आवेगः । कालयापनाक्षमत्वमौत्सुक्यम् । दुःखोत्थधातु वैषम्याद्युत्था चित्तविलुप्तिरस्मारः । सुप्तं स्वप्नः । आकारगुप्तिरवाहित्थम् । चण्डत्वमुग्रता । अर्थनिर्धारो मतिः । हृद्भ्रान्तिरुन्मदः । स्पष्टमन्यत् । लक्ष्याण्यूह्यानि । निर्वेदस्याभद्रप्रायस्यापि प्रागुपादानात्तस्य शान्तस्थायित्वं विहितम् ।

अधिक्षेपापमानादेरमर्षोऽभिनिवेशिता ।
तत्र स्वेदशिरःकम्पनेत्ररागाङ्गविक्रियाः ।
भयगौरवलज्जाद्यैर्विक्रियागोपनं तु यत् ।
अवहित्थं तदत्रान्यभाषणालोकनादयः ।
द्विष्टेऽपराधदौर्मुख्यचौर्यैश्चण्डत्वमुग्रता ।
अत्र स्वेदशिरःकम्पतर्जनोत्ताडनादयः ।
शास्त्रादेः सम्यगालोकादर्थनिर्धारणं मतिः ।
अत्र कर्त्तव्यकरणं संशयोच्छेदनादयः ।
दोषोद्रेक वियोगाद्यैर्व्याधयो ये ज्वरादयः ।
इह तत्प्रभवो भावो व्याधिरित्यभिधीयेते ।
अत्र स्तम्भः श्लथाङ्गत्वं श्वासोत्तापक्लमादयः ।
उत्कण्ठा हर्षशोकादेरुन्मादश्चित्तसंभ्रमः ।
अस्थानहासरुदितगीतप्रलपनादिकृत् ।
जीवस्योद्गमनारम्भो मरणं कीर्त्यते बुधैः ।
संमोहकरणग्लानिगात्रविक्षेपणादिकृत् ।
निर्घातविद्युदुल्काद्यैस्त्रासोऽत्रोत्कम्पितादयः ।
तर्कोविचारः संदेहाद्भ्रूशिरोङ्गुलिनर्तकः ।

अस्पष्टार्थानि कतिचित्पदानि व्याचष्टे—एवति । इहेति । पश्चान्निर्देश्यत्वेऽपि प्राङ्निर्देशः प्राधान्यबोधाय । तेन शान्तस्थायी स इति भरतः । श्रीव्यासस्तु शमस्तत्स्थायीत्याह । स च

तमेवाह—

निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः ।

यथा—

'वयो जीर्णं हा धिक् तदपि न हि जीर्णो मदभरः
श्लथं चर्माङ्गेभ्यस्तदपि न हि रागः श्लथ इव ।'
'रदाः शीर्णाः शीर्णस्तपि न हि मोहः कथमयं
जनः कंसारातेश्चरणकमलाय स्पृहयतु ॥'

अत्र निर्वेदः स्थायी संसारदुःखमालम्बनम्, पुण्यतीर्थाद्युद्दीपनम् भोगानासक्तिरनुभावः, मत्यादिः संचारी ।

ननु दास्यसख्यवात्सल्याख्याः त्रयो रसाः परे सन्त्यनुभूयन्ते च तज्ज्ञैः, ततः कथमत्र नवैवेति चेत्, सत्यम् । तथापि नात्र ते निरूप्यन्ते । 'नवैव रसाः परे तु भावाः' इति स्वतन्त्रेच्छेन मुनिना परिभाषणात् ।

अथ भावमाह—

रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः ॥१२॥

भावः प्रोक्तः ।

अञ्जितः प्रधानीभूतः ।

निस्तरङ्गसुखमयीशविषया चित्तवृत्तिरेव[1] । शमो मन्निष्ठत्ताबुद्धेः इत्युक्तेः । तमवेति । निर्वेदस्थायिनमेव । वय इति । निर्विण्णस्य निजं प्रति शोचनम् । रदाः दन्ताः । तत्स्पृहायामहमयोग्य इत्यर्थः । शमस्थायिकस्त्वेष रसामृते द्रष्टव्यः ।

नन्विति । मुनिना भरतेन । श्रीव्यासेन तु द्वादशापि ते दर्शिताः 'भल्लानामशनिः' इत्यादौ ।

रतिरिति । तथा चार्थे अञ्जितो व्यक्ति नीतः प्रधानीभूत इति भावः ।

---

१. एवम् इति क ।

तत्र देवविषया यथा—

'दिवि वा भुवि वा ममास्तु वासो नरके वा नरकान्तक प्रकामम् ।
अवधीरितशारदारविन्दौ चरणौ ते मरणेऽपि चिन्तयामि ॥'

यथा वा—

'बीजं मुक्तितरोरनर्थपटलीनिस्तारकं तारकं
धाम प्रेमरसस्य वाञ्छितधुरासंपारकं पारकम् ॥'
'एतद्यत्र निवासिनामुदयते चिच्छक्तिवृत्तिद्वयं ।
मथ्नातु व्यसनानि माथुरपुरी सा वः श्रियं च क्रियात् ॥'

ननु भगवतः परदेवतात्वात्तद्रतिः सर्वत्र भावः स्यात् । मैवम् । तस्मादेव तस्य भावकचित्तानुसारित्वात् । यदाह स्वयमेव—

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।' इति ।

अतएव रसात्मकत्वं तस्य श्रूयते 'रसो वै सः' इति । आदिशब्दान्मुनिगुरुनृपपुत्रादिविषया ।

यथा—

'जयति पराशरसूनुः सत्यवती हृदयनन्दनो व्यासः ।
यस्यास्यकमलगलितं वाङ्मयममृतं जगत्पिबति ॥'

दिवीति । सर्वत्र भगवतः पादस्मृतिं कश्चित्किंकरः प्रार्थयते । अवधीरितं तिरस्कृतम् ।

बीजमिति । कश्चिन्माथुरस्तत्त्वज्ञो विप्रः स्वयजमानानाशिषाभिनन्दति । तारकं श्रीराममन्त्रः । पारकमष्टादशार्णो गोपालमन्त्रः । व्यसनानि लिङ्गपर्यन्तानि । श्रियं प्रेमसंपत्तिम् ।

नन्विति । सर्वत्र कान्तालम्बनतायामपीत्यर्थः । तस्मात्परदेवतात्वादेव । यदाहेति ।

'येषामहं प्रिय आत्मा सुतश्च सखा गुरुः सुहृदो दैवमिष्टम्' ।

इति कपिलश्च । अत एवेति । श्रूयते तैत्तिरीयोपनिषदि । वै प्रसिद्धौ स भगवानेव रसस्तत्स्वरूपः । शक्तिविशिष्टात्तस्माद्रतिः[1] तदाश्रयादीनामनतिरेकात् । 'रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति' इति श्रुतिशेषः[2] । लब्ध्वानुभूय । अयं भावकः[3] ।

जयतीति । पद्यं हरिवंशादौ दृष्टम् । तन्त्रेणोभयोदाहृतिरियमित्याह— मुनिर्गुरुश्चेति ।

---

१. तस्माद्रति क । २. श्रुतिरेष ख ।
३. यं भावकः ख ।

श्री व्यासो हि मुनिर्गुरुश्च वैशम्पायनस्य । एवमन्यदूह्यम् । व्यभिचारी यथा—

'स्विद्यन्मुखं चलद्वेणीस्तनमण्डलकुण्डलम् ।
स्मरामि चरितं तस्या मन्मथस्यापि मोहनम् ॥'

अत्र स्मृतेरुद्रेकः ।

तदाभासा अनौचित्यप्रवर्तिताः ।

तयो रसभावयोः । अनौचित्यं च स्थायिविभावानुभावादिवैरूप्यमेव । तत्रानेकपुरुषनिष्ठा मुनिगुरुपत्नीगता चेद्रतिस्तदा स्थायिवैरूप्यम् ।

उदाहरणम्—

'गन्धर्वि कुर्वाणममेक्ष्य लीला-
मग्रे धरण्यां सखि कामपालम् ।
आकर्णयन्ती च मुकुन्दवेणुं
भिन्नाद्य साध्वि स्मरतो द्विधासि ॥'

अत्र बले कृष्णे चैकस्या रतिर्वर्णिता ।

'मन्दस्मितं प्रकृतिसिद्धमपि व्युदस्तं
संगोपितश्च सहजोऽपि दृशोस्तरङ्गः ।
धूमायिते द्विजवधूमदनार्तिवह्ना—
वह्नाय कापि गतिरङ्कुरता[1] मयासीत् ॥'

स्विद्यदिति । कृष्णः सुबलमाह । उद्रेकः प्राधान्यम् । यद्यप्यत्र—

'न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः ।
परस्परकृता सिद्धिरनयो रसभावयोः ।'

इत्युक्तदिशा परमविश्रान्तिस्थानेन रसेन सहैव व्यभिचारो वर्तते, तथापि करग्रहप्रवृत्तराजभृत्य इव प्राधान्यमसौ भजत इति बोध्यम् । तदाभासा भावाभासाश्च ।

बलदेवं कृष्णं च वीक्ष्य विह्वलां कांचिद्गन्धर्वीं प्रति काचित्किन्नरी परिहसति गन्धर्वीति । कामपालं बलदेवम् ।

मन्दस्मितमिति । श्रीकृष्णो मधुमङ्गलं चित्रं प्रदर्शयन्नाह । व्युदस्तं व्यक्तम् । अह्नायेत्यव्ययं झटित्यर्थे । विभावस्यालम्बनरूपस्य वैरूप्यं क्वचिदन्तःकरणस्य, क्वचिच्छरीरस्य बोध्यम् । स्थायिनि स्विदमुपचरितम् ।

---

१. °ङ्कुरिता' क, ख ।

अत्र द्विजस्त्रीणामेव रतिर्न तु कृष्णस्य । वैदग्ध्यौज्ज्वल्यतौल्याभावो विभाव-वैरूप्यम्—तच्च लतापशुविषमवयःकुलादिषु बोध्यम् । समयातिक्रमग्राम्यधाष्टर्याद्यनुभाव-वैरूप्यम् ।

भावाभासस्तु शत्रुकृता शत्रुस्तुतिर्वाराङ्गनादिलज्जा-भुक्ता स्त्री रतिश्चेति ।

लक्ष्याण्यूह्यानि ।

भावस्य शान्तिरुदयः संधिः शबलतापि च ।

क्रमेणोदाहरणानि—

'म्लानासि किं प्रेयसि, मामकीनं हृत्पृच्छ, पृच्छामि तदित्पुरोऽस्याः ।
स्पृशन्निदं स्वस्थमिति स्म कृष्णो ब्रवीति सा नम्रमुखी बभूव ॥'

अत्र विषादशान्तिः ।

'आलीजनैर्मण्डनकेलिकाले विभूष्यमाणा वृषभानुपुत्री ।
उरोगते नीलमणीन्द्रहारे स्विन्ना सकम्पा पुलकाकुलासीत् ॥'

अत्र हर्षोदयः ।

'सुचिरमनुचरीभिः पाठितां कृष्णगाथाम्
सदसि शुकवधूभिः शृण्वती गीयमानाम् ।

खण्डितादीनां प्रिये रोषभाषणाद्याः समयाः तदन्यथाभावोऽतिक्रमः । बालककटिकण्डूतिशब्दोपन्यासो ग्राम्यत्वम् । संभोगादेः स्फुटमभ्यर्थनं धाष्टर्चम् ।

भावाभासस्त्विति । परोढाप्यभुक्ता चेत्रद्रतिः शृङ्गारस्थायीत्यङ्गीकृतम् ।

म्लानासीति । कृष्णतत्कान्तयोः प्रश्नप्रत्युक्तिरूपं वाक्यम् । मामकीनं हृत्पृच्छेति कान्तायाः प्रत्युक्तिः । पृच्छामि तदिति प्रश्नः । इदं हृत् ।

आलीजनैरिति । पौर्णमासी वृन्दाह उरोगते सति ।

सुचिरमिति । वीरा वृन्दां प्रत्याह । तासु शुकवधूषु । एकं नेत्रं विन्यस्यति । इयं श्यामला ।

प्रणयसदयमेकं तासु विन्यस्यतीयं
चकितचकितमन्यन्नेत्रमास्ये गुरूणाम् ॥'

अत्रौत्सुक्यत्रासयोः सन्धिः ।

'पतिरतिकुपितो मनः प्रमत्तं खलनिकरः किल दूषणाभिधायी ।
मुररिपुरपि वेशपेशलोऽसौ भण विमले कमुपायमाश्रयिष्ये ॥'

अत्र भयचपलताशङ्कौत्सुक्यानां मिथः सम्मर्दरूपं शावल्यम् ।

मुख्ये रसेऽपि तेऽङ्गित्वं प्राप्नुवन्ति कदाचन ॥१३॥

ते भावशान्त्यादयः। अङ्गित्वं प्राधान्यम् । तच्च तेष्वापातादेव करग्रहप्रवृत्तराजभृत्यवत् । तदेवमलंकार्यस्य रसादेरसंलक्ष्यक्रमस्य व्यङ्ग्यस्य निरूपणेनालक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो ध्वनिर्दर्शितः ।

अथ लक्ष्यव्यङ्ग्यक्रमो ध्वनिर्विभज्य दर्श्यते—

'अनुस्वानाभसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्थितिस्तु यः ।
शब्दार्थोभयशक्त्युत्थस्त्रिधा स कथितो ध्वनिः ॥१४॥

पतिरिति । विमलां प्रति तत्सख्याह ।

मुख्ये रसेऽपीति । ऐदंपर्यविधारणाभाव आपातं प्राप्येत्यर्थः । पार्यन्तिकं प्राधान्यं तु परमविश्रान्तिस्थाने मुख्ये रसे एव, यथा राज्ञीति बोध्यम् । करः पाणी राजांशो वा ।

तदेवमिति । विवक्षितान्यपरवाच्याख्यस्य ध्वनेःद्वौ भेदौ पूर्वं प्रतिज्ञातौ 'कोऽप्यलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः' इत्यादिना, तयोरादिमो भेदो लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्योध्वनिरेतावता ग्रन्थेन निरूपित इत्यर्थः । अत्रैतद्बोध्यम् स्थायिनः सात्त्विका व्यभिचारिणश्च भावशब्देनोच्यन्ते, रसभावादयो रसशब्देनेति । तदुक्तम्:—

'भावयन्ति रसान्यस्मात्स्थायिसंचारिसात्त्विकाः ।
नानाभिनयसंबद्धान्भावास्तस्मादमी मताः ॥
रसभावतदाभासा भावशान्त्यादयश्च ये ।
सर्वे ते रस्यमानत्वाद्रसशब्देन कीर्तिताः ॥' इति ।

किंच हासादयः क्वचिद्व्यभिचारिणश्च स्युः । यदुक्तम्—

'शृङ्गारवीरयोर्हासो वीरे क्रोधस्तथा मतः ।
शान्ते जुगुप्सा कथिता व्यभिचारितया पुनः ॥'

इत्यादि । अथान्तिमभेद लक्ष्यव्यङ्ग्यक्रमं निरूपयति—अथेति ।

अनुस्वानाभेति । घण्टादौ अभिहन्यमाने मुख्यशब्दानन्तरं यथा क्षोदीयानपरोऽनुध्वनिनामा

प्रतिध्वनि तुल्यस्य संलक्ष्यपौर्वापर्यस्य व्यङ्ग्यस्य स्थितिर्यत्र[1] स ध्वनिस्त्रिधा-शब्दशक्त्युत्थोऽर्थशक्त्युत्थो द्विशक्त्युत्थश्चेति। इह व्यङ्ग्यस्य शब्दादिशक्त्युत्थत्वेन त्रैविध्यात् व्यञ्जकस्यापि लक्ष्यव्यङ्ग्यक्रमाख्यस्य ध्वनेस्तेन त्रैविध्यं बोध्यम्।

तेष्वाद्यमाह—

अलंकारोऽथ वस्त्वेव शब्दाद्यत्रावभासते।
प्रधानत्वेन स ज्ञेयः शब्दशक्त्युद्भवो द्विधा ॥१५॥

वस्त्वेवेत्यनलंकारं वस्तुमात्रम्।

क्रमेणोदाहरणानि—

'सोऽयं वसन्तसमयः समियाय यस्मिन्
पूर्णं तमीश्वरमुपोढनवानुरागम्।
गूढग्रहा रुचिरया सह राधयासौ
रङ्गाय संगमयिता निशि पौर्णमासी ॥'

शब्दोऽभ्युदयति, तद्वद्यत्र संलक्ष्यक्रमो व्यङ्ग्यस्तिष्ठति स ध्वनिः काव्यभेदः, प्रतिध्वनीति फलितार्थकथनम्। विग्रहः पुनः प्रथमान्तेनेति बोध्यः, तथैव स्मरणात्। शब्दश्चार्थश्चोभयं चेति द्वन्द्वः। तेषां शक्तिभ्य उत्तिष्ठत्युद्भवतीति सः, तेन च शब्दशक्तिमूलानुध्वनिरूपव्यङ्ग्योऽर्थशक्तिमूलानुध्वनिरूपव्यङ्ग्य उभयशक्तिमूलानुध्वनिरूपव्यङ्ग्यश्चेति। लक्ष्यव्यङ्ग्यक्रमो ध्वनिस्त्रिधेत्यर्थः। शब्दशक्तिमूलत्वं खल्वेतदेव। यत्र तेनैव शब्देन तदर्थप्रतीतिर्न तु पर्यायान्तरप्रयोगेणापि। एतद्वैपरीत्यं त्वर्थशक्तिमूलत्वं न पुनरभिधया तत्प्रतीतिरिति। एतेन यत्राभिधाया न नियमनं तत्रैव भेदो द्रष्टव्यः। तन्नियमने तु नाभिधामूलत्वं किन्तु व्यञ्जनामूलत्वमेवाखिलरसामृतेत्यादि। [पृ० २७] यत्केनचिदुक्तम्, तन्नादेयम् अखिलेत्यादेरप्येतद्भेदत्वेनेष्टत्वात्। इतरथा तस्य सर्वभेदबहिर्भावापत्ते। तेनेति। शब्दादिशक्त्युत्थत्वेनेत्यर्थः।

सोऽयमिति। सूत्रधारो नाटकवर्णनीयमर्थं मारिषं प्रति सूचयन्नाह। समियाय समागतः पूर्णमीश्वरं स्वयं भगवन्तं कृष्णं तं प्रसिद्धम्। पक्षे —तमीश्वरं चन्द्रम्। अनुराग आसक्तिः, रक्तिमा च। ग्रह आग्रहः, गुरुशुक्रादिश्च। राधा वार्षभानवी, ताराविशेषश्च रङ्गाय नाटकस्थलाय सुखाय च।

---

१. स्थितियत्र ख।

अत्र प्राकरणिक श्रीकृष्ण वर्णनेऽप्राकरणिक चन्द्रवर्णनमसंबद्धं मा भूदिति तयोश्चन्द्र-कृष्णयोरुपमानोपमेयभावः कल्प्यते। तेनात्रोपमालंकारो व्यङ्ग्यः, अलंकार्यस्याप्यलंकारता-ब्राह्मणश्रमणन्यायात्। एवमन्ये च।

'अध्वानं व्रज धूर्त माऽवृणु पुरः पश्याम्बरान्ते दृशं
निक्षिप्योरुपयोधरोन्नतिमिमां नष्टेन्दुलेखाश्रियम्॥
नव्या कञ्चुलिकोज्ज्वला तनुरियं रागेण वल्गुश्रिया।
यावन्न स्तिमिता सती कुटिल मे वैवर्ण्यमापद्यते॥'

अत्र शब्दादेव स्वाभियोग रूपं वस्तु।

अथ द्वितीयमाह—

'अर्थशक्त्युद्भवोऽप्यर्थो व्यञ्जकः संभवी स्वतः।
प्रौढोक्ति मात्रात्सिद्धो वा कवेस्तेनोम्भितस्य वा॥१६॥

पौर्णमासी सांदीपनिप्रसूस्तिथिविशेषश्च। नन्वलंकारस्य व्यङ्ग्यत्वेऽलंकार्यता स्यात्तत्कथमुपमालंकार इति। तत्राह—अलंकारस्यापीति। ब्राह्मणश्चेत् श्रमणः संन्यासी भवति, तदापि तस्य ब्राह्मण्यं न हीयते। यथा तद्वदित्यर्थः।

अध्वानमिति। प्रखरा काचित् प्रेयसी कृष्णमाह। अध्वानं पन्थानम्। मा आवृणु किन्तु व्रज इतोऽपसर। पक्षे—अध्वानं निःस्वनं यथा स्यात्तथा माम् आवृणु रुन्धि। हे व्रजधूर्तेति तत्प्रयोजनं वेत्स्येवेति भावः। अम्बरं नभः वस्त्रं च। पयोधरो मेघः कुचश्च। नष्टेति स्पष्टम्। पक्षे—नष्टानेक-दिनसंभोगाभावाद्विनष्टा इन्दुलेखाश्रीरिन्दुसदृशरेखा श्रीर्नखाङ्कशोभा यस्यां ताम्। नव्या नवीना रागेण रक्तिम्ना उज्ज्वला। तनुः सूक्ष्मा कञ्चुलिकयोज्ज्वला तनुर्मूर्तिः। रागेण प्रेम्णा स्तिमिता स्तब्धा सती वैवर्ण्यं सात्त्विकविशेषं ततश्च तदभियोगाभिज्ञः कृष्णस्तत्पयोधरौ स्पष्टेन्दुलेखाश्रियौ चकारेति बोध्यम्। स्वाभिप्रायनिवेदनं स्वाभियोगः।

अर्थेति। स्वतः संभवी न केवलं कविभणितिमात्रनिष्पन्नः किंतु व्यवहारगोचरश्च प्रौढोक्तिः प्रतिभा। उम्भितस्य पूरितस्य 'उभि पूरणे' इति धात्वनुसारात्।

वस्तु वालंकृतिर्वेति षड्भेदोऽसौ व्यनक्ति यत् ।
वस्त्वलंकारमथवा तेनायं द्वादशात्मकः ॥१७॥

अर्थोऽपि अर्थशक्त्युद्भवे ध्वनौ व्यञ्जकः। स च स्वतःसंभवी लोकेऽपि दृष्टः। तस्मिन्नदृष्टोऽपि कवेः प्रतिभामात्रेण सिद्धः। तेन कविना पूरितस्य वक्तुर्नायकादेर्वेति त्रिविधोऽसौ प्रत्येकं वस्तुत्वालंकृतित्वाभ्यां द्वैविध्यात् षड्भेदः सन्नेकैको वस्त्वलंकारौ व्यनक्तीति तस्य द्वादशविधो व्यङ्ग्यः। तेन हेतुनायमर्थशक्त्युद्भवो ध्वनिरपि द्वादशविधः।

क्रमेणोदाहरणानि—

'हस्तमुत्क्षिप्य यातोऽसि वलात्कृष्ण किमद्भुतम्।
हृदयाद्यदि निर्यासि पौरुषं गणयामि ते ॥'

अत्र वस्तुना भक्तानुरक्तो भगवानिति वस्तु।

'मम क्षमस्वालि निजस्य दोषं कृपाप्रपोषं कुरु देविभद्रे।
वक्रालकाः कान्तमुखावरूढाः शोभां तवामी कलयन्तु कांचित् ॥'

अत्र वस्तुनोपमा।

'ध्यातामूर्तिः क्षणमप्यच्युतस्य श्रेणी नाम्नां गदिता हेलयापि।
संसारेऽस्मिन्दुरितं हन्ति पुंसां वातोर्मी पोतमिवाम्भोधिमध्ये ॥'

अर्थोपीति। तस्मिन्लोके सिद्धो निबद्धः। पूरितस्य निबद्धस्येति यावत्। असावर्थः षड्भेदः षट्प्रकारः। एकैक इति। वीप्सायां द्वित्वम् 'एकैकमक्षरं पुंसां महापातकनाशनम्' इतिवत्। एकः एकः सन्नित्यर्थः। तेन व्यङ्ग्यस्य द्वादशविधत्वेन हेतुना अयं व्यञ्जकोऽपि ध्वनिर्द्वादशविधः इति।

दुग्धौदनं दृष्टवा[1] हस्तमाच्छिद्य पलायमानं कृष्णं प्रति बिल्वमङ्गलनामा भक्तो ब्रवीति। हस्तमिति। हे कृष्ण, पौरुषं बलम्।

मम क्षमस्वेति। मानिनीं भद्रां प्रति हरिराह। वक्राः कुटिलाः। अत्र वस्तुनेति। विपरीतरतमाचरन्त्यास्तवालकवल्लरी कमनीयवदनविकीर्णा विकचारविन्दसंसक्ता भ्रमरपंक्तिरिव राजिष्यत इत्युपमा[2]।

ध्यातेति। गङ्गादासस्य कवेर्भक्तिप्रभावोपदेशिकोक्तिः। वातोर्मी नाम छन्दश्च।

---

१. दत्वा क, ख। २. रजिष्यतीत्युपमा क, ख।

अत्रोपमया निदिध्यासनादिरूपा भगवद्भक्तिः समूलोन्मूलनलक्षणं कल्मषनाशं सद्यः करोतीति वस्तु ।

'रङ्गे बाहुविरुग्णाद् दन्तीन्द्रान्मदलेखा ।
लग्नाभून्मुरशत्रौ कस्तूरीरसचर्चा ॥'

अत्र रूपकेणोत्प्रेक्षा । एषु चतुर्षु स्वतःसंभवी व्यञ्जकः ।

'स्पन्दते यदि पदादि तदासां स्यन्दते मधुरिमामृतधारा ।
संगतः पवनजाद् व्रततीनामङ्गतो मधुकणा इव भूमौ ॥'

अत्र यासां पदादिस्पन्दनमात्रादेवं माधुर्यरसवृष्टिरहो लोकोत्तरत्वं तासामिति वस्तुना रासलास्य विधौ वा कीदृशी तत् वृष्टिरिति वस्तु ।

'क्षपासु शशभृत्कान्त्या प्रकाशितमिदं जगत् ।
धवलीकुरुते कीर्तिरनिशं तव माधव ॥'

अत्र वस्तुना चन्द्रकिरणापेक्षया कीर्तेरधिककालप्रकाशित्वात् व्यतिरेकः ।

'गाढालिङ्गनदानाय हरौ समुपसर्पति ।
निर्याति हृदयान्मानस्तन्व्याः पीडनभीरिव ॥'

अत्रोत्प्रेक्षया प्रत्यालिङ्गनादि तस्मै तया दत्तमिति वस्तु ।

रङ्ग इति । तस्यैव कवेर्वाक्यम् । मदलेखैव कस्तूरीरसचर्चेति रूपकम्, तेन च कस्तूरीरसचर्चेव सेत्युत्प्रेक्षा व्यञ्जिता । एवं स्वतःसंभाविनोऽर्थस्य चत्वारो भेदाः ।

व्रजभामिनीर्ध्यानेनानुभूय कर्णपूरः कविर्वर्णयति । स्पन्दत इति । पूर्वार्धमुदाहृतिः लोके मधुरिम्णां स्यन्दासंभवात् कविप्रौढोक्तिसिद्धस्तत्स्यन्दः ।

क्षपास्विति । कश्चित्कविः कृष्णं स्तौति[1] । अत्रामूर्तयापि कीर्त्या जगतः शुक्लीभावस्तत्सिद्ध एव ।

गाढेति । शिथिलमानया श्रीराधया सह हरेर्विनोदं ध्यानेनानुभय भूषणाभिधानः कविः कवयति । पीडनाद् भीर्यस्य सः । निर्याति निर्गम्य पलायते । अत्राचेतने माने पीडनभीस्तत्सिद्धैव ।

---

१. स्तवीति क, ख ।

'नयनासितपङ्कजप्रजाः प्रणयार्द्रं हरिमर्चयन्ति याः ।
अधरासवदानसोत्सवाः प्रणतस्ताः व्रजवल्लवीर्भजे ॥'

अत्र रूपकेण वल्लवीनामर्चकान्तरेभ्यो वैलक्षण्यात् व्यतिरेकः ।

'परिपुट्ठे परिपुट्ठं खीणे खीणं[1] समम्मि समम् ।
माहव तीए अङ्गं तुज्झ सिणेहेण घडिअं व ॥'

अत्र सायुषा न जीवति, किन्तु त्वत्स्नेहेनैवेति वस्तुना वस्तु ।

'हृदये न्यधायि मानः प्रियसहचरि सावधानयापि मया[2] ।
दृष्टे सति मुरशत्रौ स निर्गतः क्वेति नाज्ञायि ॥'

अत्र वस्तुना विनापि प्रार्थना प्रसन्नेति विभावना ।

'करजरदक्षतनिचयैर्मदीक्षणाभ्यां हरे वितीर्णोऽस्ति ।
रक्ताम्बरप्रसादः कोपेन पुनर्युते नैते ॥'

नयनेति । व्रजभामिनीनां रहस्योपासकः कश्चित्कविस्ताः प्रणमन्वर्णयति । अत्र नयनशब्देन कटाक्षा लक्ष्यन्ते । तद्रूपा नीलाम्बुजमाला लोके न दृष्टेति तत्सिद्धं रूपकम् । एवं कविप्रौढोक्तिसिद्धस्यार्थस्य चत्वारो भेदा दर्शिताः ।

परिवुट्टे इति । दूती कृष्णमाह—

परिपुष्टे परिपुष्टं क्षीणे क्षीणं समे समम् ।
माधव तस्या अङ्गं तव स्नेहेन घटितमिव ॥ इतिच्छाया ॥

अत्राङ्गस्य स्नेहघटितत्वं कविनिबद्धदूतीरूपवक्तृप्रतिभयैव सिद्धम्, न तु लोकेऽपि[3] दृष्टम् । अत्र व्यतिरेकोऽपि व्यज्यते स्नेहात्मकत्वेनाङ्गस्य वैलक्षण्यावगमात् ।

हृदये इति । राधा स्वसखीमाह अत्राचेतनामूर्तस्य मानस्य कान्तदर्शनेन हृदयान्निर्गमः । कविनिबद्धनायिकारूपवक्तृप्रतिभयैव सिद्धः । कान्तदर्शनसौभाग्यबलं मानेन सोढुमशक्यमित्युत्प्रेक्षाप्यत्र व्यङ्ग्येति बोध्यम् ।

करजेति । खण्डितां श्रीराधा हरिं प्रत्याह । अत्र करजादिक्षतैः कर्तृभी रक्तवस्त्रप्रसादप्रदानं न संभवतीति तत्सिद्धमुत्तरं कविनिबद्धखण्डितारूपवक्तृप्रतिभयैव निबद्धम् ।

---

१. कोणे कोणं ख । २. मया क पुस्तके नास्ति ।
३. परलोकेऽपि क, ख ।

अत्र किमिति नेत्रे कुपिते तवेत्युत्तरालंकारेण कथं नखादिक्षतानि संवृणोषि यावत्तेषां प्रसादपात्रमहंन[1] जातेति वस्तु।

'युवतीचयपरिपूर्णे तव हृदि मुरहरतयामान्त्या।
प्रतिदिनमनन्यमनसा तनोस्तनुत्वं तनोरपि क्रियते॥'

अत्र काव्यलिङ्गेन तनोस्तनूकरणेऽपि तव हृदि सा न वर्तत इति विशेषोक्तिः।

एषु चतुर्षु कविकल्पितवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धो व्यञ्जकः, कविनिबद्धस्य वक्तुः कवितोऽप्यनुरागाद्याधिक्यात्तदुक्तिरधिकं चमत्करोतीति पृथक् प्रतिपादिता। एवं द्वादशभेदाः।

अथ तृतीयमाह—

शब्दार्थोभयभूरेकः

यथा—

'अशेषसंतापहरो जनुर्भृतां सदाबलाकामदमेदुरद्युतिः।
त्विषां चयैर्माधवजीवनप्रदो भवान्भुवं श्यामयते घनो नभः॥'

अत्र बलाकादिशब्दाः स्वपरिवृत्तिं न सहन्ते, संतापादिशब्दास्त्वर्थपरिवृत्तिम्। अतः शब्दार्थशक्त्या माधवघनयोरुपमाऽत्रव्यङ्ग्या।

भेदा अष्टादशास्य तत्।

युवतीति। कृष्णं प्रति दूतीवचनम्। अमान्त्या स्थानमलभमानया। तनुत्वं क्षीणताम्। तनोः क्षीणायां अपि। अत्र कान्तहृत्प्रवेशाय तनोस्तानवकृतिस्त्रासेन दृष्टेति तत्सिद्धं काव्यलिङ्गं कविनिबद्धदूतीरूपवक्तृप्रतिभयैव निबद्धम्। एवं कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धस्यार्थस्य चत्वारो भेदाः। ननु कवेस्तन्निबद्धस्य वक्तुश्च प्रौढोक्तिरेकरूपैवेत्यष्टौ भेदाः सन्तु तन्नेत्याह—कविनिबद्धस्येति।

अथ तृतीयमिति। अत्रोभयशक्तिभूरिति बोध्यम्।

अशेषेति। वन्दिनः कृष्णं स्तुवन्ति। संताप आध्यात्मिकादिर्दिनकरकृतश्च। अबलाकामदा मेदुरा द्युतिर्यस्य सः। जीवनं वृत्तिर्जलं च। स्वपरिवृत्तिं निजपरिवृत्तिम्। घनसदृशो माधव इति व्यङ्ग्यम्।

भेदा इति। भेदाः प्रकाराः[2]। द्वौ भेदाविति। अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यात्यन्ततिरस्कृत-

---

१. न इति क, ख, पुस्तकयोः नास्ति।

२. एतदनन्तरं 'तथाहीति' अधिकं पठ्यते क पुस्तके।

अस्य ध्वनेः। तथा हि अविवक्षितवाच्यस्य द्वौ भेदौ। विवक्षितान्यपरवाच्यस्य तु षोडश। तत्रासंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो रसादिध्वनिरेकः, संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्तु पञ्चदशविध इति।

ननु रसादीनां बहुभेदत्वात्कथमष्टादशेति तत्राह—

रसादीनामनन्तत्वाद्भेद एको हि गण्यते ॥१८॥

असंलक्ष्यक्रमत्वं जातिमादाय रसादिरेक एव गण्यते। अन्यथा तद् गणनमशक्यम्, प्रत्येकं भेदबाहुल्यात्।

वाक्ये द्व्युत्थः

शब्दार्थशक्त्युत्थो वाक्य एव न पदे।

पदेऽप्यन्ये

द्व्युत्थं विनान्येऽर्थान्तरसंक्रमितवाच्याद्याः सप्तदशध्वनयः पदे वाक्ये च स्युः। व्यञ्जकत्वे पदस्य प्राधान्यात्तन्मूलको ध्वनिव्यपदेशः। यदुक्तम्[1]—

'एकावयवसंस्थेन भूषणेनेव कामिनी।
पदद्योत्येन सुकवेर्ध्वनिना भाति भारती॥' इति।

वाच्यादित्यर्थः। पञ्चदशविध इति। शब्दशक्तिभूर्द्विविधः। अर्थशक्तिभूर्द्वादशविधः। उभयशक्तिभूरेकविध इति।

नन्विति। ध्वनेरष्टादशभेदाः कथमित्यर्थः। परिहरति—तत्राहेति। अनेकेषामेकत्वं विरुद्धं वक्तुमित्यतो व्याचष्टे—असंलक्ष्यक्रमत्वं जातिमादायेति। उपायान्तरं नास्तीत्याह—अन्यथेति।

द्व्युत्थ उभयशक्त्युत्थः। वाक्य एव संभवतीति। ननु ध्वनिर्नाम काव्यविशेषस्तच्च पदस्य न संभवतीत्यत्राह—व्यञ्जकत्व इति। ध्वनिकारवाक्यं प्रामाणयति—यदुक्तमिति। भूषणेन नासिकाभूषणादिना सुकवेर्भारती।

---

१. यद्युक्तम् क।

तत्र पदगतानां दिङ्मात्रेणोदाहरणम्—

'पार्षदाः पार्षदा यस्य लक्ष्मीर्लक्ष्मीः कृपा कृपा ।
अवतारोऽवतारश्च स देवः कैर्न सेव्यते ॥'

अत्र द्वितीयपार्षदादिपदानि नित्यसाहित्यनिरपायत्वनिर्हेतुकत्वजन्मसाहित्यरूपेष्वर्थान्तरेषु संक्रान्तानि ।

'तवानुकम्पा तु तवैव शोभते ममापि दौर्जन्यमहो ममापि हि ।
रतिर्न दीर्घा मम दीर्घमेव ते प्रेम प्रियाहं तव कृष्ण किं ब्रुवे ॥'

अत्रानुकम्पादिपदानि विरुद्धलक्षणयाननुकम्पाद्यर्थानीति ।

पदगतोऽविवक्षितवाच्यो द्वेधा ।

'तत्कैशोरं तच्च वक्त्रारविन्दं तत्कारुण्यं ते च लीलाकटाक्षाः ।
तत्सौन्दर्यं सा च सान्द्रस्मिता श्री सत्यं सत्यं दुर्लभं दैवतेऽपि ॥'

अत्र तदादि पदानि कैशोरादीनामनुभवैकगोचरतां व्यञ्जयन्ति । तादृशानां च तेषामगोचरत्वाद्विप्रलम्भः प्रकृष्यतीति, रसध्वनिश्च तथा । भावादीनां तद्गतत्वे न काचिच्चमत्कृतिरिति नोदाह्रियते । एवमन्येऽपि लक्ष्यव्यङ्ग्यक्रमा ध्वनयोऽनुसधेयाः । तदेवं पञ्चत्रिंशद्भेदाः ।

तत्र पदगतानामिति । वाक्यगतानामुदाहृतिस्तु । ब्रुवे त्वाम् इत्यादिना [पृ० ३२] पूर्वं कृतेत्यर्थः । शिवादीन्विहाय कृष्णं बहवः सेवन्ते कोऽत्रहेतुरिति सन्दिहानं कञ्चित्प्रति कश्चित्तत्त्वविदुपदिशति—पार्षदा इति । यस्य पार्षदा नित्यतत्संयोगिनः । लक्ष्मीरपायरहिता, कृपा निर्हेतुका, अवतारो जन्मवर्जितः, स कैर्न सेव्यते, अपि तु सर्वैरपि सुज्ञैरिति । अत एव देवः सर्वाराध्योऽसौ ।

अत्र जन्माख्यप्रथमविकारवर्जनात्तदनन्तरजाः पञ्चान्येऽप्यस्तित्वादयो वर्जिता बोध्याः । इयमजहत्स्वार्था लक्षणा ।

तवेति । कृष्णं मानिन्याह । विरुद्धलक्षणया जहत्स्वार्थया द्वेधा दर्शित इत्यर्थः ।

तत्कैशोरमिति । कलहान्तरिता कान्तं कामयते । दैवतेऽपीति । देवेष्वपि नास्त्येवेत्यर्थः ।

अत्रेति । अनुभवैकगोचरताम् । न तु गीर्गोचरतामपीत्यर्थः । तेषां कैशोरादीनाम् । अगोचरत्वादलाभादित्यर्थः । प्रकृष्यति प्रकर्षं लभते, तथा पदगतो दर्शित इत्यर्थः । तद्गतत्वे पदप्रकाश्यत्वे ।

प्रबन्धेऽप्यर्थशक्तभूः ।

प्रबन्धो वाक्यसमूहस्तत्रार्थशक्त्युत्थो द्वादशविधः । अपिना पदवाक्ययोः ।

उदाहरणम्—

'किमत्र विश्राम्यसि कृष्णभोगीनिवासभूमौ वटपादपान्ते
प्रयाति तिग्मद्युतिरस्तशैलं भ्रातर्निशाप्यद्य घनान्धकारा ।
चकास्ति सौधोऽयमुदीक्ष्यमाणो नन्दस्य गोष्ठाधिपतेः[1] पुरस्तात्
अभ्यागतान्पाद्यमुखोपचारैर्यस्मिन्सभार्योऽर्चयते स मोदात् ॥'

अत्रबल्लवीकृष्णयोर्निशाभिसारिणो र्नानाविधविनोदभूरियं न्यग्रोधमण्डलीति वस्तुना वस्तु व्यज्यते । एवमन्येऽप्येकादश भेदा मृग्याः । तदेवं सप्तचत्वारिंशद्भेदाः ।

पदैकदेशरचना वर्णेष्वपि रसादयः ॥१६॥

प्रकृतिप्रत्ययोपसर्गवचनविभक्तिविशेषविशेषणसर्वनामनिपाताव्ययीभावकर्मभूताधारकालसंबन्धादयः पदांशास्तेष्वसंलक्ष्यक्रमा रसादयो व्यज्यन्ते ।

उदाहरणम्—

'मा कुरु मानिनि मानं सुहृदां वचनं प्रवेशय श्रवणे ।
गोकुलमहेन्द्रतनयो भवतु स नाथः प्रसादमासाद्य ॥'

न काचिच्चमत्कृतिरिति । विशिष्टा वैचित्री नानुभूयते, तेन तेषां पदप्रकाश्यानां नोदाहृतयः क्रियन्त इत्यर्थः । एवमन्येऽपीति । अलंकारोऽथ वस्त्वेव शब्दाद्यत्रावभासते इत्यादिना येऽन्ये पञ्चदशभेदा लक्षितास्तेऽपि पदगता अनुसन्धेया इत्यर्थः । तदेवमिति । द्व्युत्थस्य पदगतत्वाभावादेको भेदो न्युन इति भावः ।

सायाह्ने क्रीडाकल्पवटमूले विश्राम्यन्तं कञ्चिदतिथिं प्रति काचिद्वनदेवताह किमत्रेति । कृष्णभोगी कृष्णसर्पः । तिग्मद्युतिः सूर्यः । सौधो राजसदनम् । अत्र कृष्णभोगिनिवासभूम्यादिभिः पदैरतिथ्यपसारणपरत्वं तस्या व्यज्यते । वल्लवीकृष्णयोरित्यादि वस्तु व्यङ्ग्यम् ।

पदैकेति । एक देशोंऽशः प्रकृत्यादयो द्वादश । आदिपदात् पुरुषव्यत्ययादिग्रहः ।

महामानिनीं श्रीराधां ललिताद्याः सख्यः प्रबोधयन्ति—मा कुर्विति । कृतिर्यत्नस्तस्यैच्छिकत्वमिच्छाकृतत्वम् । अयं मानः । तत्सुहृद्वचनम् ।

---

१. गोष्ठाष्ठिपतेः ख ।

अत्र मा कुर्विति कृतेरैच्छिकत्वेन त्वन्मानस्तदधीन एव, तेन निर्हेतुकोऽमिति कृन्प्रकृतेर्व्यङ्ग्यम् । त्वमेव हठं विहाय चेत् सुहृद्वचनं स्वीकरोषि तदैव तत्सफलमिति णिच्प्रत्ययस्य, सादरतया हृदयान्तस्तद्विधारय, तेनैव तव हितमिति प्रोपसर्गस्य, सर्वोक्तिवचनादरे तव नाभीष्ट सिद्धिरिति सुहृदामिति बहुवचनस्य च ।

'आहारे विरतिः समस्तविषयग्रामे निवृत्तिः परा
नासाग्रे नयनं तदेतदपरं यच्चैकतानं मनः ।
मौनं चेदमिदं च शून्यमखिलं यद्विश्वमाभाति ते
तद्ब्रूयाः सखि योगिनी किमसि भोः किं वा वियोगिन्यसि ?'

अत्र तवाहारविषयकरागाभाव एव, न तु योगिनीवदनिष्टसाधनताज्ञानाद्योगप्रतिकूलाहारान्निवृत्तिरिति । तस्याः प्राणधारणार्थमाहारोऽस्त्येव, तव तु सोऽपि नेति च विषयसप्तम्याः, योगसाधने यदृच्छोपागते च विषये तस्याः प्रवृत्तिस्तत्र सर्वथैव विषयान्निवृत्तिरिति समस्तेति विशेषणस्य, ध्यानसमय एव तस्या नासाग्रनेत्रत्वं चित्तैकाग्र्यं च , तव तु सर्वदैव तदुभयम् । तथेङ्गितादिनाप्यर्थबोधरहितं मौनं चेति । तदेतद्यदिदमिति क्रमात् सर्वनाम्नः, त्वं वियोगिन्येव न तु योगिनीत्युत्तरपक्षदार्ढ्यसूचकस्य वेति निपातस्य च ।

'अनुपिकोक्तिगिरस्तव चेदनुस्मरशरं तु कटाक्षपरम्पराः ।
परिपठन्ति तदाखिल सुभ्रु वामधिवसस्यमलाङ्गि शिखामणीन् ॥'

अत्र पिकोक्तीनां स्मरशराणां च गौण्यम्, गिरा कटाक्षाणां च ततः प्राधान्यम्, तेना-

---

सर्वोक्तीति । सर्वासां सुहृदामस्माकं वचश्चेदनाहतं करोषि तर्हि तवाप्यभीष्टं न सिध्यति । अभीष्टं च तव कृष्णवशीकरणमेव सर्वाधिकसत्कारो वा ।

आहार इति । मानिनीं राधां प्रति विशाखा पृच्छति । तस्या योगिन्याः । एवमुत्तरत्रापि ज्ञेयम् । तदुभयं नासाग्रनेत्रत्वं चित्तैकाग्र्यं चेति द्वयमित्यर्थः ।

वेतिनिपातस्य । चेति । चकारेण कृन्प्रकृतेर्व्यङ्ग्यमिति पूर्वस्थं व्यङ्ग्यपदमनुकृष्यते ।

अनुपिकोक्तीति । कृष्णं राधा श्लाघते । पिकोक्तीनां समीपेऽनुपिकोक्तिस्मरशराणां समीपेऽनुस्मरशरणमिति सामीप्येऽव्ययीभावः । तत इति । ताभ्यस्ततेभ्यश्चेत्यर्थः । अव्ययीभावस्येति । व्यङ्ग्यमिति पूर्वेणैव संबन्धः । अयं भावः पूर्वपदार्थप्रधानोह्यव्ययीभावस्तेन सामीप्यस्यैवेह प्राधान्यम् ।

यत्नादेव जगद्वशीकारादित्यव्ययीभावस्य समस्तसुन्दरीवृन्दगर्वसर्वस्वहारी तव सौन्दर्यराशिरिति व्याप्तिसूचकस्य कर्मभूताधारस्य च। अत्र स्वरूपमहिम्नैव व्यङ्ग्यावगतिः विग्रहादौ वाचकत्वतौल्येऽपि तदभावात्।

'जयति जननिवासो देवकीजन्मवादो
यदुवरपरिषत्स्वैर्दोर्भिरस्यन्नधर्मम्।
स्थिरचरवृजिनघ्नः सुस्मितश्रीमुखेन
व्रजपुरवनितानां वर्धयन्कामदेवम्॥'

अत्र तत्तत्परिकरवैशिष्ट्येन तास्ताः लीलाः नित्याश्चकासयतीत्यस्यन् वर्धयन् जयतीति वर्तमानकालस्य। यथा वा—

'श्रीकृष्णपदाब्जं यः सेवितुमिच्छेत्।
तस्यान्तरविद्यां जानीहि विनष्टाम्॥'

अत्र पादसेवनेच्छायाः प्रागेवाविद्या[1]विनाशोऽभवदिति विनष्टामिति भूतकालस्य च। काले विहितस्य कालत्वमुपचारात्।

'गोप्यः किमाचरदयं कुशलं स्म वेणु[2]
र्दामोदराधरसुधामपि गोपिकानाम्।

न पुनः पिकोत्तमादीनामित्याशयः। व्याप्तिसूचकस्येति। ग्रामे वसतीति ग्रामैकदेशः प्रतीयते, ग्राममधिवसतीति कृत्स्नो ग्रामः, एवमधिवससि शिखामणीनित्यत्र बोध्यम्। तदभावाद्व्यङ्ग्यावगमाभावात्।

श्रीकृष्णस्यान्तिमलीलां वक्ष्यञ्शुकः पारीक्षितबुद्धिस्थैर्यायादौ निजसिद्धान्तं निवेदयति—जयतीति। एतावता ग्रन्थसंदर्भेण योऽयं निगदितमहिमलीलः स खलु श्रीकृष्णो भगवान् तादृशतयैवाधुनापि विभातीति तावदास्थेयम्। न तु मौशलचरितश्रुत्या विपरीतं भाव्यम्। यद्यप्यसौ बहिर्दृष्टिजनागोचरस्तथापि निजधात्रिक्रोडे क्रीडतीति समुदायार्थः। वादः प्रसिद्धिस्तत्त्वबुभुत्सुकथेति यावत्। स्वैरिति। स्वभुजतुल्यैरर्जुनादिभिरिति व्याख्येयम्। काले इति। यद्यपि कालस्य पदांशत्वं न संभवति तथापि कालविहिते लडादौ कालत्वमुपचर्य तथोच्यते इति भावः।

गोप्यः किमिति। गोप्यः परस्परमाहुः अयं वेणुः किं कुशलमाचरत्। यतो गोपिकानां

---

१. प्रागेव विद्या क। २. स्मलेगुर्दा° ख।

भुङ्क्ते स्वयं यदवशिष्टरसं ह्रदिन्यो
हृष्यत्त्वचोऽश्रु मुमुचुस्तरवो यथार्याः ॥'

अत्र कृष्णाधरसुधागोपीभिरेव पातुं युज्यते, न तु धूर्तेन वेणुनेति। गोपिकानामिति स्वस्वामिभावसंबन्धस्य।

'श्रीराधिकामाधवयोर्विचित्रैः
क्रीडानुषङ्गैः श्रमबिन्दुभाजोः।
तयोस्तदालीततिरङ्गकानि
संवीजयन्ती व्यजनैर्विरेजे ॥'

अत्र श्रीराधिकाशब्दस्य पूर्वनिपातस्तस्याश्चातुर्यातिशयं क्रीडासु द्योतयति। अङ्गकानीत्यनुकम्पार्थःकः। 'क'रूपतद्धितस्तु दौर्बल्यं व्यञ्जयन्संभोगप्रकर्षम्। एवमन्येषामपि बोध्यम्। एषु पदांशेषु क्वचिद्वाच्येन रसादयो व्यज्यन्ते, क्वचित्तु व्यङ्ग्येनेति विभावनीयम्। रचनावर्णयोर्व्यञ्जकतागुणग्रन्थे वक्ष्यते। अपि शब्दात्प्रबन्धेषु नाटकादिषु। यथा

स्वमपि वनरूपामपि दामोदराधरसुधां भुङ्क्ते। स्त्रीजातिश्चेदत्यनुरागेण परासां पत्युरधरसुधां भुङ्क्तां नाम। अयं खलु वेणुः पुरुषजातीयस्तत्रापि तां कथं भुङ्क्ते इति वेणुशब्दाभिप्रायेण तत्रोपहासः। तत्र च स्वयमात्मनैव। कस्याश्चिदपि गोपिकायास्तच्छेषप्राप्त्यभावस्तत्राप्याश्चर्यमिति भावः। अहो आस्तां तदपि यदवशिष्टरसं ह्रदिन्योभुञ्जते, अस्यावशिष्टो भुक्तमुक्तो यो रसस्तं परमपवित्रा ह्रदिन्यो नद्योऽपि यमुनाद्या भुञ्जते समास्वाद्य फुल्ला भवन्ति। विकसितकमलवनमिषेणेति दृशमहिमदर्शनात्। तद्गोत्रप्रायास्तरवोऽपि अङ्कुरोद्गमादिमिषेण हृष्यत्वचो रोमाञ्चयुक्ता मधुधारामिषेणानन्दाश्रु मुञ्चन्तीत्यर्थः।

तदेव तस्यान्यायमपि न गणयन्तीति भावः। तत्र च यथार्या केचिदात्मगोत्रजमहिमदर्शनात्तत्तद्भावान्दधति। यथेति तेषामनार्यत्वं ध्वनितम्। अत्रेति। पातुं युज्यते तत्स्वभूतत्वादिति भावः। इह षष्ठीपदांशः संबन्धस्य तूपचारात्तत्त्वम्।

श्रीराधिकेति। निकेतस्थां सखीं प्रति तयोर्माध्याह्निकीं लीलां काचित्सहचरी निवेदयति। तदा तस्मिन्समये। आलीततिर्ललिताद्या। अत्रेति। यद्यपि 'अल्पाच्तरम्' 'अभ्यर्हितं च'इति सूत्राभ्यां माधवशब्दस्य पूर्वनिपात. प्राप्नोति, तथापि श्रीराधिका शब्दस्य सः तस्याः क्रीडासु कृष्णापेक्षयाति-

विदग्धमाधवादौ शृंगारः, भारते शान्तः, रामायणे करुण इति । एवं रसादिध्वनयः षड् विधाः । रसादिव्यङ्ग्यस्य वाक्यपदाभ्यां पदांशवर्णरचनाप्रबन्धैश्च प्रकाश्यत्वात् ।

भेदास्तदेकपञ्चाशत्

पूर्वगणिताः पञ्चत्रिंशत्, अर्थशक्त्युत्थाः प्रबन्धगता द्वादश, रसादिध्वनयस्तु पदांशादिगताश्चत्वारः इत्येकपञ्चाशदुत्तमकाव्यभेदः । एते शुद्धाः ।

अथ संकीर्णानाह—

तेषां चान्योन्ययोजनम् ।
संकरेण त्रिरूपेण संसृष्ट्या चैकरूपया ॥२०॥

तेषामेकपञ्चाशतः प्रत्येकमेकपञ्चाशता गुणनं चेदेकोत्तरषट्शताधिक[1]द्विसहस्री (२६०१) संख्याका भेदाः स्युः ।

संशयास्पदत्वमनुग्राह्यानुग्राहकत्वमेकव्यञ्जकानुप्रवेशश्चेति त्रिविधः संकरः । मिथो निरपेक्षरूपैकविधा संसृष्टिश्च । तेन, तया च गुणनं चेत् ।

'वेदखाब्धिवियच्चन्द्राः (१०४०४) शुद्धभेदैः सह ।
शरेषु युगखेन्दवः (१०४५५) ॥'

तत्र त्रिरूपः संकरो यथा—

'पद्मिन्यहं कुमुदिनी किल सैव सत्यं
सत्यं भवांश्च मधुसूदन एव मत्तः ।

चातुरीं व्यञ्जयति । तेन अस्या अभ्यर्हणावेदनादिति भावः । संभोगप्रकर्षं द्योतयतीति संबन्धः । एवमिति । अन्येषां पदांशानां पुरुषव्यत्ययादीनां व्यञ्जत्वं बोध्यम् ।

भेदास्तदिति । पदांशादिगताः पदांशवर्णरचनाप्रबन्धगता इत्यर्थः । वाक्यपदगतौ द्वौ भेदौ तु पञ्चत्रिंशद्भेदान्तः पतितौ ज्ञेयौ । वेदखाब्धीति । अङ्कानां वामतो गतिप्रसिद्धया चतुरधिकचतुःशत्युत्तरदशसहस्राणि स्युरित्यर्थः । एवं परत्र ।

मानभङ्गाय प्रातर्विनयकारिणं कृष्णं प्रति काचित्खण्डिताह-पद्मिन्यहमिति । अत्रेति । शब्द-

1. षष्ठ्यधिक क, ख ।

वामेन तामसुखयन्निशि दक्षिणेन
प्रातः प्रबोधयति मामपि लोचनेन ॥'

अत्र पद्मिन्यादिशब्दार्थयोः शब्दार्थशक्त्युत्थानुध्वनेः संकरत्रयम् । तथाहि मयि तवानुरागो महान् यन्मां दक्षिणेनोदारेण लोचनेन दर्शनेन प्रातः प्रबोधयसि । तस्यां न तथा । यद्वामेनानुदारेण दर्शनेन निशि तामसुखयः । अत्र हेत्वालंकारो व्यङ्ग्यः । यदहं पद्मिनी सा तु कुमुदिनी । पद्मिन्यपेक्षया कुमुदिनी निकृष्टेति । अथवाहं नाम्नैव पद्मिनी, न तु वस्तुतः कथमन्यथा मयि ते विरागः । सा तु नाम्नैव कुमुदिनी न वस्तुतः, इति सत्यम् कथमन्यथा तस्यां तेऽनुराग इति संशयः ।

अथ पद्मिन्यहं कुमुदिनी सैवेति रूपकेण तद्धेतूपन्यासद्वारा प्रातर्मां प्रबोधयसि निशि तामसुखय इति हेत्वलंकारो व्यङ्ग्यः । भवान्मधुसूदनएवेतिभृङ्गस्य तवोभयत्र रागसाम्यान्न दोषः । किन्तु ममैव सः । यदहं पद्मिनी प्रातरेव सह भृङ्गेण पद्मिन्याः संदर्शनमिति मधुसूदनद्योत्येन वस्तुना पुनरपि रूपकं ध्वनितमित्यनयोर्मिथोऽनुग्राह्यानुग्राहकता ।

एवं मधुसूदन एव भवान्मत्तः स्वतस्तृप्तस्तव कुत्रापि नापेक्षेति स्वभावोक्त्या तव दक्षिणं नेत्रं सूर्यात्मकं येन पद्मिनीं मां प्रबोधयसि । वामं तु चन्द्रात्मकं येन कुमुदिनीं तामसु-

---

शक्त्युद्भवार्थशक्त्युद्भवयोर्ध्वन्योरित्यर्थः । तत्र संदेहसंकरपक्षं तावद्व्युत्पादयति—मयि तवेत्यादिना । यत्रैकतरनिश्चयो न भवति स संदेहसंकरः । अस्मिन्पक्षे दक्षिणशब्द उत्कृष्टार्थः वामशब्दो निकृष्टार्थः लोचनशब्दो दर्शनार्थक इति बोध्यम् । कथमिति । अन्यथा मय्येव त्वमासक्तोऽभविष्य इत्यर्थः । सत्यमिति । इतरथा तस्यामासक्तो नाभविष्य इत्यर्थः ।

अथानुग्राह्यानुग्राहकभावं संकरमाह अथ पद्मिन्यहमिति । हेतूपन्यासेति । मम पद्मिनीत्वे प्रातः प्रबोधनं हेतुः । तस्याः कुमुदिनीत्वे निशि सुखाश्रयत्वमिति हेत्वलंकारः काव्यलिङ्गव्यङ्ग्यः । ममैव स इति । स दोष इत्यर्थः । वस्तुनेति । दोषाभावरूपेणेत्यर्थः । अनुग्राह्यानुग्राहकता अङ्गाङ्गिभावः ।

अथैकव्यञ्जकानुप्रवेशरूपं संकरमाह—एवमिति । मत इति । मदी तृप्तियोगे । मधुसूदनो विष्णुः तस्यैव दक्षिणं नेत्रं सूर्यरूपं वामं तु चन्द्ररूपं नान्यस्येति । मधुसूदनशब्देनैकेनैव व्यज्यते । एकस्मिन्निति । एकस्मिन्नेव व्यञ्जके पदे पादे वा व्यङ्ग्यद्वयव्यञ्जनानुप्रवेश इत्यर्थः ।

खय इत्येकस्मिन्नेव व्यञ्जके मधुसूदन शब्दे व्यञ्जनानुप्रवेशश्चेति त्रिरूप संकरः। अथ दक्षिणेन सरलेन लोचनेन मां प्रबोधयसि तेन ते मयि नानुरागः। वामेन कुटिलेन तामसुख यस्तेन तस्यामेव स इति वस्तुना स्वभावतो मधुसूदनो भृङ्गोऽज्ञस्तत्रापि मत्त इति स्वभावोक्तिस्तादृशस्य तव विवेकाभावादविदग्धस्त्वमिति स्वभावाख्यानाक्षेपयोःसंसृष्टिश्च। एवं पदवाक्यव्यङ्ग्यै र्गर्वधैर्यदैन्यग्लानिनिर्वेदावहित्थादिभिर्भावैश्च सा।

इति[1] भरतसूत्रवृत्तौ साहित्यकौमुद्यां ध्वनिभेद निर्णयो नाम

चतुर्थः परिच्छेदः।

अथ संसृष्टिमाह—अथ दक्षिणेनेति।

अस्मिन्पक्षे दक्षिणवामशब्दौ सरलकुटिलार्थकौ सरलेन नेत्रेण नायिकावीक्षणमौदासीन्यव्यञ्जकं कुटिलेन तु रागव्यञ्जकमिति रस शास्त्र प्रसिद्धेः।

इति कृष्णनन्दिन्यां साहित्यकौमुदीटीकायां

चतुर्थः परिच्छेदः॥

---

१. श्री भरत° क।

पञ्चमः परिच्छेदः

अथ गुणीभूतव्यङ्ग्यभेदानाह—

अगूढमपरस्याङ्गं वाच्यसिद्ध्यङ्गमस्फुटम् ।
संदिग्धतुल्यप्राधान्ये काक्वाक्षिप्तमसुन्दरम् ॥१॥
व्यङ्ग्यमेवं गुणीभूतव्यङ्ग्यस्याष्टौ भिदाः स्मृताः ।

तत्रागूढं यथा—

'कृष्णस्य जगदीशस्य वन्द्यस्य विबुधोत्तमैः ।
शृण्वन्निदितमेतस्य जीवन्नैव भवाम्यहम् ॥'

अत्र जीवन्नित्यर्थान्तरसंक्रमित वाच्यस्य व्यङ्ग्यमगूढम् ।

'गोप्यस्तपः किमचरन्' इत्यादि [पृ० १९] । अत्र पिबन्तीत्यत्यन्ततिरस्कृतवाच्यस्य । एवमन्येषां च बोध्यम् ॥

व्यङ्ग्यभेदैरेव व्यञ्जकस्य काव्यस्य भेदाः स्युरित्यभिप्रयन्सूत्रयति । अथेति अगूढमिति । अगूढं सर्ववेद्यं तच्च वाच्यायमानत्वान्न तथा चमत्कारि यथा कामिनीस्तनवद् गूढं सत् । अपरस्य रसादेः स्वनैरपेक्ष्येण लब्धसिद्धेरङ्गमुपकारकम् । वाच्यस्य सिद्धिरेव यदधीना तद्वाच्यसिद्ध्यङ्गम् । अस्फुटं सहृदयैरपि दुःसंवेद्यम् । संदिग्धप्राधान्यं तुल्यप्राधान्यं चेति द्वयम् । यां काकुं विना वाच्यार्थ एवात्मानं न लभते तया प्रकाश्यं काक्वाक्षिप्तम् । चमत्कारे वाच्यमुखप्रेक्षकमसुन्दरम् ।

जीवन्निति । सहदेवोक्तिः । अत्रेति सफलत्वमर्थान्तरं मरणमेव वरमिति व्यङ्ग्यं तच्च सर्ववेद्यम् ।

गोप्य इति । अत्र पानं वाच्यार्थं त्यक्त्वा सादरावलोकनं लक्ष्यते[1] । एवमिति । अन्येषां

---

१. लक्ष्यति क ।

अपरस्य रसादेरङ्गं रसादि। अयमेव रसवत्प्रभृतिरलंकारः। तत्र रसादे रसाङ्गत्वे रसवत्, भावाङ्गत्वे प्रेयः। आभासाङ्गत्वे ओजस्वि[1]। प्रशमाङ्गत्वे तु समाहितम्।

क्रमेणोदाहरणानि—

'कोपे यथातिललितं न तथा प्रसादे
वक्त्रं विधिस्तव तनोतु सदैव कोपम्।
इत्याकलय्य दयितस्य वचो विभङ्गी
राधा जहास विहसत्सु सखीजनेषु॥'

अत्र हास्यस्य विप्रलम्भशृंगारोऽङ्गम्।

'धन्यं वृन्दारण्यं यस्मिन्विलसति सदैव रमणीभिः।
प्रतिकुञ्जं प्रतिपुलिनं प्रतिगिरिकन्दरमसौ कृष्णः॥

अत्र वनवर्णनभावस्य संभोगशृंगार इति रसवत्।

'पूर्णाः पुलिन्द्य उरुगायपदाब्जराग-
श्रीकुङ्कुमेन दयितास्तनमण्डितेन।
तद्दर्शनस्मररुजस्तृणरूषितेन
लिम्पन्त्य आननकुचेषु जहुस्तदाधिम्॥'

लक्ष्यव्यङ्ग्यक्रमध्वनिभेदानां व्यङ्ग्यं चेदगूढं स्यात्तर्हि त एतद्भेदान्तःपातिनो बोध्याः। अपरस्येति। रसवदिति रसयोगात्। प्रेय इत्यतिप्रियत्वात्। ओजस्वीति। ओजो बलम्। तदत्रानौचित्यप्रवृत्तावस्तीति समाहितम्[2]। कोपे यथेति। कृष्णकृतं राधामानभङ्गं कांचित्प्रति काचिदाह धन्यमिति। शारीशुकयोरुक्तिः।

पूर्णा इति। वने कृष्णवेणुगीतं श्रुत्वा तद्वर्णयित्वा च गोप्यो वदन्ति। पुलिन्द्यः शबराङ्गनाः। पूर्णाः कृतार्थाः। कथमित्याहुः पूर्वं दयितायाः स्तनयोर्मण्डितेनानुलिप्तेन पुनः सुरतसमये उरुगायस्य पदाब्जरागेण चरणारुणिम्ना श्रीः कान्तिर्यस्य तेन कुङ्कुमेन। पुनश्च तस्य वनविहारे तृणेषु रूषितेन लग्नेन। तस्य तादृशकुङ्कुमस्य दर्शनेन स्मरकृता रुक् तापो यासां ताः। आननेषु कुचेषु च तेन कुङ्कुमेन लिपन्त्यस्तदाधिं स्मरव्यथां जहुः। अतस्ताः पूर्णा मादृशयस्त्वपूर्णाः। या एवमप्याधिशान्तिं न प्राप्नुवन्तीति भावः॥

---

१. साङ्गत्वमूर्जस्वि ख। २. 'परीहार' इत्यधिकं पठ्यते क पुस्तके।

अत्र शृंगारस्य पुलिन्दीभावः।

'वृन्दावनमतिपुण्यं यस्मिन्कुसुमस्मितैः फलोरोजैः।
पल्लवकुलाधरैरपि सुखयति कृष्णं लतापालिः॥'

अत्र वनवर्णनभावस्य लताभाव इति प्रेयः।

त्वत्सामन्तहृतान्दारान्पुनः प्राप्य त्वदाज्ञया।
मुदितैर्मथुरानाथ वन्द्यसे शात्रवैरपि॥'

अत्र शत्रुकृतशत्रुस्तुतिरूपो भावाभासो भगवद्विषयस्य भावस्येत्यूर्जस्वि।

'देवेन्द्रजित्सु पृथुकात्पृथुकोपमाद्भी-
रस्मासु सत्सु न तवेति गिरा सुराणाम्।
कंसस्य यो हृदि मदः स तु तेषु सर्वे-
ष्वाप्तेषु तत्पृथुकतां क्व गतो न जाने॥'

अत्र मदप्रशमो वीरस्येति समाहितम्।

'गच्छाम्यच्युत दर्शनेन भवतः किं तृप्तिरुत्पद्यते
किन्त्वेवं विजनस्थयोर्हतजनः संभावयत्यन्यथा।

वृन्दावनमिति। तयोरुक्तिः पालिः श्रेणी एकदेशविवर्तिरूपकम्।

त्वत्सामन्तेति। बन्दिनः कृष्णं स्तुवन्ति। शात्रवैरिसमूहैः। अत्रेति। भावस्य बन्दिनिष्ठस्य।

देवेन्द्रेति। तयोरुक्तिः पृथुकाद्बालात्। पृथुकोपमाच्चिपिटतुल्यात्। अस्मद्भक्ष्यादित्यर्थः। 'पृथुकौ चिपिटार्भकौ' इति नानार्थवर्गात्। अस्मात्कृष्णात् भीस्तव न युज्यते। अस्मासु कीदृशेषु। देवेन्द्रजित्सु इन्द्रपराजयिषु। यो मदो हृदि जातः स क्व गतः पलायित इति न जाने नाहं वेद्मि। कदा तेषु असुरेषु सर्वेषु तत्पृथुकतां कृष्णचिपिटतामाप्तेषु कृष्णेन निहतेष्विति[1] यावत्॥ अपराङ्गं द्विधा अपरस्य रसादेरङ्गमलक्ष्यक्रमो रसादिः। वाच्यस्य प्रधानस्याङ्गं लक्ष्यक्रमा वस्त्वलंकाराः। तत्राद्यो वृत्तौ दर्शितः। द्वितीयस्तु मृग्यः।

एवमपराङ्गमुदाहृत्याथ वाच्यसिद्ध्यङ्गमुदाहरति--गच्छामीति। हे अच्युत तन्नामक पक्षे

---

१. निहितेष्विति क, ख।

इत्यामन्त्रणभङ्गिसूचितवृथावस्थानखेदालसा-
माश्लिष्यन्पुलकोत्कराञ्चिततनुर्गोपीं हरिः पातु वः ॥'

अत्राच्युतेत्यादि पदव्यङ्ग्यमामन्त्रणेत्यादिवाच्यसिद्धावङ्गम्, तदुपपादकत्वात् ।

'असुरदमनः नन्दकः स्वपाणौ कुतुकवशाद्भवता[1] निधीयते चेत् ।
सुरपुरवनिताः स्ववेश्ममोदाद्विदधति सद्रचनोज्ज्वलं समन्तात् ॥'

अत्र खड्गोद्यमनात् कृष्णेन रिपवो वीरा हनिष्यन्ते, ते च स्वर्गमस्मत्पतित्वेनाया-स्यन्तीत्यानन्दावेशात्स्वर्गाङ्गनाः स्वनिकेतं मण्डयन्तीति व्यङ्ग्यमस्फुटं कष्टगम्यत्वात् ।

'हे भद्र भाद्रपदमासचतुर्थकेन्दो
तुभ्यं नमोऽस्तु न कदापि मयासि दृष्टः ।

ममेदृशं सौन्दर्यं दृष्ट्वाप्यच्युतधैर्योऽसीति तेन व्यर्थैवात्रावस्थितिरिति भावः । दर्शनेन किं तृप्तिः । अपि तु संभोगेनैवेत्यर्थः । किन्त्वेवमिति । द्वयोरपकीर्त्तिर्जातैव । तद्वृथैवात्मानं वञ्चयाव इत्यर्थो व्यङ्ग्यः । स च इत्यामन्त्रणभङ्गिसूचितवृथावस्थानखेदालसामित्येतद्वाच्यस्य सिद्धिकृत् । तद्व्यक्तिं विनैतद्विशेषणपदार्थस्य शरीरालाभादिति भावः । आमन्त्रणभङ्गिभ्यां सूचितौ यौ वृथावस्थानखेदौ ताभ्यामलसामिति वा, भङ्गिर्वचनरचना दर्शनेन भवतः किमित्यादिरूपा उत्पद्यत इत्यनेन वृथा-वस्थानं, किन्त्वेवमित्यादिना तु खेदः ॥

असुरदमनेति । कृष्णं वन्दिनः स्तुवन्ति नन्दकस्तन्नामा खड्गः । निधीयते क्रियत इत्यर्थः । कष्टगम्यत्वादिति । सहृदयैरपीति शेषः ॥

हे भद्रेति । काचिद्विदितानुरागा नष्टचन्द्रमुद्दिश्याह अत्रेति । इत्यनैकान्तिकमिति । ऐकान्तिकं व्याप्तिस्तदभावोऽनैकान्तिकम् । तथा च तव दर्शनादेव प्रवादो भवतीति नास्ति नियमः मय्येव व्यभिचारात् । किन्तु प्रवादजनकमदृष्टमेव तत्र हेतुरित्यर्थः । किं वा त्वद्दर्शनादेव प्रवाद इति नियमः सत्य एव । तथापि त्वदर्शनं विना अनैश्चोद्धोष्यते तदा नायं प्रवादः । किन्तु सत्यैवेयं किंवदन्ती, यतो मिथ्याप्रवादस्त्वद्दर्शनं विना न भवतीति नियमः । संदिग्धं प्राधान्यं यत्र तत् उभयो-रर्थयोः प्राधान्ये साधकबाधकमानाभावात् संदेहः ॥

---

१. कुतुकवशा भवता ख ।

श्यामेन तेन कतमेन नवेन यूना
साकं तथापि मम किं प्रथितः प्रवादः ॥'

अत्र त्वद्दर्शनात्प्रवाद इत्यनैकान्तिकम्, किंतु तादृशाददृष्टादेवेति, किं वा नायं प्रवादः सत्यैवेयं जनश्रुतिर्यद्विनापि त्वद्दर्शनाज्जनैरुद्घोष्यते इति संदिग्धप्राधान्यम् ।

'स्मरसमर समाप्तौ वक्रतां भ्रूरहार्षी-
दजनिषत मृगाक्ष्या वीतलक्ष्याः कटाक्षाः ।
धनुरिव विषमेषोर्ज्याविमुक्तं तदासी-
द्विशिखुरिव निषङ्गे मुक्तशेषाः पृषत्काः ॥'

अत्रोत्प्रेक्षयोपमा ध्वनिता । तयोः स्वप्राधान्येन स्थितित्वात्तुल्यप्राधान्यम् ।

'कुलीनाः किल कुर्वन्तु दुर्यशो मम कर्मठाः ।
रामं दूर्वादलश्यामं कामं नैव भजाम्यहम् ॥'

अत्र न भजामीति व्यङ्ग्यः प्रतिभाति । नञ्द्योत्योऽत्र काकुः ।

'कर्णकल्पितरसालमञ्जरी' इत्यत्र [पृ० ८] व्यङ्ग्यमसुंदरं द्रष्टव्यम् ।

एषां भेदा यथायोगं वेदितव्याश्च पूर्ववत् ॥२॥

एषां समनन्तरोक्तानां भेदा यथासंभवं ध्वनिभेदवदर्थान्तरसंक्रमितिवाच्यत्वादिना

स्मरसमरेति । प्रिययो रजनीवृत्तं निशान्ते[1] सख्योऽनुमोदन्ते । पृषत्काः बाणाः ।

अत्रोत्पेक्षोपमयोर्वाच्यव्यङ्ग्ययोरुभयोरपि प्राधान्यं चमत्कारसाम्यात् । भामेनाक्षिप्तः कश्चिद्रामभक्तः श्यालकस्तमाह—कुलीना इति । कुर्वन्तु प्रथयन्तु । कर्मठा याज्ञिका वयमित्यभिमानिनः । दूर्वादलेति । अत्र निजा भक्तिर्द्योतिता: । एतदंशे ध्वनित्वमेवेति बोध्यम् । अग्रिमनिर्णयात् । तथापि गणीभूतव्यङ्ग्यत्वमेवोच्यते, तस्यांशस्यप्रधान्यात् ॥

एषाभिति । न केवलमेत एव गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य भेदाः । किन्त्वर्थान्तरसंक्रमितवाच्यत्वादिभिर्यथा ध्वनेर्भेदास्तथाऽसंभविनो हित्वाऽस्यापि तैरुपाधिभिः । शुद्धभेदाः संकरसंसृष्टिभ्यां योजने तेषामिवेषां च संकीर्णभेदा अपि बोध्याः । असंभविनस्तु वस्तुमात्रेणालंकारव्यक्तिनिबन्धनाः । तथा च

---

१. विभान्ते क ।

बोध्याः। यथायोगमिति यत्र वस्तुमात्रेणालंकारो व्यज्यते, न तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वम्, किन्तु ध्वनित्वमेवेतिभावः।

[1]सालंकारैर्ध्वनेस्तैश्च योगः संसृष्टिसंकरैः।

अलंकारात्मकैरलंकार सहितैश्च तैर्गुणीभूतव्यङ्ग्यैः सह ध्वनेर्योगः[2]।

'संसृष्ट्या संकरेण च त्रिरूपेण बोद्धव्यः।

अन्योन्ययोगादेवं स्याद्भेदसंख्यातिभूयसी ॥३॥

एवमनेन प्रकारेणावान्तरभेदप्रभेदगणने भूयसी भेदसंख्या। तथाहि---एकस्यैव-शृंगारस्यैकोऽपि संभोगरूपो भेदो मिथो वीक्षाश्लेषादिभेदात्प्रत्येकं च विभावादिवैचित्र्यात्संख्यातुमशक्यः, का गणना पुनः सर्वेषामिति।

संक्षेपात्त्वस्य ध्वनेस्त्रयो भेदाः, व्यङ्ग्यस्य त्रिरूपत्वात्। तथाहि—किंचिद्व्यङ्ग्य' वाच्यतासहम्, किंचित्त्वन्यथा।

तैर्भेदैर्न्यूनोऽत्रप्रकारः। अयं भावः—अलंकारः कदाचिदङ्गभूतवाच्यालंकाररहितेन वस्तुमात्रेण व्यज्यते, कदाचिद्वाच्यालंकारसहितेन वस्तुना। तत्राद्ये वस्तुमात्रापेक्षयालंकारस्य चारुताधिक्यमिति तत्र सर्वत्र ध्वनित्व मेव, परत्रापि यत्र वाच्यालंकारापेक्षया व्यङ्ग्यालंकारस्य न चारुता तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्यत्व मेवेति। यथा 'हरिभक्ति'—'इत्यादौ प्रतिवस्तूपमाव्यङ्ग्यायामगूढायामुपमायाम्, यथा च 'तव जयती' त्यादौ प्रतीपव्यङ्ग्ये व्यतिरेके॥

अथोभयविधसंसृष्टिं दर्शयितुमाह। अथेति। अलंकारसहितैरित्यत्र वाच्यालंकारसहितैरिति-बोध्यम्। योगो मिश्रणम् भेदसंख्या प्रकारगणना। भूयसी बहुतरा। मिथोवीक्षा परस्परदर्शनम्।[3] श्लेषश्चा लिङ्गनम्। आदिपदाच्चुम्बनसंप्रयोगादि॥

विधान्तरेण तु संख्यातुं शक्यत इत्याह—संक्षेपात्विति। त्रिरूपत्वात्त्रैविध्यात्।

---

१. अथ ध्वनिगुणीभूत व्यंग्यमिश्रणमाह इत्यधिक ख पुस्तके पठ्यते।

२. ध्वनिर्योगः इति क। ३. तथा इति क पुस्तकेऽधिकं पठ्यते।

तत्राविचित्रं विचित्रं चेति द्विविधमाद्यं क्रमाद्वस्त्वलंकृतिरूपम्। द्वियीयं तु रसादि। तच्च स्वप्नेऽपि वाच्यतां न सहते।

इति भरतसूत्रवृत्तौ साहित्यकौमुद्यां गुणीभूतव्यङ्ग्यभेदनिर्णयो नाम

पञ्चमः परिच्छेदः॥

तत्राविचित्रमिति। अविचित्रं वस्तुमात्रं विचित्रं त्वलंकाररूपम्। आद्यं वाच्यतासहम्। रसादीति। भावतदाभासभावशान्त्यादिकमादि पदात्।

इति कृष्णनन्दियां साहित्यकौमुदीटीकायां

पञ्चमः परिच्छेदः॥

षष्ठः परिच्छेदः

अथ शब्दार्थचित्रयोरेकत्रैव गुणप्रधानभावेन स्थितिरिति, शब्दालंकारौ द्वावपि स्वाभीष्टाविति च बोधयितुमारम्भः ।

अथेति । यद्यपि शब्दचित्रार्थचित्ररूपं भेदद्वयमवरस्य पूर्वं निरूपितमस्ति तथाप्युभयोर्गुणप्रधानभावेन स्थितिरेकत्र नोक्तेति तदर्थमेतदिति भावः । शब्दार्थालंकाराविति । एवं हि मन्यते ।

'रूपकादिरलंकारस्तस्यान्यैर्बहुधोदितः ।
न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम् ।।
रूपकादिमलंकारं बाह्यमाचक्षते परे ।
सुपां तिङां च व्युत्पत्तिं वाचां वाञ्छन्त्यलंकृतिम् ।।
तदेतदाहुः सौशब्दं नार्थव्युत्पत्तिरीदृशी ।
शब्दाभिधेयालंकारभेदादिष्टं द्वयं तु नः ।। इति ।

अस्यार्थः विभाति विभावतां प्राप्नोति । कुण्डलादिवैशिष्ट्येनैव विभाव्यत्वात् । विभावादित्वेन प्राप्तानामर्थानामेव रसत्वमिति तेषां परिष्कृतिरुचिता । अर्थं प्रत्याय्य प्रक्षीणानां शब्दानामलंकरणस्यानादरणीयत्वादित्येके । काव्यं च कविकर्म शब्दरूपमेवेति । तदाश्रितानां सुबन्तानां तिङन्तानां च विशिष्टोत्पत्तिरनुप्रासादिना निर्मितिरलंकारः रूपकादिस्त्वलंकारो बाह्यः । तत्रालंकारप्रयोगो भाक्त इति वाञ्छन्ति । ईदृशी यथा शब्दव्युत्पत्तिः सौशब्दं शब्दनिर्माणसौष्ठवम् । अयमर्थः – शब्दैर्व्यज्यमानानां स्वादानां विभावादिभिरर्थैरुपचायनम् । ते च माधुर्यादिव्यञ्जकवर्णघटितानुप्रासादिमत्त्वेनैव रचिता व्यंजने प्रभवन्ति । तेन शब्दार्थालंकाराणामावश्यकत्वम् । पाश्चात्यानामर्थालंकाराणामकिंचित्करत्वमुतान्, विनापि शब्दलंकारैरभिव्यक्तेः । तदेतदाह —बाह्यमिति । आस्वादोत्पत्तिदशायां तदनुपलम्भात्तस्य बाह्यत्वमिति त्वन्ये । शब्दाभिधेति । अभिधेयः प्रतिपाद्य । तेन वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्या गृहीताः स्युः । इष्टं द्वयं तु न इति । शब्दवदर्थस्यापि कविसंरम्भज्ञाप्यत्वम्, अर्थवच्छब्दस्यापि रसप्रतीत्युपयोगित्वमित्यत उभयाश्रितोऽप्युभयरूपोऽलंकारः सहृदयैकवेद्यत्वादित्यस्माकं भरतानुयायिनां मतमिति संक्षेपः ।।

शब्दार्थचित्रं यत्पूर्वं काव्यद्वयमुदाहृतम् ।
गुणप्राधान्यतस्तत्र स्थितिः शब्दार्थचित्रयोः ॥१॥

यत्र शब्दस्य चित्रत्वं प्रधानं तत्रार्थस्य गौणं तत्, यत्र त्वर्थस्य प्रधानं तत्र शब्दस्य गौणमित्यर्थः ।

क्रमेणोदाहरणम्—

'कर्णिकारकृतकर्णिकाद्युतिर्वर्णिका पदनियुक्तगैरिका ।
मेचका मनसि मे चकास्तु ते मेचकाभरणभारिणी तनुः ॥'

'आम्नाय प्रथितान्वया स्मृतिमती बाढं षडङ्गोज्ज्वला
न्यायेनानुगता पुराणसुहृदा मीमांसया मण्डिता ।'

शब्दार्थेति । पूर्वे प्रथमपरिच्छेदे । तत्र काव्यद्वये । स्थितिर्बोध्येत्यर्थः ॥ कर्णिकेति । श्रीरूपः कविर्भगवन्तं तत्स्फूर्तिं प्रार्थयते । ते[1] तनुर्मे मनसि चकास्तु कीदृशी । मेचका श्यामला । 'मेचको बर्हिचन्द्रे श्यामलेऽपि च' इति । विश्वः । मेचकश्चन्द्रकस्तद्विशिष्टतयाभरणस्य भारिणी मौलिधृत चन्द्रकभूषणेत्यर्थः । अथ वा—हे मेचकाभरणभारिणी । सौन्दर्यादिभारवती । कर्णिकारपुष्पकृताभ्यां कर्णिकाभ्यां द्युतिर्दीप्तिर्यस्याः सा । वर्णिकानां पदेषु स्थानेषु नियुक्तानि गैरिकाणि यस्याः सा । अत्र यमकं प्रधानं स्वभावोक्तिस्तु गौणी ॥

आम्नायेति । सिद्धचारणादयः कृष्णं स्तुवन्ति । विद्यापक्षे आम्नायैश्चतुर्भिर्वेदैःप्रथितो विस्तारितोऽन्वयो व्युत्पत्तिर्यस्याः साः स्मृतिर्मन्वादिः ।

'शिक्षा कल्पो व्याकरणं ज्योतिषं छन्द एव च ।
निरुक्तं च निरूक्तानि षडङ्गानि मनीषिभिः ॥' इति ।

षड्वेदाङ्गानि । न्यायस्तर्कशास्त्रं तेनानुगता सेविता । पुराणं श्रीभागवतादि । मीमांसया द्वादशलक्षणी कर्ममीमांसा, चतुर्लक्षणी ज्ञानमीमांसा चेति, तया द्विरूपया भागवताद्यविरुद्धव्याख्यानया, मण्डितालंकृता, तदेतदनुसारेण चतुर्दशगुणाः ।

'अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तारः ।
धर्मशास्त्रं पुराणं च विद्या ह्येताश्चतुर्दशः ॥'

---

१. ¯ तेन क ।

त्वां लब्ध्वावसरा चिराद् गुरुकुले प्रेक्ष्य स्वसंगार्थिनं
विद्या नाम वधूश्चतुर्दशगुणा गोविन्द शुश्रूषते ॥

पूर्वत्र शब्दकृतं चारुत्वं प्रधान्यादनुभूयते, परत्र त्वर्थकृतं तत् । इह रसादिरूपस्य व्यङ्ग्यस्य स्फुटमप्रत्ययादव्यङ्ग्यमेतत्काव्यद्वयमुक्तम् । वस्तुतस्तु विभावादिरूपतया सर्वत्र रसपर्यवसायितास्ति ।

किं च शब्दार्थयोर्व्यङ्ग्यस्य च प्राधान्येन चारुतायां परमोत्तममिदं काव्यमिति स्वारस्यम् ।

यथा—

'पदद्युतिविनिर्धूतस्मरपरार्ध्यरूपोद्धति-
दृगञ्चलकलानटीपटिमभिर्मनोमोहिनी ।
स्फुरन्नवघनाकृतिः परमदिव्यलीलानिधिः
क्रियात्तव जगत्त्रयीयुवतिभाग्यसिद्धिर्मुदम् ॥'

अत्र त्रिधापि चारुता प्राधान्येनानुभूयते ।

इति प्रमाणप्राप्ताः ॥ वधूपक्षे—आम्नायः सत्कुलता, अन्वयोवंशः, स्मृतिर्मेधा, षडङ्गानि शिरोमध्यभागौ हस्तौ पादौ चेति, न्यायो नीतिः, पुराणाः वृद्धाः सुहृदः सहाया यस्यास्तया, मीमांसया विचारेण मण्डिता । गुरुरत्र पित्रादिस्तत्कुले वर्तमानमित्यर्थः । चतुर्दश तावद्विद्यात्मका गुणा यस्याः सा । अत्र विद्या नाम वधूरित्यर्थालंकारोरूपकम्, तस्य प्रथमप्रतीतत्वात् प्राधान्यम्, श्लेषस्य तु तदुपपादकत्वाद्गौणमित्यर्थः ॥

नन्वेकत्र काव्ये शब्दार्थचित्रत्वं व्यङ्ग्यप्राधान्यं च यदि स्यात्तर्हि तदप्युत्तममेवेति वदितुं न युज्यते, किन्तूत्तमोत्तममेवेति । तदत्र न्यूनं लक्षणाभावादिति चेत्तत्राह—किं चेति । स्वारस्यमाशयः प्रतिषेधकाभावादौचित्याच्च ॥

पदद्युतीति । पूर्वरागवतीं प्रणमन्तीं राधां पौर्णमास्याशिषाभिनन्दति । अत्रानुप्रासो व्यतिरेकरूपकोपमाश्च प्रधानतया भासन्ते । व्यङ्ग्यश्चातिशयी । तथाहि—पदद्युतीति । सुरम्याङ्गत्वादिराङ्गिको नायकगुणः । स्मरपरार्धसाध्यस्य पदद्युतिमात्रसाध्यत्वं च व्यङ्ग्यम् । दृगिति । दृगञ्चलरङ्गसूच्यमान शृङ्गारोपयोगिकलारूपनटीनां पटिमानः कथ्यमानशृङ्गारोपकरणसमस्तवस्तुजाताभिनय-

यथा वा—

'तिर्यक्क्षिप्तचलद्दृगञ्चलरुचिर्लास्योल्लसद्भ्रूलता
कुन्दाभस्मितचन्द्रिकोज्ज्वलमुखी गण्डोच्छलत्कुण्डला ।

प्रावीण्यानि तैर्निजप्रेयसीमनः सम्यानां मोहिनीति । 'विदग्धश्चतुरःसुधीः' इत्यादिर्मानसो गुणः दृगञ्चलेनैवं वक्ति किं पुनर्मुखेनेति वाचिकश्च व्यङ्ग्यः । नवघनाकृतिरिति । महारसवर्गस्वमूर्त-शृङ्गारसत्वादिपरमदिव्येति तत्संगतेरनिन्द्यत्वं सर्वश्लाघ्यत्वं च । जगत्त्रयीति । सर्वोत्तमत्वात्पुरुषार्थ-रूपत्वं च व्यङ्ग्यम् ॥

हरेः पुरः सुविलासां श्रीराधां तुङ्गविद्या वर्णयति—तिर्यगिति । स्पष्टम् । अत्रानुप्रासो रूप-कमेकव्यञ्जकानुप्रविष्टयोरनुप्रासरूपकयोः संकरश्च प्राधान्येन प्रतीयते । व्यङ्ग्यश्चातिचारः । तथाहि—श्रीकुण्डरोधसि रत्नमण्डपान्तर्विराजमाने व्रजयुवराजे ललिताद्यासु बलादेव श्रीराधां तद्वाम-भागमुपानीय संवादाय पुरः संनिविष्टा स्वसंकोचाय स्वसौन्दर्यदर्शनाय च ललितादिसंमुखीनेन तेन भो विकचारविन्दनेत्राः किमद्य मद्भाग्यं श्लाघ्यं यद्विजनेत्र गौरीमन्त्रस्मृतिपरस्य मे दुर्लभदर्शनानां वः साक्षात्कृतिरित्युक्ते—तिर्यगिति । तिर्यक् क्षिप्तेन च लता दृगञ्चलेनैव रुचिर्दीप्तिर्यस्याः सा । तेन च गौरीमन्त्रस्मृतिपरो न भवान्, अपि तु तत्संभोगस्मृतिपर इति व्यङ्ग्यम् । अथाद्य काचित् सुवर्ण-माला त्वत्कण्ठमलंकरिष्यतीति दैवाज्ञया कयाचिन्मां - प्रत्युक्तं तत् सत्यमेव जातमिति तेनोक्ते-लास्येति । तेन सुवर्णमालामनोरथेनैव परिधेया, मया तु[1] सखीषु निर्गन्तीषु प्रागेव गन्तव्यमिति व्यङ्ग्यम् । ननु युवराजस्य तव सुवर्णमाला न दुर्लभा किन्तु पुरुभाग्येन त्वया सुरतरुरद्योपलब्ध इति सखीभिः पुनरुक्ते हंहो सख्यः युक्तं ब्रूथ, कात्स्न्र्येन मदभीष्टपूरकत्वात् । किंचाहं सुरतरोरक्षरत्रयादेव कृतार्थः, किमुत समग्रेण तेनेति तेनोक्ते-कुन्दाभेति । तेन धूर्ताग्रगण्यमेवं मत्सख्योऽपि धूर्ततां शिक्ष-यन्तीत्यहो धूर्तगोष्ठी पटिमेति व्यज्यते । ततश्च विच्युतधैर्ये तस्मिंस्तिरश्चीनया तन्मुखं वीक्षमाणे गण्डोच्छलदिति । त्रपया मुखस्य स्ववामपार्श्वे परावर्तनात् । अथ तदुच्छलनजातचाकचिक्यद्यो-तितदक्षिणकर्णालिकादिकां प्रियां वीक्ष्यानन्दमग्ने तस्मिन्दक्षिणहस्तधृतेन पटाञ्चलेन मुखमावृत्य

---

१. परिधेया मया तु इति क पुस्तके न पठ्यते ।

कन्दर्पागमसिद्धमन्त्रगहनामर्थं दुहानां गिरं
हारिण्यद्य हरेर्जहार हृदयं राधा विलासोर्मिभिः ॥'

एवमन्यच्च बोध्यम् ।

इति भरतसूत्रवृत्तौ साहित्यकौमुद्यां चित्रभेदनिर्णयो नाम
षष्ठः परिच्छेदः ॥

रत्युत्थमदहर्षव्रीडौत्सुक्यजाड्यादिभावव्यञ्जिना स्वरेण स्वयमेव प्रत्युत्तरितमित्याह—कन्दर्पेति । कन्दर्पागमे ये सिद्धमन्त्रा वशीकरणोच्चाटनादिधर्माणस्तैर्गहनां व्याप्तां गिरमर्थं दुहानापूर्णमेव संपूरयन्तीत्यर्थः । प्रत्युत्तरं च वनपद्मिनस्ते वनपद्मिनीष्वेव तदक्षरत्रयं सेत्स्यति न तु कल्पवल्ल्या मयेति । अभीष्टप्रदापि कल्पवल्ली सुरताय न संपद्यते किन्तु तद्दत्ता पद्मिन्य एव । ताश्चैता मत्सख्य एव तुभ्यं मया तस्मै दत्ता इति तदर्थः । एवमन्यच्चेति । मध्यमस्यापि चित्रत्वयोगादुत्तमत्वमित्यर्थः ॥

इति कृष्णनन्दिन्यां साहित्यकौमुदीटीकायां
षष्ठः परिच्छेदः ॥

सप्तमः परिच्छेदः

अथ दोषाणां सामान्यलक्षणमाह—

'मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद्वाच्यः ।
उभयोपयोगिनः स्युः शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि सः ॥१॥

हतिरपकर्षः स्थगनमिति यावत्। रसस्तदास्वादः। रसाश्रयत्वाद्वाच्योऽपि मुख्यः। उभयो रसवाच्ययोः। आद्यपदाद्वर्णरचने। स दोषः पदतदंशवाक्यार्थरसेषु सम्भवात् पञ्चविधो बोध्यः।

विशेषलक्षणमाह—

'दुष्टं पदं श्रुतिकटुच्युतसंस्कृत्यप्रयुक्तमसमर्थम् ।
निहतार्थमनुचितार्थं निरर्थकमवाचकं त्रिधाऽश्लीलम्' ॥२॥
'संदिग्धमप्रतीतं ग्राम्यं नेयार्थमथ भवेत्क्लिष्टम् ।
अविमृष्टविधेयांशं विरुद्धमतिकृत्समासगतमेव ॥३॥

एवं काव्यभेदान्निरूप्य तद्धर्मेषु दोषादिषु निरूप्येषु सूत्रक्रमप्राप्तेः। पूर्वं दोषान्निरूपयति-अथेति। विशेषाकांक्षायाः सामान्यधीपूर्वकत्वात् सामान्येति।

मुख्यार्थेति। हत्यपकर्षदोषशब्दाः करणे भावे वा व्युत्पन्नाः। तेन दुष्टलक्षणं दोषलक्षणमिति ज्ञेयम्। हतिरपकर्षो न तु प्रतिबन्धः दुष्टेष्वपि रसानुभवात्। आश्रय आश्रयणं वाच्यो मुख्य इत्यन्वयः। एवं च वाच्ये विभावादौ मुख्यशब्दप्रयोगो भाक्त इत्यर्थः। उभयो रसवाच्ययोरुपयोगिनः शब्दाद्याः स्युः। विभावादीन्प्रत्याय्य रसप्रत्यायनात्। तेष्वर्थशब्दादिषु स दोषः। न केवलं रसे इत्यपेरर्थः।

विशेषेति। पदं दुष्टमिति सम्बन्धः।

षोडशविधं पदं दुष्टमिति संबन्धः। तत्र क्लिष्टादित्रिकं समासगतमेव भवेत्, अन्यथा क्लिष्टत्वाद्यसंभवात्। अन्यत्त्वसमस्तं च।

क्रमेणोदाहरणम्—

परुषाक्षरं पदं श्रुतिकटु। यथा—

'कार्तार्थ्यं कुरु मे सुभ्रूः॥'

अत्र कार्तार्थ्यमिति।

व्याकरणसूत्रहीनं च्युतसंस्कृति। यथा—

'अयं बाधति मां स्मरः।'

अत्र बाधतीति।

तथा पठितमपि कविभिरनादृतमप्रयुक्तम्।

'पद्मो राजति कासारे।'

अत्र पद्म शब्दः पुंलिङ्गो नाद्रियते।

'निकुञ्जं हन्ति माधवः।'

यत्र हन्तीति गतौ पठितमपि तत्र न समर्थम्।

उभयार्थमप्यप्रसिद्धेऽर्थे प्रयुक्तं निहतार्थम्।

कार्तार्थ्यमिति। व्यञ्जकवर्णाभावाद्रसोद्बोधरूपं कार्यं नोदयति। तेनात्र कारणाभावकृतकार्याभावात्वं दूषकताबीजम्। व्याकरणसूत्रव्युत्पत्तिविरहश्च्युतसंस्कृतिः। शब्दबोधस्थगनमत्र तद्बीजम्।

पद्म इति। कविसमयोल्लङ्घनफलानुसन्धौ मुख्यार्थप्रतीतिमान्थर्यं तद्बीजम्। उपसन्दानं विनानुशिष्टार्थाबोधकमसमर्थम्। हन्ति गच्छति। गतौ पठितोऽपि हन्तिस्तत्प्रत्यायने स्वरूपायोग्यः प्रहतोद्धतपद्धतिजङ्घादिषूपसंदानेन गतेः प्रत्यायकतया न तत्पाठवैयर्थ्यम्। गतिबोधं प्रति स्वरूपायोग्यत्वं तद्बीजम्।

उभयार्थमिति। प्रसिद्धार्थप्रतीतिव्यवधानेनाप्रसिद्धार्थस्य शक्त्या बोधकं निहतार्थम्। प्रसिद्धिश्च भूरिप्रयोगाहितपटुतरसंस्कारगोचरत्वम्। तेन तस्य झटित्युपस्थिता तदितरतिरोधानम्।

'यमुनाशम्बरं जम्बूश्यामलं तव पादयोः ।
लाक्षाशोणितयोर्लग्नं देवि नीलारुणायते ॥'

अत्र शम्बरशब्दो दैत्यविशेषे, शोणितशब्दस्तु रुधिरे प्रसिद्धत्वादम्बुनि शोणितवर्णे च निहतार्थः ।

'विभर्षि नीलं वसनं यदेतद्धलं च पाणौ न कथं करोषि ।
जानातु लोकस्तव कृष्णवेषाद्वर्षीयसि भ्रातरि भक्तिमत्त्वम् ।'

अत्र हलपदं कृषिकारित्वव्यञ्जनादनुचितार्थम् ।

यथा वा—

'प्रयान्त्यमरतां शूराः पशुभूता रणाध्वरे ।'

अत्र पशुपदं मृतार्थकमपि कातर्यव्यञ्जनात्तथा ।

'मानं मुञ्च हि वामाङ्गि प्रसादं कुरु देवि च ।'

अत्र हिचशब्दौ वृत्तपूर्तिमात्रकारित्वान्निरर्थकौ ।

'यत्सङ्गात्तामसी रात्रिर्वासरः सा प्रियैव चेत् ।
विधत्ते नाद्य मां स्पर्शैस्तदलं जीवितेन मे ॥'

यमुनेति । श्रीराधां हरिराह । शम्बरं जलम् । शोणितत्वमरुणितत्वम् । देवि हे राधे ! अत्र प्रकृतार्थप्रतीतिमान्थर्यं स्पष्टमेव तद्बीजम् । उपश्लोक्यमानतिरस्कारव्यञ्जकार्थत्वमनुचितार्थत्वम् ।

बिभर्षीति । खण्डिता कृष्णमाह । हलं लाङ्गलम् । लोको जगत् । तद्वर्तिजननिचय इत्यर्थः । वर्षीयसि ज्येष्ठे भ्रातरि । भक्तिमत्त्वं भक्तिम् । अत्र तत्तिरस्कारोपस्थितिस्तद्बीजम् । पशुपदात् प्रकृष्टकार्याक्षमत्वं प्रतीतं, तदेव कातर्यम् ।

मानमिति । न च चादेरधिकपदत्वम् छन्दःपूरणेऽपि पाठे निष्फलत्वविरहात् । तत्त्व एवाधिपदत्वात् । संकेतविरहाद्बोधकमवाचकम् । प्रकाशमयेऽर्थे यथा वासरपदं, पोषणे विधत्तेपदं च । उपसर्गेण कृतौ शक्तिनियमात् । विवक्षितार्थप्रत्यायकत्वं तद्बीजम् । नन्वेतदसमर्थोदाहरणं स्यात् । सत्यम् । अवाचकाश्यो ह्यसमर्थभेदा इति वक्ष्यति ।

अत्र वासरपदं प्रकाशमयेऽर्थेऽवाचकम्, पोषणरूपेऽर्थे विधत्ते पदं च ।

अश्लीलमश्रीमत् । तच्च व्रीडाजुगुप्साऽमङ्गलबोधित्वात् त्रिधा ।

क्रमेणोदाहरणम्—

'भगं तव बृहद्भावि मुकुन्द भजनेन विट् ।
सूनोस्ते नैव नष्टस्य पुनर्दृष्टिं गमिष्यसि ॥'

अत्र भगशब्दः संपत्त्यर्थकोऽप्यधमाङ्गप्रतीत्या व्रीडाबोधी । भगिनी शिवलिङ्गमात्मयोनिरित्यादौ भगादिशब्दो न तथा । एवमेव शब्दमर्यादाप्राप्तेः । विट्शब्दो वैश्यार्थकोऽपि पुरीषप्रत्ययाज्जुगुप्साबोधी ।

एवं—

'नाथे पथिकतां याते शोकः कोऽपि नतभ्रुवः ।'

इत्यत्र शोकशब्दस्य ।

'नवा हरति सा चित्तं मुकुन्द तव सुन्दरी ।'

अत्र नवेत्येकं पदं द्विपदं वेति संदेहः ।

एकशास्त्रप्रसिद्धमप्रतीतम् ।

'आशयो दलितो यस्य योगेन स हरिं व्रजेत् ।'

अत्र शयशब्दो वासनार्थकतया योगशास्त्रमात्रप्रसिद्धः ।

अश्लीलमिति । सभ्यवशीकरणसंपत्तिः श्रीस्तां लाति गृह्णाति श्रीलमित्यत्राश्नुते[1]र्ल श्रुतिः ।

भगमिति । वैश्यं कंचित्प्रति कश्चित्साधुराह । हे विट् वैश्य ! नष्टस्य तीर्थाय गतस्य ।

एवमिति । 'शिशिरीकुरु मन्नेत्रे त्वमालि मुखवायुभिः' इत्यत्र गुदवायोः प्रतीतिः ।

नाथ इति । अत्र शोकस्य करुणस्थायित्वादमङ्गलबोधः । इहानुभवसिद्धरसापकर्षोपस्थितिस्तदुपस्थित्यात्र श्रोतुर्वैमुख्यं वा तद्बीजम् ।

अर्थद्वयोपस्थापकं संदिग्धम् । नवेति । नवा नवीना न हरति । द्वावप्यर्थौ प्रतीयेते । अर्थानिश्चयस्तद्बीजम् ।

प्रति प्रतिशास्त्र इतं ज्ञातं प्रतीतं तद्भिन्नमप्रतीतम् । यत्किंचिच्छास्त्रपरिभावितमित्यर्थः । तदेतदाह—एकशास्त्रेति । भावनाबिलम्बात्प्रतीतिमान्थर्यं तद्बीजम् ।

---

१ श्रीलं रश्नुते क, ख ।

ग्राम्यमविदग्धप्रयुक्तम् ।

'कृष्णस्तव कटिं वीक्ष्य चित्रे चित्रार्पितोऽभवत् ।'

अत्र कटिशब्दः ।

रूढिप्रयोजनान्यतरशून्यं लाक्षणिकं नेयार्थम् ।

'तवाब्जे दृक्पदाघ्रातं दृत्ते तन्मलिनं ततः ॥'

अत्र पदाघातेन निर्जितत्वं लक्ष्यम् । न चात्र लक्षणा संभवति ।

'लक्षणा सा न कर्तव्या कष्टेनार्थागमो यतः ।
न यत्र शक्यसंबन्धो न रूढिर्न प्रयोजनम् ॥' इत्युक्तेः ।

व्यवहितार्थप्रतीतिकं क्लिष्टम् ।

'श्रीवासजन्मभूदाभाश्चयान दनुजान्विभुः ।'

अत्र श्रीवासः पद्मं तज्जन्मभूर्जलं तद्दो मेघस्तदाभानिति क्लिष्टम् ।

अविमृष्टः प्राधान्येनानिर्दिष्टो विधेयोंऽशो यत्र तत् । तत्राविधेयांशस्य प्राधान्येनानिर्देशः समासेन गुणीभावाद्विधेयोत्तरमुद्दे श्योक्तेश्च ।

कृष्णस्तवेति । हे चित्रे ! अत्र वक्तुरवैदग्ध्यानुसंधानाद्रसापकर्षस्तद्बीजम् । निर्जितत्वं लक्ष्यमिति । अत्र कवेरव्युत्पत्त्यनुसंधानेन वैरस्यापादकत्वं तद्बीजम् ।

यतो विवक्षितवाक्यार्थधीर्विलम्बेन तत् क्लिष्टम् । निहतार्थादौ तु पदार्थोपस्थितिरेव बिलम्बेनेति भेदः । श्रीति । बोधमान्थर्यं तद्बीजम् ।

प्राधान्येनानिर्दिष्ट इति । प्राधान्यं च विधेयत्वप्रतीतियोग्यत्वम् । यदुक्तम्—

'यच्छब्दयोगः प्राथम्यं सिद्धत्वं चाप्यनूद्यता ।
तच्छब्दयोग औत्तर्यं साध्यत्वं च विधेयता ॥'

तथोद्देश्यविधेययोः पृथक् पदाभ्यामुपस्थिति र्न तु समासप्रविष्टत्वम् । तयोः पृथक् पदाभ्यामुपस्थितौ प्राप्तमुद्दिश्याप्राप्तं विधीयते । पर्वतो वह्निमानितिवत् । इतरथा वह्निमत्पर्वत इत्यभिधानापत्तिः ।

यथा —

'तव तन्वि कटाक्षोऽयं षष्ठबाणो मनोभुवः ।
प्रविश्य हृदये कृष्णं वृथादर्पं चकार यत् ॥'

अत्र षष्ठत्वं बाणस्य विधेयम्, दर्पस्य वृथात्वं च तदुभयं तथा न प्रतीयते । समासेन गुणीभावात्किन्त्वनुवाद्यवत् प्रतिभासते ।

यथा वा—

'अकृतासन्नितिः क्वापि कथं त्वयि हरेः कृपा ।'

अत्र निषेधो विधेयतया न प्रतीयते । तस्य समासेन गौण्यात् ।

'उदयति शशी श्रीराधाया न तन्मुखमण्डलं
स्खलति तिमिरं सारङ्गाक्ष्या न नीलनिचोलकः ।
हसति हरितां चक्रं तस्या न नाम सखीगणो
भ्रमति भवने ज्योत्स्नैवास्या न चाङ्गरुचिच्छटा ॥'

तव तन्वीति । सत्यां प्रति तत्सखीवाक्यम् । अत्रायं कटाक्ष इत्यादि विधेयत्वं बोध्यम् ।

बहुदायिनं भक्तवैमुख्यादलब्धप्रसादं शोचन्तं कंचित्प्रति कश्चिदाह—अकृतेति । अत्र पर्युदासनञा समासः । यदुक्तम्—

'प्रधानत्वं विधेर्यत्र प्रतिषेधेऽप्रधानता ।
पर्युदासः स विज्ञेयो यत्रोत्तरपदेन नञ् ।।' इति ।

सन्नतिः कृता नासीदिति निषेधो विधेयः स च तथा न प्रतीयते समासात् ।

यत्र प्रसज्यवाची नञ् तत्र समासाभावात् प्रधानीभूतो निषेधः स्यादित्युदाहरति—उदयतीति । कृष्णस्वगतोक्तिः । शशी उदयति श्रीराधायास्तन्मुखमण्डलं नोदयतीति योज्यम् । एवमग्रेऽपि ।

यदुक्तम् —

'अप्राधान्यं विधे र्यत्र प्रतिषेधे प्रधानता ।
प्रसज्यप्रतिषेधोऽसौ क्रियया सह यत्र नञ् ।।' इति ।

अत्र विवक्षितविधेयानुपस्थितिस्तद्बीजम् ।

अत्र निषेधो विधेयतया प्रतीयते समासाभावात् । तेन च षण्ठो बाण इति, भर्तुर्दर्पं व्यर्थमिति, न कृता सन्नतिरिति च वाच्यम् ।

यत्र विशेषविधानं तत्र निषेधस्य गुणीभावेऽपि न दोषः ।

यथा—

'अपूतः पूततां याति यस्मिन्मनसि संस्थिते ।
वपुस्तत्पातु कंसारेरमार्जितसुचिक्कणम् ॥'

अत्रापूतत्वादिकमनूद्य पूतत्वादिकं विधीयते । द्वितीयं त्वग्रे वक्ष्यते ।

'अकार्यमित्रमीशानं स्मरन्कृष्णं भजामृतम् ।'

अत्र कार्यं विनैव मित्रमिति विवक्षितम् । अकार्येषु कुकर्मसु मित्रमिति विरुद्धां धियं जनयति । एवं 'भवानीपतिः प्रियतमः' इत्यादिकमपि पत्यन्तर[1]धीजनाद् दुष्टमेव ।

अथ समासगतं श्रुतिकटु यथा—

'प्रचक्रमे विक्रमविक्रयं भ्रुवा सुवक्रयासौ रतिचक्रमक्रमात् ।
सुनिष्ठुरष्ठ्यूतकटाक्षसौष्ठवा गोष्ठाधिराजस्य सुते विसंष्ठुले'[2] ॥

अथ विरुद्धमतिकृदुदाहरति—अकार्येति । कार्यस्याभावोऽकार्यं तेन मित्रमकृत्रिममित्रमव्ययीभावे लक्षणानुसंधाने बिलम्बात्तत्पुरुषेण झटिति कुकार्यप्रतीतिरित्याह—

अकार्येष्विति । अत्रोपश्लोकनविरोधिनः कुकर्ममित्रत्वस्य प्रतीतिरित्यर्थः । समासावयवस्य नञो निन्दार्थकत्वात् यदुक्तम्—

"तत्सादृश्यं तदन्यत्वं तदल्पत्वं विरोधिता ।
अप्राशस्त्यभावश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः ॥" इति ।

प्रकृतार्थप्रतिबन्धकीभूताप्रकृतार्थधीजनकं विरुद्धमतिकृत् । स्फुटमत्र तद्बीजम् । विरुद्धत्वं च प्रकृतान्यथकारप्रत्यायकत्वम् । एवं षोडश पददोषा दर्शिताः ।

प्रचक्रमे इति । विपरीतरतिं सख्यो मिथो वर्णयन्ति । असौ राधा विक्रमस्य विक्रयोऽव्ययो यत्र तादृशं रतिचक्रं प्रचक्रमे आरेभे । क्व गोष्ठाधिराजस्य सुते । अक्रमात् । स्वक्रमविरुद्धं पुरुषक्रममुपेत्येत्यर्थः । कीदृशी सुनिष्ठुरं यथा स्यात्तथा ष्ठ्यूतं निक्षिप्तं कटाक्षसौष्ठवं यया सा । कीदृशे । विसंष्ठुले स्वरीतिं हित्वा स्त्रीरीत्या स्थिते ।

---

१. पत्याद्यन्तर क । २. एतदनन्तरम् 'एवमन्यच्चपरिच्छयम्' इत्यधिकं पठ्यते ।

'अपास्य च्युतसंस्कारमसमर्थं निरर्थकम् ।
वाक्येऽपि दोषाः सन्त्येते पदस्यांशेऽपि केचन ॥४॥

क्रमेणादाहरणानि—

'चर्कर्ति मम कार्तार्थ्यं वक्रभ्रूर्भावदार्ढ्यतः ।'

अत्र वाक्यं श्रुतिकटु ।

'लेखैरर्च्यो विधुः शान्तं रातु श्यतु च पातकम् ।

अत्र लेखैरर्च्यो विधुः कृष्णः, शान्तं सुखम्, रातु ददातु, श्यतु कृशं करोतु । एते लेखादिशब्दाः सुरादिवाचिनोऽपि श्लेषादेरन्यत्राप्रयोगादप्रयुक्ताः ।

'क्षमाक्षमाधरानन्तमकरध्वजलङ्घिनः ।
प्लवन्ते शैव्यसुग्रीवमेघपुष्पवलाहकाः ॥'

अत्र क्षमा शान्तिः, क्षमाधरः क्षमी, अनन्तः शेषः, मकरध्वजः स्मरः, शैव्यः शिविपुत्रः, सुग्रीवः कपिराजः, मेघपुष्पं जलम्, वलाहको मेघः । एतैः प्रसिद्धैः पृथ्वीगिरिवियदर्णवाश्चत्वारो भगवदश्वाश्च प्रसिद्धा निहन्यन्ते ।

'देव त्वमसि कुविन्दः पटयसि च गुणान्प्रतिक्षणं चित्रान् ।
कीर्तिस्तव प्रियासौ प्रतिवेश्म कथं दिगम्बरा भ्रमति ॥'

वाक्यपदांशदोषानतिदिशति—अपास्येति । साकाङ्क्षनानापदवृत्तिर्दोषो वाक्यदोषः । च्युतसंस्कृतासमर्थनिरर्थकानां स्वभावादेवान्वयबोधे स्वरूपायोग्यानामन्वयाबोधने पदान्तरविरहप्रयुक्तत्वविरहेण साकाङ्क्षत्वाभावान्न वाक्यदोषतेति तेषां वर्जनम् ।

चर्कर्तीति । मधुमङ्गलः कृष्णमुपहसति भावदार्ढ्यतो दृढप्रणयात् ।

लेखैरिति । कश्चित्कस्मैचिदाशिषं दत्ते ।

क्षमेति । गच्छन्तं[1] श्रीकृष्णस्य स्यन्दनं वीक्ष्य कश्चित्कविर्वर्णयति । चत्वार इति । पृथिव्यादयो भगवदश्वाश्चेति सम्बन्धनीयम् ।

देवेति । युधिष्ठिरं कश्चित्कविः स्तौति । कुं पृथिवीं विन्दतीति कुविन्दो राजा जातिविशेषस्तन्तुवायश्च । पटयसि पटून् पटांश्च करोषि । गुणान् विद्यादानदयादीन् सूत्राणि च । दिगम्बरा दिग्व्यापिनी विवस्त्रा च । अथ कथमित्यनेन तन्तुवायत्वारोपत्तिरस्कारव्यक्तिः ।

---

१. गच्छन्तः क ।

अत्र कुविन्दादिशब्दा भूपालादि वाचिनोऽपि तन्तुवायाद्यर्थप्रतीतेरनुचितार्थाः।

'विष्णुस्यन्दनपर्णानां पृषदश्वेन धाविताः।
निपेतुः काश्यपीकान्ताः कौण्डिन्याः करपीडने॥'

अत्र विष्णुस्यन्दननादिशब्दा विष्णुरथादिशब्दवत्[1] गरुडाद्यर्थान्न बोधयन्तीत्यवाचकास्ते। पर्णाः पक्षाः, पृषदश्वः पवनः, धाविताः कम्पिताः, काश्यपीकान्ताः भूपतयः, कौण्डिनी रुक्मिणी, करपीडनं विवाहः।

'अमेहनादपानाच्च खिद्यतेऽसौ तपोधनः।'

अत्रामेहनादिशब्दाः स्नेहनाद्यभाववाचिनोऽपि व्यवायादिप्रत्ययाद् व्रीडाबोधिनः।

'कृतप्रवृत्तिरन्यार्थैः कविर्वान्तं समश्नुते।'

अत्र प्रवृत्तिवान्तशब्दौ विड्उत्सर्गादिप्रतीतेर्जुगुप्सा बोधिनौ। न चैवं माधुर्यमुद्वमति मूर्तिरियं मुरारेः' इत्यादौ दोषः। गौणवृत्तितायां तदनङ्गीकरात्।

'शुभक्षयं पितृवनं जीवितेशाय सा ययौ।'

अत्र मंगलालयं पितुरुद्यानं कान्तं द्रष्टुमागतेति विवक्षितम्। मङ्गलनाशश्मशानयमप्रतीतेरमङ्गलबोधिता।

'एष को भूतिभिर्भाति दोषाकर निभो नृपः।'

विष्णुस्यन्दनेति। रुक्मिणीहरणे गरुडपराक्रमं शुको वर्णयति। तदनङ्गीकारात् दोषास्वीकारात्।

शुभक्षयमिति। जीवितेशायेति चतुर्थी। 'क्रियार्थोपपदस्य कर्मणि स्थायिनः' इति पाणिनिस्मृतेः। तथैव विवृतं वृत्तिकृता—कान्तं द्रष्टुमिति।

एष क इति। प्रकरणाभावात् स्तुतिर्निन्दावेति संशयः।

---

१. विष्णुरथादिशब्दवत् इति ख पुस्तके नास्ति।

अत्र किं भूतिदोषाकरशब्दौ संपच्चन्द्रवाचकौ, किं वा भस्मापराधखनिबोधकाविति प्रकरणाभावात्संदेहः ।

'परमन्नमयादिभ्यश्चतुर्थोऽयमधीयते ।
तमानन्दमयं कृष्णं भजन्नमृतमाप्नुयात् ॥'

अत्रान्नमयप्राणमय मनोमय विज्ञानमय शब्दाः शरीरादिजीवान्तानां चतुर्णां वाचकाः । आनन्दमयशब्दस्तु परस्य ब्रह्मणः । एते च वेदान्तशास्त्रमात्रप्रयोगादप्रतीताः ।

'हित्वा गल्लोक्तिमीशाय भल्लं खानादिकं कुरु ।'

अत्र गल्लादिशब्दा ग्राम्याः ।

'वासः प्रवालचरणैरुन्निद्रा सखि वर्तते ।
घनप्रसवजातानामटवीति विभावय ॥'

अत्राम्बरमणेः सूर्यस्य किरणैः प्रफुल्लं जलजानां विपिनं शोभत इति नेयार्थं वाक्यम् ।

'आकल्पस्य न कस्यैतां विलोक्य मुरवैरिणः ।
रज्यत्यपूर्वघटनां मानसं किल माधुरीम् ॥'

अत्राकल्पस्य माधुरीं विलोक्य कस्य मानसं न रज्यतीति संबन्धः क्लिष्टः ।

परमिति । एतेऽन्नमयादयः पञ्च शब्दास्तैत्तिरीयशाखायामानन्दवल्ल्यां देहादिषु रूढिशब्दाः[1] परिभाषिताः । विज्ञानमयशब्दस्य जीवचैतन्यवाचकत्वं सूत्रभाष्यादौ निरूपितमस्ति ।

हित्वेति । काचिद् गुज्जरी प्रगल्भादूती श्रीराधामाह—गल्लोक्तिमपार्थबहुकथाम् । ईशाय प्राणनाथाय । कृष्णार्थमित्यर्थः । भल्लं समीचीनं खानादिकं भक्ष्यपेयादि ।

वास इति । अत्र वासः प्रवालादिपदैरम्बररत्नादिपदानि लक्ष्यन्ते । तेषु लक्षणा न संभवति रूढिफलयोरभावात् ।

आकल्पस्येति । अत्रासत्तिज्ञानविलम्बादन्वयाज्ञानविलम्बस्तद्वीजम् ।

---

१. रूढिशब्दाः इति ख पुस्तके नास्ति ।

'कृष्ण त्वं राजपुत्रोऽसि सांप्रतं तव रक्षणम् ।
न पुनः कुलरामाणां वस्त्रभूषादिमोषणम् ।।'

अत्र राज्ञः कुलस्य चेति संवन्धो विधेय उत्कर्षधीहेतुत्वात् । समासेन तु तस्यावश्यं न्यग्भावः ।

'सौभाग्यमेतदेवास्य यत्कृता प्रणतिः सताम् ।'

अत्र सौभाग्यं विधेयम् । तच्च पूर्वनिर्देशेनानुवाद्यमिव जातमिति विधेयांशाविमर्शः । यदुक्तम्—

'अनुवादमनुक्त्वैव न विधेयमुदीरयेत् ।'

इति । अनुवाद्यविधेयौ हि सिद्धसाध्यभूतौ पूर्वपश्चाद्भावेन निर्दिश्येते ।

यथा—

'ब्राह्मणः पण्डितः स्नाति सौजन्यादिगुणार्णवः ।'

अत्र ब्राह्मणत्वं प्रसिद्धम् । पाण्डित्याद्यप्रसिद्धम् ।

यथा वा—

'तवानन्दकरो योऽसौ कृष्ण सखि समागतः ।'

अत्र 'सखि, स दृश्यताम्' इति वाच्यम् । यत्तदोर्नित्यसंवन्ध इति न्यायात् । प्रक्रान्तयच्छब्दनैराकाङ्क्षयाय तच्छब्दस्यावश्योपादेयत्वाच्च ।

विधेयाविमर्शमुदाहरति—कृष्णः त्वमिति । गोपकुमारीणां कृष्णं प्रतीयमुक्तिः । न्यग्भावो गुणीभावः ।

सौभाग्यमिति । एतत् सप्रणतिरूपं तत्र सौभाग्यत्वं विधीयते । तत्रानूद्यविधेययोः पौर्वापर्येणोपादाने तथा प्रतिपत्तिः । यदुक्तम्—यच्छब्दयोगः प्राथम्यमित्यादि । अत्र तदभावादविमृष्टविधेयांशता ।

अथ सत्यपि पौर्वापर्योपादाने क्वचिद्विधेयत्वानुपस्थित्यापि तद्दोषत्वं स्यादित्युदाहरति—यथा वेति । दन्तवक्त्रं निहत्य श्रीकृष्णे व्रजमागते मूर्छितां राधां सख्यो बोधयन्त्यो वदन्ति । प्रकान्तो यच्छब्दो योऽसाविति । नैराकांक्ष्यं नैरपेक्ष्यम् ।

नन्वदः शब्देनैव नैराकांक्षयम्, इदमेतददः शब्दानां तच्छब्दसमानार्थकत्वात् । मैवम् । यच्छब्दसन्निहितानां तेषामनुवाद्यत्वप्रतीतिकृत्वात् । व्यवहितैस्तु तैर्नैराकांक्षयं स्यादेव ।

यथा—

'तवानन्दकरः कृष्णो योऽधुनासौ समागतः ।'

तच्छब्दसन्निधाविदमादयः प्रसिद्धिं परामृषन्ति, यच्छब्दसन्निधौ तच्छब्दश्च ।

क्रमेणोदाहरणे—

'यस्त्वदानन्दनः कृष्णः सोऽयं सखि समागतः ।
यत्तत्कृष्णस्य माहात्म्यं वक्तुं तत्केन पार्यते ॥'

यत्र तु यत्तदोरेकतरस्यार्थत्वं संभवेत्तत्रैकतरोपादानेऽपि नैराकांक्षयं स्यात् । तथाहि उत्तरवाक्यस्थो यच्छब्दः सामर्थ्यात् पूर्ववाक्ये तच्छब्दं नाकांक्षति ।

यथा—

'जयति श्रीपतिर्यस्य किङ्करा द्रुहिणादयः ।'

आशङ्कते—नन्विति । परिहरति—मैवमिति । यच्छब्दसमीपोपात्तानामिदमादीनां प्रसिद्धिमात्रपरामर्शितयानुवाद्यत्वप्रत्यायकत्वादित्यर्थः । अत्रेदमादीनां सार्वत्रिकं तच्छब्दसमानार्थकत्वं नास्ति, किन्तु यच्छब्दनिर्दिष्टवाक्यार्थपरामर्श एवेति बोध्यम् ।

क्वचिदिदमादीनां तच्छब्दस्य च प्रसिद्धिपरामर्शकत्वं दृष्टमित्याह—तच्छब्दसंनिधाविति । अत्रेदमादयस्तच्छब्दश्च समानलिङ्गविभक्तिकतयैकवाक्योपात्ताः बोध्याः । तेन 'चकास्ति स्वर्णगौराङ्गी' इत्यादौ लिङ्गादिभेदात् प्रसिद्धेर्न बोधः किन्तु विधेयत्वस्यैवेति ज्ञेयम् ।

यस्त्वदानन्दन इति । अयं प्रसिद्धः ।

यत्तदिति । तत् प्रसिद्धम् । पार्यते शक्यते ।

ननु यत्तदोरेकतरस्योपादानेऽपि निराकांक्षा प्रतिपत्तिः क्वापि वीक्ष्यते, तथा प्रकृतेऽपि स्यादिति चेत्तत्र तयोर्मिथो नैरपेक्ष्यं प्रतिनियतस्थान एव न सर्वत्रेति बोधयन्प्रकृते विधेयत्वानुपपत्तिं द्रढयति—यत्र त्वित्यादिना । गुरुमित्यन्तेन सामर्थ्यात् । नैरांक्ष्यकृतियोग्यत्वात् ।

जयतीति । अत्र स इति नापेक्ष्यते ।

पूर्ववाक्यस्थस्तु परत्र तमाकांक्षत्यसामर्थ्यात् ।

यथा—

'वाञ्छितं निजभक्तेभ्यो यो दत्ते सेव्यतां हरिः ।'

अत्र स सेव्यतामित्युक्तौ नैराकांक्षचम् ।

प्रक्रान्तप्रसिद्धानुभूतार्थविषयस्तच्छब्दो यच्छब्दं नाकांक्षति । क्रमेणोदाहरणानि—

'स कृष्णो मथुरां गत्वा हत्वा कंसमसत्तमम् ।
यदूनां निजनाथानां परमर्धिमवर्धयत् ॥'

'दुखं हरति भक्तानां करोति परमां मुदम् ।
हेतुं[1] नापेक्षते कंचित्स विष्णुः प्रणतिप्रियः ॥'

'कदा तमहमीक्षिष्ये सदानन्दमयं गुरुम् ॥'

द्वयोरुपादाने नैराकाङ्क्षच प्रसिद्धम् । क्वचिदनुपादानेऽप्यार्थत्वम् ।

यथा—

'न मे शमयिता कोऽपि भारस्येत्युर्वि मा शुच ।'

'नन्दस्य भवने कोऽपि बालोऽस्त्यद्भुतपौरुषः ।'

अत्र योऽस्ति स भारस्य शमयितेति गम्यते ।

क्रमेणेति । स इति । शुकोक्तिः । स पूर्वप्रतीतिविषयः ।

दुःखमिति । शिष्यं गुरुरुपदिशति । अत्र संसारच्छेदपूर्वकपरमानन्दरूपाय फलाय प्रणतिमात्रं नार्हतीति निर्हेतुका तत्र प्रवृत्तिरिति । स श्रीभागवतादिशास्त्रप्रसिद्धः ।

कदेति । शिष्यः स्वगतमाह । तं मदनभूतज्ञानवैराग्यकारुण्यादिगुणगणं गुरुम् ।

द्वयोरिति । प्रसिद्धम् यदुवाच न तन्मिथ्यावौ [रघु० १७-४२] । किंच एकत्र विधेयत्वबोधिनो नान्यत्र प्रसिद्धिपरामर्शित्वम् । यथा—

"न केवलं यो महतोऽपभाषते[2] शृणोति तस्मादपि यः स पापभाक् ।"

अत्र स इत्यस्य पूर्वयत्पदार्थविधेयत्वबोधिन उत्तरत्रापि तथेति न प्रसिद्धिपरामर्शित्वम् । अतएव तच्छब्दान्तराग्रहेऽपि नैराकाङ्क्ष्यमिति ॥ क्वचिदिति । द्वयोरित्यर्थात् ॥

न म इति । विरिञ्चोक्तिः । हे उर्वि ॥

---

१. हेत्वं ख । २. विभाषते क, ख ।

पूर्ववाक्यस्थयच्छब्दवीप्सायाः परवाक्यस्थतच्छब्दवीप्साऽपेक्षैवेति न नियमः । परस्थैकतच्छब्देन वीप्साप्रतिपाद्यस्य समर्थनात् ।

यथा—

'पापिष्ठेन मया यद्यत्पापमाचारितं शुभे ।
तद्विनाशय देवि त्वं गङ्गे भुवनपावनि ॥'

अत्र यद्यदिति येनकेनचिद्रूपेण स्थितं सर्वात्मकं वस्तु विवक्षितं तथाभूतमेव तदित्यनेन परामृष्टं परस्थितिसामर्थ्यात् ।

यच्छब्दसन्निधाविदमादीनां लिङ्गविभक्तिभेदेऽपि नैराकांक्षयमेव ।

'चकास्ति स्वर्णगौराङ्गी येदं भुवनभूषणम् ।
चन्द्रश्चकास्ति यस्तेने तापिताः पथिकाङ्गना ॥'

'तवगोविन्द भक्तस्य मातरिश्वा ललाग यत् ।
पावनो मयि तेनाहं कृतार्थः करुणाम्बुधे ॥'

अत्र वाक्यं 'श्वा तव मातरि ललाग' इति विरुद्धधीकृत् ।

अथ पदांशेऽपि यथासंभवं क्रमेणोदाहरणानि—

'भक्तत्वात्समशीलत्वात्साधुत्वाच्च प्रियोऽसि मे ।
स्वसिद्ध्यै: मोक्षलब्ध्यै च तवाहं संस्थितो वृणु ॥'

न नियम इति । यत्पदार्थस्तत्पदेन परामृश्य इत्येवनियमः, न तु यावन्तो यच्छब्दास्तावन्तस्तच्छब्दा इति भावः । तेन—"यां यां प्रियः प्रैक्षत कातराक्षीं सा सा ह्रिया नमुखी बभूव" इति वीप्सापि सिद्धा ।

तथाभूतमिति । एकदा सकलपापे नाशान्वयसंभवान्न वीप्सा ।।

तवेति । मातरिश्वा पवनः । अत्रेति । श्वा कुक्कुरः ।

अथ पदांशेऽपीति । स्वसिद्ध्यै धनावाप्तये । संस्थितः प्रसन्नतया पुरोवर्ती । वृणु अर्थय ।

अत्र त्वा त्वादिति द्धचैँ ब्ध्यैँ इति च पदांशाः श्रुतिकटवः ।

'धातुमत्तां गिरेर्वीक्ष्य चक्षुषामुत्लवं[1] कुरु ।'

अत्र मत्तेति क्षीबार्थेन निहतार्थः । चक्षुषामिति बहुत्वं निरर्थकम् ।

'विजेयस्तत्र कृष्णेन मागधो मागधोऽभवत् ।'

अत्र विजेय इति कृत्यप्रत्ययः क्तप्रत्ययार्थेऽवाचकः ।

'यस्यातिपेलवैर्वाक्यैर्मनोऽस्माकं विपूयते ।
कृष्णार्थी स कथं दुष्टैरभिप्रेतो भविष्यति ॥'

अत्र पेलपूयप्रेतशब्दाः क्रमात् व्रीडादिबोधकाः ।

'अयं भक्तचरो वाक्यवाणैरपि सुदुर्जयः ।
तदेनमुदयं वाञ्छन्भज राजन्प्रतिक्षणम् ॥'

अत्र किं पूर्वं भक्तः, उत भक्तेषु चरतीति सन्देहः ।

वाक्यशब्देन गीः शब्दो लक्ष्यते । तेन नेयार्थः पदांशः । गीर्वाणशब्देन पूर्वमुत्तरं च पदं परिवृत्तिं न सहते । पयोध्यादावुत्तरपदमेव, वडवाग्न्यादौ तु पूर्वपदमेवेति बोध्यम् ।

अप्रयुक्तनेयार्थयोरसमर्थान्तःपातेऽपि विभागप्रदर्शनं स्पष्टार्थम् । शब्दानां सर्वथा

धातुमत्तां गैरिकादियुक्ताम् । विजेयो विजित इत्यर्थः । मागधो जरासन्धः स च कृष्णेन तत्र समरे विजितः पराभूतः सन् मागधो वंशशंसकः अभवत् । प्राणत्राणाय स्तवमकरोदित्यर्थः । कृत्यप्रत्यय इति । तव्यानीयरकेलिमरक्यण्यत् एते कृत्यसंज्ञकाः पाणिनीयानाम् ।।

भक्तिमार्गोपदेशिनः कस्यचित्साधोर्दुर्जनसङ्गं निशम्य कश्चिदाह—यस्येति । पेलवैः कोमलैः विपूयते विशुद्धं भवति । दुष्टैरभिप्रेतो दुष्टाभिप्रायाक्रान्तः । कथं भविष्यति । न चैवं संभवेदिति भावः । अत्र पेलशब्दः पुंव्यञ्जनस्य, पूयशब्दो व्रणक्लेदस्य, प्रेतशब्दो मृतकस्य बोधकः ।

अत्र किमित । चरडिति चरतीति वा प्रकरणाभावेन संशयः ।

गीः शब्दो लक्ष्यत इति । तदेव गीर्वाणस्य देवस्य प्रतीतिरित्यर्थः । उत्तरं च पदमिति । शरपदेनापि देवस्य प्रतीत्यभावात् । पयोध्यादाविति । पयोधरादिशब्देनापि पयोधेरप्रत्ययात् ।

---

१. उत्प्लवं ख ।

प्रयोगे असमर्थत्वम्। विरलप्रयोगे निहतार्थत्वमनेकार्थविषयम्। अप्रतीतत्वं त्वेकार्थस्यापि शब्दस्य सार्वत्रिकप्रयोगविरहः।

अथ वाक्यमात्रगतान्दोषानाह—

प्रतिकूलवर्णमुपहतलुप्तविसर्गं विसन्धिहतवृत्तम्।
न्यूनाधिककथितपदं पतत्प्रकर्षं समाप्तपुनरात्तम्॥५॥

अर्धान्तरैकवाचकमभवन्मतयोगमनभिहितवाच्यम्।
अपदस्थपदसमासं संकीर्णं गर्भितं प्रसिद्धिहतम्॥६॥

भग्नप्रक्रममक्रमममतपरार्थं च वाक्यमेव तथा।

एकविंशतिविधं वाक्यं दुष्टमिति संबन्धः।

तत्र वर्णानां रसानुगुण्यवैपरीत्यं प्रतिकूलत्वम्।

यथा—

'प्रचक्रमे विक्रमविक्रथं भुवा' इत्यादि [पृ० ८८]। अत्र शृंगारे प्रतिकूलाः वर्णाः। एवं वीरादौ माधुर्यादिव्यञ्जकास्तथा। उपहत उत्वं प्राप्तो लुप्तो वा विसर्गो यत्र तदिति द्वयम्।

यथा—

'श्यामोऽभिरामो रमणो दधानोऽवनतिं हरिः।
उत्क उन्मद उत्तप्तस्तदेतं सुखयालि हे॥'

वडवेति। अश्वाग्न्यादिना वडवाग्नेरप्रत्ययादित्यर्थः। अप्रयुक्तेति। विवक्षितार्थप्रतीतिशून्यत्वमसमर्थत्वम्। तच्च तयोरपीति भावः॥

अथेति मात्रपदात्पदतदंशयोर्व्यावृत्तिः। तथा दुष्टमित्यर्थः॥

तत्रेति। तद्वैपरीत्यमास्वादोद्बोधप्रतिबन्धित्वम्॥ ननु श्रुतिकटुत्वेन सहास्य सांकर्यम्। मैवं, तत्र परुषवर्णमात्रं दुष्टम्। इह तु सकुमारा अपि वर्णा रौद्रादौ दुष्टा इति भेदात्। उपधेयसांकर्येऽप्युपाध्यसांकर्यादिति भावः। प्रतिकूलवर्णादिषु पञ्चसु पतत्प्रकर्षे च बन्धशैथिल्यकारित्वं तद्बीजम्, गाढत्वे बन्धस्य चमत्कारात्॥

उपहत इति। उपहतविसर्गं च वाक्यमित्यर्थः॥

श्याम इति। मानिनीं श्रीराधां विशाखाह।

सन्धेर्वैरूप्यं त्रिधा—विश्लेषोऽश्लीलत्वं कष्टत्वं चेति ।

क्रमेणोदाहरणानि—

'दलिते उत्पले एते अक्षिणी अमलाङ्गिते ।
बलादाकर्षतस्तन्वि मम ईक्षणषट्पदौ ॥'

अत्र प्रगृह्यादिहेतुकः सन्धिविश्लेषोऽसकृदेव, छन्दोभङ्गभयान्निजेच्छाकृतस्तु सकृदेवेति तथोभयं दर्शितम् ।

'स चोदयति तिग्मांशु र्निद्रां सुभ्र्वधुना त्यज ।'

अत्र चोदयतीति सन्धेरश्लीलत्वम् । सुभ्र्वेति तु कष्टत्वम् ।

वृत्तस्य हतत्वमप्राप्तगौरवान्तलघुत्वं रसप्रतिकूलत्वं लक्षणानुसरणेऽप्यश्रव्यत्वं च ।

क्रमेणोदाहरणानि—

'शशिमुखि सखि राधिकेऽधिकासि गुणविभवेन समस्तसुन्दरीभ्यः ।
त्वयि निहितमना मनागपि श्रीव्रजपतिसूनुरुपैति नान्यपार्श्वम् ॥'

अत्र प्रथमपादान्तेऽसीति लघुवर्णविन्यासो वृत्तस्य हतत्वं बन्धशैथिल्याद् व्यनक्ति ।

अवनतिं प्रणतिम् । आलि हे सखि ।

दलिते इति । राधां प्रति निजाशक्तिं कृष्णो वक्ति । अत्र प्रगृह्या दीति । 'ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्' इत्यधिकारात् । 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' इति सन्धिनिषेधः । आदिपदादन्येषां सन्धिनिषेधकानां संग्रहः । सकृदेवेति । तथैव कविसमयात् ॥

स चेति । प्रातर्निजकुञ्जादागत्य मन्दिरे सुप्तां राधां विशाखा जागरयति । हे सुभ्रु । च्युतसंस्कृतित्वं चात्र बोध्यम् । स चोदयतीत्यनेकपदावलम्बनाद्वाक्यदोषता । एवं परत्र च ॥

वृत्तस्येति । वृत्तं छन्दः । लक्षणं छन्दः सूत्रम् ॥

शशीति । विशाखोक्तिः । त्वयीति[1] । अन्यपार्श्वमिति । सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः ॥'

---

१. अतस्त्वयीति क ।

'पादान्ते लघुर्गुरुर्वा' इति वाक्येन लघोरपि यद्गुरुत्वं तत्सर्वत्र द्वितीयचतुर्थपादविषयं, प्रथमतृतीयपादविषयं तु वसन्ततिलकादावेवेति बोध्यम्। तेन सीत्यत्र त्वमिति युक्तम्। एवमार्यासु चोक्तगणविरोधात्प्रेक्ष्यम्।

'अयि मयि मानिनि मा कुरु मानं वितर मृगाक्षि निजाधरपानम्।
जीवतु दयितजनो हरिरेषः प्रतिगतविरहजदुःखविशेषः॥'

अत्र पज्जटिकावृत्तं विप्रलम्भप्रतिकूलं हास्यव्यञ्जित्वात्।

'इह मुरहरान्यत्किं भाव्यं भवत्पदसेवनात्।'

इह षष्ठे वर्णे परपदसन्धानकृता यतिरश्रव्या।

'कमलमुखि विचित्रस्यावधिः कोऽपि दृष्ट—
स्तरणिदुहितृतीरोपान्तमद्य प्रयान्त्या।
नवजलधरधामश्यामलोऽयं किशोरः
कलयति जलकेलिं सत्तमातङ्गकेलिः[1]॥'

अत्र पूर्वार्धे मयेति पदं न्यूनम्। तृतीये पादे श्यामल इत्यधिकम्। चतुर्थे केलिरिति कथितं च।

'प्रोज्ज्वलज्ज्वलनज्वाला विकटोरुसटाछटः।
श्वासाक्षिप्तकुलक्ष्माभृत्पातु वो नरकेशरी॥'

अयीति। कृष्णोक्तिः। प्रतिगतो नष्टः॥ इहेति[2]। अश्रव्या श्रोतुमनर्हा॥

न्यूनाधिककथितपदमुदाहरति—कमलमुखीति। विशाखां प्रति श्रीराधिकोक्तिरियम्। स्पष्टार्थं पद्यम्। पदशब्दस्य प्रत्येकमन्वयान्न्यूनपद अधिकपदं कथितपदं चेति त्रयम्। न्यूनपदमित्यत्र पदशब्दो वाचकपरः। द्योतकन्यूनत्वे त्वनभिहितवाच्यतेति तस्माद् भेदः। अत्र मयेति पदं न्यूनम्। साकांक्षत्वं तद्बीजम्। नवजलधरधामेत्यनेनैव श्यामलतायाः प्राप्तेस्तत्पदमधिकमित्यर्थः। आकांक्षाविरहः स्फुटमेव तद्बीजम्।

केलिरिति कथितं चेति। एक पदं द्विःप्रयुक्तमुद्देश्यप्रतिनिर्देश्ययोरभेदप्रत्यभिज्ञानाय प्रकृते तु तन्न विवक्षितम्। सत्यपि अर्थभेदतात्पर्ये पदैकत्वदोषादर्थैक्यप्रतिभासस्तद्बीजम्॥

प्रोज्जवलदिति। राजानं प्रत्याशीर्वादः। सटा सिंहशिरोरुहः छटासमूहः।

---

१. मत्तमातङ्गकेलिः क। २. इहेति क, ख पुस्तकयोः नास्ति।

अत्रानुप्रासप्रकर्षः क्रमेण पतितः।

'नाशयन्निविडध्वान्तं भासयन्पृथिवीतलम्।
उदेति सखि राकेशस्तापयन्पथिकाङ्गनाः॥'

अत्र वाक्यसमाप्तावपि चतुर्थपादः पुनरुपात्तः।

अर्धान्तरे एकं वाचकं यत्र तत्।

यथा—

'चन्द्रश्चन्द्रिकया भाति भासयन्कुन्दशुभ्रया।
विश्वं मा कुरु वामाङ्गि मानं पादानते हरौ॥'

अत्र विश्वमित्येकं पूर्वार्धस्य वाचकं पदमुत्तरार्धादौ कृतम्।

यथा वा—

'किमयं विधुराभाति किंचैतद्वदनं नु किम्।
मदिरद्वितयं किं वा चित्रे ते नयनद्वयम्॥'

अत्र परार्धस्यैकं किमिति वाचकं पदं पूर्वार्धान्ते।

मतयोग इष्टसंबन्धः स यत्राभवन्।

अत्र क्रमेणेति स्फुटमनुप्रासापकर्ष इत्यर्थः। पूर्वापेक्षया बन्धशैथिल्य तद्बीजम्।

समाप्तमन्वयबोधजननान्निराकांक्षमपि विशेष्यं पुनर्विशेषणान्तराकांक्षया वृत्तं यत् तत् समाप्तपुनरात्तम्। तदुदाहरति—नाशयन्निति। अत्राकांक्षान्तरकल्पनेन शाब्दबोधविलम्बनं तद्बीजम्॥

अर्धेति। एकमद्वितीयमनन्वितं वा॥

चन्द्रश्चन्द्रिकयेत्यादि। अत्रार्धान्तरपतितस्य पदस्योपस्थितिविलम्बादन्वयधीविलम्बस्तजद्बीम्।

मतयोग इति। अभवदिष्टसंबन्धः। विवक्षितान्वयासंभव इति यावत्। तेन विधेयाविमर्शे नातिव्याप्तिः। तत्र रचनान्यथात्वे विवक्षितसंबन्धोपपत्तेः। वैभक्तिकोऽन्वयबोधस्तत्र भवेदेव, इह तु सोऽपि नेति विशेषाच्च। तदसंभवश्च क्वचिन्निराकांक्षतया क्वचित्त्वयोग्यतयेति बोध्यम्।

तद्यथा[1]—

'या जयश्रीर्मनोजस्य यया विश्वं विभूषितम्।
यां पद्माक्षीं विना प्राणा वृथा मम कुतोऽद्य सा॥'

अत्र यच्छब्दनिर्दिष्टानां वाक्यानां मिथो नैरपेक्ष्यात्तदन्तःपातिना पद्माक्षीशब्देनान्येषां संबन्धः कविभिरभीष्टोऽपि न घटते।

'यां विनामी वृथा प्राणाः पद्माक्षी सा कुतोऽद्य मे।'

इति तच्छब्दवाक्यान्तःपातित्वे तु सर्वैरपि यच्छब्दनिर्दिष्टैः वाक्यैः सम्बन्धो घटते।

यथा वा—

'प्रेमोच्चयः पयः पूरो हर्षाद्याः किल वीचयः।
भक्तहृत्सरसी हंसश्चकास्ति मधुसूदनः॥'

अत्र सरसीशब्दस्य समासेन न्यग्भावात्तदर्थः सर्वैर्न संबध्यते।

विधेयाविमर्शेऽविमृष्टोंऽशो दुष्टः, इह तु प्रधानीभूतस्य सरसीपदार्थस्य प्राधान्येनाप्रत्ययात् सर्वस्यापि पयः पूरादिपदार्थस्य तदङ्गतयाप्रतीतिरिति सर्ववाक्यार्थविरोधावभासः।

या जयश्रीरिति। राधाविरहिणो द्वार्वतीस्थस्य हरेरुक्तिः। अत्र या यया यामित्येतेषु-विशेष्यस्य पद्माक्षीमित्येतस्य प्रतीतिर्न स्यात्। भिन्नविभक्तिकयोः पदयोरभेदान्वये स्वरूपायोग्यत्वात्। यां विनाऽमीति[2] संबन्धो घटत इति विधेयत्वपरामर्शितच्छब्दविशेष्यत्वे सतीत्यर्थः।

विभक्तिविपरिणामेनात्राऽन्वयः संभवेदित्यसंतोषादाह—यथा वेति। अत्र वाक्यत्रय एव सरसीशब्दस्य संबन्धः कवेरभिमतः, स तावत् समभिव्याहारविशेषरूपाकांक्षाभावान्न घटत इत्याह—अत्रेति। न्यग्भावात् विशेषणत्वेनान्विततया विश्लेषाभावात्। तदर्थः सरसीपदार्थः। सर्वैः पयः पूरादिभिः। 'सरसः' इति युक्तः पाठः।

विधेयाविमर्शादस्य भेदमाह—विधेयेति।

---

१. यद्यथा ख।   २. विनाभीति ख।

यथा वा—

'वीक्षसे यत्कटाक्षेण तन्वि धन्वी तदा स्मरः ।'

अत्र यदित्यस्य तदेत्यनेन संबन्धो न घटते । वीक्षसे चेदिति तु युक्तम् ।

यथा वा—

'मुञ्चति त्वयि दृशोः पदवीं मे येन येन शृणु यद्यदवाप्तम् ।
जीवनेन कटुता मरणेन प्रार्थ्यता प्रियतया परिवादः ॥'

अत्र शृण्विति क्रियायाः कर्मापेक्षत्वे जीवनादे द्वितीयान्तत्वं मतम् । वाक्यार्थस्य कर्मत्वे तु प्रथमान्तत्वम् । तदुभयाभावादभवन्मतयोगः ।

यत्तु—

'निन्दतानेन साधूनां वृन्दानि वचसा तव ।
बद्धस्पर्धापि मद्वाणी वाणीश्वर विलज्जते ॥'

इत्यत्र वाणीश्वराचार्यनिन्दायां प्रयुक्तायाः साधुनिन्दाया वचसा सहासंबन्धादभवन्मतयोगतेत्युक्तम् । तन्न । वचो निन्दामुखेन तन्निन्दाया वैदग्ध्याधिक्यव्यञ्जित्वात् ।

अवश्यवक्तव्यं यत्र नोक्तं तदनभिहितवाच्यम् ।

वीक्षसे यदिति । भानिनीं प्रति कृष्णोक्तिः । अत्र यदिति न कालार्थकम् । तेन यत्तदापदयोरभेदान्वयो न संभवति, योग्यताविरहात् ।

दिवाविरहमनुभूय काचित्सायं मिलितं कृष्णमाह—मुञ्चतीति । अत्र श्रवणक्रियायाः कर्मान्तराग्रहात् । पदार्थस्वरूपाणां वाक्यार्थस्य वा कर्मत्वम् । तत्र क्रमाद्बाधकमाह—द्वितीयान्तत्वमिति । जीवनं कटुतामित्यादिरूपम् । तेषां यत्पदार्थत्वेन श्रवणीयत्वात् । प्रथमान्तत्वमिति । जीवनं कटुतेत्यादिरूपम्[1], शुद्धप्रातिपदिकार्थे प्रथमाविभक्तेरनुशासनात् ।

निन्दतेति । शाक्तं वाणीश्वरं प्रति वैष्णवस्तच्छ्यालक आह—हे वाणीश्वर, साधुनिन्दायां प्रतिपाद्यायाम् । साधुनिन्दायास्त्वत्कर्तृकायाः वचसः करणत्वमेव, न तु कर्तृत्वमतो वाक्यं दुष्टमिति यदुक्तम्, तन्न स्थाली पचतीतिवत् करणे कर्तृत्वारोपात् । आरोपितेन तेन चेत्पापं संभाव्यते तर्हि मुखेन सुतरां तदिति वैदग्ध्यनिर्भरः । शाब्दबोधविघटकत्वं[2] तद्बीजम् ।

---

१. रूपम् इति क, ख पुस्तकयोः नास्ति । २. विघटिकत्वम् क ।

यथा—

'अपराधलवं कं मे वीक्षसे यत्प्रकुप्यसि ।'

अत्रापराधलवमपीत्यपिरवश्यं वाच्यः ।

यथा वा—

'सोऽयं हरिर्मुनिमनोरथदूरवर्ती ।'

अत्र मनोरथानामपीति वाच्यम् । अपेर्वाचकत्वाभावाद्वाचकान्न्यूनपदाद्भेदः ।

यथा वा—

'पादप्रणतकृष्णाया देवि कोपस्तथापि ते ।'

अत्र पादप्रणतकृष्णासीति वाच्यम् ।

स्थानं पदम् । अस्थानस्थपदम् । यथा—

'विवाहवेषेण तदा मुरारेर्बभूव या श्रीः कवयन्तु के ताम् ।
सापत्न्यभावादिव साभ्यसूया सरस्वती क्वापि न तां व्यनक्ति ॥'

अत्र तां नेति स्थानास्थितिः । पदमात्रस्यास्थाननिवेशादेव वाक्यमिष्टार्थप्रत्यायनमन्थरमिति वाक्यदोषता ।

अवश्येति । अवश्यवक्तव्यं पदमत्र द्योतकं बोध्यम्, न्यूनं पदं तु वाचकमिति भेदः । लवमिति । अन्यथापराधलवं न वीक्षसे, अपि तु महान्तमपराधमिति प्रतीयेतेति भावः । मनोरथानामपीत्यर्थः । समुच्चयो न केवलबहिरिन्द्रियादीनामित्येवं रूपः । स चापेरग्रहादनुपपन्न इत्यर्थः ।

पादप्रणतेति । अत्र तथापीत्यस्य भिन्नवाक्यार्थसापेक्षत्वादित्यर्थः । पूर्वत्रापेरध्याहारेण परत्र तथापीत्यस्यानन्वितत्वेन च शाब्दबोधविलम्बनं तद्बीजम् ।

सूत्रस्थस्य प्रथमपदशब्दस्य स्थानवाचकत्वमाह—स्थानमिति । पदं स्थानमिति सम्बन्धः । अस्थानस्थपदमयोग्यस्थानस्थपदमित्यर्थः ।

विवाहेति । अत्र नञः क्रियायोगविलम्बादभावानुभवविलम्बस्तद्बीजम् ।

अस्थानस्थसमासं यथा—

'मानोऽस्त्यद्यापि नारीषु तन्मां धिगिति चन्द्रमाः ।
फुल्लत्कैरवकोशोद्यद्‌दृङ्गासि कर्षति क्रुधा ॥'

अत्र चन्द्रस्य क्रुद्धस्योक्तौ समासो न कृतः । कवेरक्रुद्धस्योक्तौ तु कृतः ।

यत्र वाक्यान्तरपदानि वाक्यान्तरे प्रविशन्ति तत्संकीर्णम्[1] ।

यथा—

'चन्द्रं मुञ्च विशालाक्षि मानं पश्यन्नभोङ्गणे ।'

अत्र नभोङ्गणे चन्द्रं पश्य, मानं मुञ्चेति युक्तम् । क्लिष्टत्वमेकवाक्यविषयमित्यस्माद्भिद्यते ।

यत्र वाक्यमध्ये वाक्यान्तरं प्रविशति तद् गर्भितम् ।

यथा—

'भगवद्विमुखैर्लोकैस्तदीयजननिन्दकैः ।
भणामि भवतस्तत्त्वं नोचिता वसतिः क्वचित् ॥'

अत्र भवतस्तत्त्वं भणामीति वाक्यं वाक्यमध्ये प्रविष्टम् ।

मानोऽस्तीति । कुचपर्वतदुर्गतामालक्ष्य नारीषु मानस्तिष्ठति । अद्यापि मय्युदितेऽपीत्यर्थः । तन्मां धिगिति चन्द्रस्योक्तिः । अन्यत्कवेः । ओजो गुणो यत्र व्यङ्ग्यस्तत्रैव दीर्घसमासो युक्तः । स च क्रुद्धस्योक्तौ नाक्रुद्धस्य संभवेत् । इह तद्वैपरीत्याद्वाक्यं दुष्टम् । साहित्याव्युत्पत्तिज्ञानं तद्बीजम् । यत्रेत्यादि । संकीर्णगर्भितयोरनासत्तिरेव तद्बीजम् । गर्भिते व्यवधायकस्य स्वार्थानुभावकत्वम् । संकीर्णे न तथेति भेदः ।

चन्द्रमिति । मानिनीं विशालाक्षीं प्रति सखीवाक्यम् ।

भगवदिति । शिष्यं प्रति गुरोरुक्तिः ।

---

१. प्रविसन्ति संकीर्णम् ।

प्रसिद्धिहतं त्यक्तप्रसिद्धिकम् ।

'रणितं नूपुराद्येषु कूजितादि पतत्रिषु ।
सुरते क्वणितादि स्यान्मेघादौ गर्जितादिकम् ॥

पापे व्योम्नि च मालिन्यं शौक्ल्यं हासे यशस्यपि ।
रक्तत्वं क्रोधरागादौ नद्यादौ पङ्कजादिकम् ॥

पादाघातेन पद्मिन्याः स्यादशोकस्तु पुष्पितः ।
ज्योत्स्ना पेया चकोरेण हंसाद्यास्तु जलाशये ॥

स्मरस्य धनुरादि स्यात्कौसुमं तस्य बाणतः ।
युवतीनां कटाक्षाच्च भिन्नं यूनां मनो भवेत् ॥

वियोग तापतोऽङ्गेषु हारः स्फुटति हृत्तथा ।'

इत्याद्याः कविसमयप्रसिद्धयः ।

उदाहरम्—

'घोरो वारिमुचां रवः समभवत्तिग्मांशुरस्तं गतः ।'

अत्र मेघानां गर्जितमेव कविपु प्रसिद्धम् । रवस्तु मण्डूकादीनामिति प्रसिद्धित्यागः ।

भग्नः प्रक्रमः प्रस्तावो यत्र तत् ।

यथा—

'गते निजपदं कृष्णे याता भक्ताश्च तद्धियः ।'

प्रसिद्धिहतमिति । प्रसिद्धादन्यत्र प्रयोगः प्रसिद्धिहतः । तत्र कुत्र किं प्रसिद्धं तदाह—रणितमिति । पतत्रिषु पक्षिषु ।

घोर इति । श्रीदामविप्रेण सह श्रीकृष्णस्य गुरुकुलचरितमयी संकथा । तदानीम् इन्धनानयनकाले इति शेषः ।

भग्न इति । भग्नो विच्छिन्नः प्रक्रमः प्रस्तावो यस्य तत् । प्रस्तावश्चाकांक्षितप्रकारकोऽर्थः । यद्येन प्रकारेण प्राङ्निर्दिष्टं तेन प्रकारेण तस्यानुक्तिरेव भङ्गः । प्रथमोत्थापिताकांक्षाविषयीकृतेन प्रकारेण पश्चादनुक्तिः प्रक्रमभङ्ग इति निष्कर्षः ।

अत्र गत इति प्रक्रान्ते याता इति प्रकृतेः प्रक्रमो भग्नः। तेन याता इत्यत्र गता इति पाठ्यम्। न चैवं कथितपदतादोषः, तस्योद्देश्यप्रतिनिर्देश्यभिन्नविषयत्वात्। उद्देश्यः प्राक् प्रत्यायितः, प्रतिनिर्देश्यः पुनः प्रत्याय्यः।

तद्वति तु विषये तस्यैव पदस्य सर्वनाम्नो वा प्रयोगं विना दोषः।

तथाहि—

उदेति सविता ताम्रस्ताम्र एवास्तमेति च।
संपत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता॥'

अत्र यदि रक्त इति पदान्तरेण स एवार्थः प्रतिपाद्येत, तदार्थान्तरतयैव प्रतिभासमानः प्रतीतिं स्थगयेत्।

यथा वा—

'यशः प्राप्तुं रिपूञ्जेतुं स्वर्गस्य च दिदृक्षया।
आराधयति यो विष्णुं शास्त्रार्थं स न बुध्यते॥'

अत्र तुमुन् प्रत्ययस्य।

'सुनन्दः कृष्णमामन्त्र्य रुक्मिणीं प्राप्य सत्वरम्।
अस्यै तद्वृत्तमाख्याय तन्नतः स्वगृहं ययौ॥'

गते इति। अत्र याता इति गमनस्योपादानेऽपि नानुगतित्वेन प्रतीतिः स्वाभाव्यात। तेन न तद्वीत्वसंभवः। गता इति कृते त्वनुगतेः स्फुटा प्रतीतिः।

तद्वतीति। उद्देशप्रतिनिर्देशवतीत्यर्थः। दोषस्तदप्रतीतिरूपः। तस्यैव पदस्येत्युदाहरति—उदेतीति। वक्ष्यमाणं च प्रत्याहृत्य मुनिरित्यादि। सर्वनाम्नो वेत्यस्योदाहृतिस्तु—

'नत्वा योगेश्वरं तेन दत्ताज्ञः स्वगृहं ययौ' इति।

स एवार्थस्ताम्रत्वलक्षणः। तदेति। अन्यार्थतया प्रतीतः सन् धियमन्यथयेदित्यर्थः।

यश इति। तुमुन्सनोरिच्छया तुल्यार्थत्वेऽपि तुमुना फलत्वप्रतीतिर्न तु सनेत्यैकरूप्यहानिः। 'प्रयातुं च सुरालयम्' इति द्वितीये चरणे सति निर्दोषता।

सुनन्द इति। शुकोक्तिः। अस्यै रुक्मिण्यै। तद्वृत्तं कृष्णवार्ताम्। तन्नतस्तया नमस्कृतः। तदा तच्छब्देन।

अत्रेदमा प्रकान्तस्य तेनैव तत्समाभ्यामेतददोभ्यां वा परामर्शो युक्तः, न तु तदेति सर्वनाम्नः।

'भाति यद्यपि गोविन्द तवालंकृतिसंचयः।
तथापि भूषणज्येष्ठः प्रेष्ठः कौतुभ एव मे॥'

अत्र पर्यायस्य।

'पादौ प्रक्षाल्य विधिना देवर्षं यदुनन्दनः।
निवेश्य निजपर्यङ्के ननाम च स मानदः॥'

अत्र क्रियाक्रमस्य नतिरादौ हि वाच्या।

'रासे कासे कापि दधौ वीणां मृदङ्गान्किल काश्चन।
तालं काचित्कयाचित्तु गीतं तेनेऽच्युतार्चितम्॥'

अत्र वचनक्रमस्य कारकस्य च।

अविद्यमानः क्रमो[1] यत्र तदक्रमम्।

यथा—

'त्वं च पञ्चेषुसदृशो रम्या भानोश्च सा सुता।
श्रुत्वेति विपुलां लेभे मुदं नन्दसुतो हरिः।'

अत्र सा चेति चकारस्य, इति श्रुत्वेतीति शब्दस्य स्थितौ क्रमः। अस्थानस्थं पदं हि झटित्यन्वयं बोधयति नत्वक्रममिति ततो भेदः।

भातीति। कृष्णं प्रति मधुमङ्गलोक्तिः। क्वचिन्निह्नुतस्यापि तव प्रकाशादिति भावः। तथाप्यलंकृतिज्येष्ठ इति वाच्यम्।

पादाविति शुकोक्तिः।

रासे इति च स्पष्टम्।

अविद्यमान इति। यदुत्तरं यद्ग्रहो योग्यस्तदन्यत्र तद्ग्रह इत्यर्थः। सा चेति कृते तस्याः समुच्चेयता प्रतीतिः। इति श्रुत्वेति पाठ्यम्, इति शब्दस्याव्यवहितपरामर्शित्वात्।

---

१. अमो यत्र ख।

अमतः प्रकृतविरुद्धः परोऽर्थो यत्र तत्।

यथा—

'राममन्मथशरेण ताडिता दुःसहेन हृदये निशाचरी।
गन्धवद्रुधिरचन्दनोक्षिता जीवितेशवसतिं जगाम सा।'

अत्र शृङ्गारव्यञ्जको द्वितीयोऽर्थो प्रकृतबीभत्सविरोधादनिष्टः। एवमन्यच्च परीक्ष्यम्।

अथार्थदोषानाह—

'अर्थोऽपुष्टः कष्टो व्याहतपुनरुक्तदुष्क्रमग्राम्याः। ॥७॥
संदिग्धो निर्हेतुः प्रसिद्धिविद्याविरुद्धश्च।
अनवीकृतः सनियमानियमविशेषाविशेषपरिवृत्ताः ॥८॥
साकांक्षोऽपदमुक्तः[1] सहचरभिन्नः प्रकाशितविरुद्धः।
विध्यनुवादायुक्तत्यक्तपुनः स्वीकृतोऽश्लीलः ॥९॥

त्रयोविंशति विधोऽर्थो दुष्ट इति संबन्धः।

क्रमेणोदाहरणानि—

'विलोक्य वितते व्योम्नि चन्द्रं त्यज रुषं प्रिये।'

अमत इति।

'शृङ्गारबीभत्सौ तथा वीरभयानकौ।
रौद्राद्भुतौ तथा हास्यकरुणौ वैरिणौ मिथः॥' इत्युक्तेः।

प्रकृतरसविरुद्धरसव्यञ्जक इत्यर्थः।

रामेति। रघुवंशस्थं वाक्यम्। रामो मन्मथो मनोमथनहेतुः कामश्च। निशाचरी ताडकानाम्नी राक्षसी अभिसारिका च। रुधिरमेव चन्दनं रक्तचन्दनं च। 'गन्धत्वं पापनाशात्पूतनाकण्ठधूमवत्'। जीवितेशो यमो नायकश्च। अत्र शृङ्गारव्यञ्जकं बीभत्सापकर्षस्तद्बीजम्।

अथेति। वाक्यदोषोक्त्यनन्तरम। वाक्यार्थधीपश्चाद्भवित्वादर्थदोषस्य। विरुद्धं पदं प्रसिद्धया विद्यया चान्वितम्। 'द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकं संबध्यते' इति न्यायात्। तथा सनियमादीनां चतुर्णां परिवृत्तपदेनान्वयः। विध्यनुवादयोरयुक्तपदेन च। तत्रापुष्टत्वं प्रकृतानुपकारित्वं बोधे[2]ऽपोषकता पुष्ट्यभावरूप इत्यर्थः।

---

१. °पदयुक्तः इति काव्यप्रकाशे पठ्यते। २. 'बोधो' क, ख।

अत्र विततत्वस्यानुपादानेऽपि वक्तव्यार्थबोधो नेत्यपुष्टोऽर्थः।

'न वंशीकरमासाद्य यमानुजनिभङ्गतः।
कस्या विशदतां याति मनो मानपरिप्लुतम् ॥'

अत्र यमानुजनिर्यमुना, पक्षे नियमः, 'यमनियमासन' इति [योगसूत्रे २.२९] गणनक्रमादिति कष्टोऽर्थः।

कस्यचिदुत्कर्षमपकर्षं वा प्रोच्य पश्चात्तदन्यथोक्तिः व्याहतत्वम्।

यथा—

'चित्रे न चन्द्रिका रम्या यथा त्वन्नेत्रचन्द्रिका।'

अत्र अस्य हरेश्चन्द्रिका नानन्दहेतुः, स एव चित्रायाश्चन्द्रिकात्वमारोपयतीति व्याहतोऽर्थः।

'कृष्णस्य प्रेयसी राधा सौन्दर्यादति वल्लभा।'

अत्र वल्लभा पदार्थः पुनरुक्तः।

न वंशीति। सदसि मानिनीं प्रति दूतीवाक्यम्। वंशीकरं हरिमासाद्य वीक्ष्य यमानुजनेर्नियमस्य भङ्गान्नाशात् मानेन परिप्लुतं व्याप्तं कस्यास्तरुण्या मनो विशदतां मानशून्यतां न याति? अपि तु सर्वस्या इत्यर्थः। पक्षे यमानुजनि र्यमुना तस्या भङ्गतस्तरङ्गात् शीकरमम्बुकणं प्राप्य मानपरिप्लुप्तं सगर्वं कस्य जनस्य मनोऽविशदतामविशुद्धतां याति। अपितु न कस्यापि। झटित्यप्रतीतिरत्र बीजम्।

कस्यचिदिति। निन्दित्वा पुरस्कृत्य पुनस्तदन्यथाकरणं व्याहतत्वम्, विशिष्टाहतिरित्यर्थः।

चित्रे इति। चित्रां प्रति हरेरुक्तिः। अनुचितेऽर्थे कुविन्दादिपदैः स्वार्थोपस्थितिदशायामेवोपश्लोक्यमानस्य तिरस्कारबोधः, व्याहते तु यस्य हरेरित्यादिवाक्यार्थानुसन्धानानन्तरमिति भेदः।

पुरस्कृत्येत्यस्योदाहरणं तु यथा—

'जितानि त्वन्मुखाब्जेन जलमब्जानि संययुः'।

अत्र मुखेऽब्जत्वारोपणेनोत्कर्षोक्तिः। पश्चान्मुखेन जितत्वादपकर्षोक्तिः।

पुनरुक्तः शब्देन ज्ञातः पुनः शब्देनोच्यते अर्थपुनरुक्तस्यापुष्टार्थत्वात्। अतिवल्लभा प्रेष्ठा।

'अश्वं मे देहि राजेन्द्र, गजेन्द्रं वा युधिष्ठिर ।'

अत्र गजेन्द्रस्य पूर्वं याचनमुचितमिति दुष्क्रमोऽर्थः ।

'मत्कायस्तव भोगाय कल्पितो भगवन्मया ।'

अत्र ग्राम्योऽर्थः ।

'आर्या मात्सर्यमुत्सार्य कार्यमेतद्विचार्यताम् ।
नितम्बाः सुभ्रुवां सेव्याः किं वा क्षितिभृतामिह ॥

अत्र शान्तशृङ्गारिणोः को वक्तेति प्रकरणाभावेनानिश्चयात्संदेहः ।

धरण्यां शेरते नित्यमेते क्षत्रियसूनवः ।'

अत्र नित्यं भूशयने हेतुर्नोक्तः ।

'शितशूलधरो विष्णुश्चचार समरान्तरे ।'

अत्र विष्णोश्चक्रधारणप्रसिद्धिः, शूलविधृतिस्तया विरुद्धा ।

यथा वा—

'पादाघातादशोकस्ते सखि जाताङ्कुरोऽभवत् ।'

अत्र पद्मिनीपादाघातादशोकः पुष्पं बिभर्ति नत्वङ्कुरमिति कविप्रसिद्धिस्तयाङ्कुर-विधृतिस्तथा ।

दुष्क्रमोऽनुचितो लोकशास्त्रविरुद्धः क्रमो यत्र ।

अश्वमिति । गजेन्द्रस्य बहुमूल्यत्वेन तदलाभेऽश्वयाचनौचित्यात् । व्याहतादित्रये स्वोक्तार्थ-पर्यायैक्यव्यवहारव्युत्पत्त्यननुसन्धानं तद्बीजम् ।

ग्राम्योऽविदग्धोक्तिसिद्धः । भोगः सुखसाक्षात्कारः भक्षणं तु प्रतीयते इत्यर्थ एव दुष्टः । सहृदयहृद्वैरस्यं तद्बीजम् ।

आर्या इति । अनिर्णयस्तद्बीजम् ।

अनुपात्तहेतुकत्वं निर्हेतुकत्वम् । धरण्यामिति । अत्र तात्पर्यानिर्णयस्तद्बीजम् ।

शितशूलेति । अत्र प्रसिद्ध्यननुबोधानुसन्धिस्तद्बीजम् ।

पादाघातेति[1] तया विरुद्धा ।

---

१. पादाघातेति क, ख पुस्तकयोः न पठ्यते ।

विद्या शास्त्रम् । तद्विरुद्धो यथा—

'सदा स्नात्वा निशीथिन्यामयं जपति पण्डितः ।'

अत्र ग्रहोपरागं विनार्धरात्रस्नानं धर्मशास्त्रेण विरुद्धम् ।

'अधरे मृगशावाक्षी बिभ्रती करजक्षतम् ।
कण्ठे ताम्बूलरागं च शुशुभे प्रियसंनिधौ ॥'

एतत्कामशास्त्रेण । एवं शास्त्रान्तरैर्बोध्यम् ।

भङ्ग्यन्तरेण नवत्वं च प्रापितोऽनवीकृतः ।

यथा—

'जातं कुले धनवतां महतां ततः किं
शास्त्रेषु बुद्धिरखिलेषु कृता ततः किम् ।
पुण्यान्युरूणि विहितानि जनैस्ततः किं
विस्तारितं च भुवनेषु यशस्ततः किम् ॥'

अत्र ततः किं ततः किमित्यर्थोऽनवीकृतः । न चात्र कथितपदत्वं दोषः पर्यायान्तरप्रयोगेऽपि भङ्ग्येकरूपतायामसांकर्यात् ।

'कृष्णे रतिर्हि परमं पदमातनोति ।'

शास्त्रान्तरैर्वैद्यकवेदान्तादिभिः । अत्र शास्त्राज्ञानप्रतिसंधानं तद्बीजम् ।

एकभङ्गीनिर्दिष्टानेकार्थत्वमनवीकृतत्वम् । तदुदाहरति—जातमिति । अत्र भगवत्प्रेम विना सर्वं विफलमिति भावः । ततः किं ततः किमित्येकयैव भङ्ग्या बहवोऽर्था निर्दिष्टाः । न चात्रेति । कथितपदत्वं तस्यैव पदस्य प्रयोगे । यथा केलिपदस्य । अनवीकृतत्वे पर्यायान्तरस्य तस्मात्तेनेत्येवंरूपस्य प्रयोगेऽप्येकरूपैव भङ्गी वर्तत एवेत्यसांकर्यम् ।

नवीकृतत्वं दर्शयितुमाह—कृष्णे रतिरिति । अत्र पिष्टपेषणेनाशक्तिसूचनेन वा सहृदयहृदुद्वेगस्तद्बीजम् ।

इति चतुर्थे पादे तु सति नवीकृतः स्यात्।

यथा वा—

'सदा चरति खे भानुः सदा वहति मारुतः।
सदा धत्ते भुवं शेषः सदा धीरोऽविकत्थनः॥'

अत्र सदेत्यनवीकृतः।

'भानुः सदा युक्ततुरङ्ग एव रात्रिंदिवं गन्धवहः प्रयाति।
बिभर्ति शेषः सततं धरित्रीं षष्ठांशवृत्तेरपि धर्म एषः॥'

अत्र तु नवीकृतः।

सनियमपरिवृत्तः सनियमेऽनियमः।

यथा—

'कृष्ण त्वं मम पूज्योऽसि दासोऽहं तव केशव।'

अत्र त्वमेवेति तवैवेति च नियमो वाच्यः। नन्वनभिहित वाच्येऽपेरभावः, इह त्वेवकारस्येत्यैकरूप्यमिति चेन्न, पूर्वत्र शब्दोच्चारणानन्तरं दोषावभासः, इह त्वर्थबोधानन्तरमिति भेदसत्त्वात्।

अनियमपरिवृत्तोऽनियमे सनियमः।

यथा—

'भृत्यस्य मम गोविन्द चेतस्येव सदा स्फुर।'

अत्र चेतस्येवेति नियमो न वाच्यः।

प्रपञ्चयति यथा वेति। अविकत्थनः स्वश्लाघाशून्यः। अत्रैकशब्देन बहुशः प्रतिपादनीयोऽर्थः पुरातनवद् भासमानो रसादेरपकर्षकः।

नवीकृतत्वे दर्शिते प्रतीतिरनवीकृतत्वस्य स्यादतस्तदुदाहरति—भानुरिति। षष्ठांशवृत्ते राज्ञः वृत्तिर्जीविका। पञ्चांशाः प्रजानां षष्ठोंऽशो राज्ञः इति हि प्रसिद्धम्। एष सदा युक्ततुरङ्गत्वादिरूपः। अत्र भङ्ग्यन्तरेण प्रतिपादनात् नूतनवद्भासमानता।

सनियमेति। चेतस्येवेति। न चात्राधिकपदत्वं मन्तव्यम्। यत्र सोऽर्थस्तत्पदं विनापि प्राप्यते तदधिकपदम्। यथा यावदुच्यते—'नवजलधरधामश्यामल' इति तावदेव 'नवजलधरधाम' इति। यत्र तेन न प्राप्यते किन्त्वन्येन अविवक्षितश्च सिध्यति तत्रानियमरिवृत्तः इति। अत्र नियमो न चेतः[1] शब्दार्थः।

---

१. न चोरः ख।

विशेषपरिवृत्तो विशेषेऽविशेषः ।

यथा—

'यान्ति नीलनिचोलिन्यो रजनीष्वभिसारिकाः ।'

अत्र तमिस्राष्विति रजनीविशेषो वाच्यः ।

अविशेषपरिवृत्तोऽविशेषे सविशेषः ।

यथा—

'ददाति निजभक्तेभ्यो रत्नानि मधुसूदनः ।'

अत्र सर्वं ददातीत्यविशेषो वाच्यः ।

'मानं मा कुरु गौराङ्गि कृष्णं जीवय मूर्छितम् ।'

अत्राधर सुधयेत्याकांक्षति ।

अपदमुक्तोऽस्थानसमाप्यः ।

यथा—

'रूपं मनोज्ञमेतस्याः प्रौढं प्रेम च किन्त्वियम् ।
मानैं दुर्नोति नः सर्वं सर्वत्र क्व पुनर्गुणाः ॥'

सनियमपरिवृतादिषु चतुर्षु विवक्षितार्थानिर्वाहस्तद्‌बीजम् ।

अनुपात्ताकांक्षाविषयार्थत्वं साकांक्षत्वम् । तदाह—मानमिति । अत्रालिङ्गनादिनेत्येतदाकांक्षति । न चैतन्न्यूनपदत्वं न्यूनपदमवश्यग्राह्यं साकांक्ष ग्राह्यमिति भेदात् स्फुटमेव तद्‌बीजम् ।

अपदमुक्त इति । रूपमिति । विशाखोक्तिः । एतस्याः राधायाः । मनोज्ञं कमनीयम् । अत्र कवेः काव्यज्ञशिक्षाभावानुसंधिस्तद्‌बीजम् । अत्रापदयुक्त इति केचित्पठन्ति । तत्त्वं च प्रकृतार्थविरुद्धार्थकपदशालित्वं बोध्यम् । न चात्राधिकपदत्वं वाच्यम् । तदर्थस्यान्वयित्वात् ।

अत्र दुनोति न इत्येतावतैव समाप्यम्। रूपादिगुणसत्त्वेऽपि मानभूम्नानौचित्यकारित्वं हि वाक्यार्थः। स च तावतैव प्राप्तः समर्थनं नाकांक्षतीत्यस्थानसमाप्यत्वादपदमुक्तोऽर्थः।

'स्तोत्रैस्त्रपाश्रुतैर्धैर्यं यशोभिरतिनम्रता।
तापस्तु मन्तुभिः सोऽयं सतामौत्पत्तिकः क्रमः॥'

अत्र स्तोत्रादिभिरुत्कृष्टैः सहचरैर्मन्तुतापयोर्निकृष्टयोर्वैरूप्यात्सहचरभेदः।

'कुमारस्ते महाराज श्रियं समधिगच्छति।'

अत्र त्वं म्रियस्वेति विरुद्धं प्रकाश्यते।

यथा वा—

'स देशः सखि कुत्रास्ति यत्र प्रियवियोगतः।
चन्द्रांशुनिचयः सुभ्रु नैव दावानलायते॥'

अत्र[1] यस्मिन्वल्लभान्तरं लभ्यत इति विरुद्धं प्रदर्श्यते।

'वसुदेवगृहे साक्षादवतीर्य महेश्वरः।
आनन्दितस्वपक्षोऽसौ परपक्षान्हनिष्यति॥'

समभिव्याहृतविजातीयार्थत्वं सहचरभिन्नत्वम्।

स्तोत्रैरिति। औत्पत्तिकः स्वाभाविकः क्रमः परिपाटी। 'क्रमः शक्तौ परीपाट्याम्' इति विश्वः। रीतिरिति यावत्। स्तोत्रत्रपादिसाहित्येन मन्तुतापयोरुपहेयत्वं तद्बीजम्।

प्रतिपादितविवक्षितार्थविरोधिव्यञ्जकार्थत्वं प्रकाशितविरुद्धत्वम्। कुमारस्त इति। तव कुमारश्चकास्तीति विवक्षितोऽर्थः।

सः देश इति। अत्र यो देशः प्रियविरहाञ्चितो न स्यात्, स तु चन्द्रांशुभिस्तथा दुःखदो न स्यादिति विवक्षितः। सहृदयहृद्यत्वं तद्बीजम्।

आनन्दित इति। परपक्षघातं विना स्वपक्षानन्दनं न संभवेदिति तदानन्दन एव विधेयत्व-

---

१. यत्र ख।

अत्र परपक्षान्हत्वा स्वपक्षानानन्दयिष्यतीति विधेयं तदन्यथा स्थितेर्विध्ययुक्तता।

'सुधाकर सुखं देहि वियोगिजनतापनः।'

अत्र विरहे व्याहारे द्वितीयपादार्थो नानुवाद्यः।

'समं न चन्द्रेण तवाननं तच्चन्द्राननोऽसि त्वमिति स्तुतिर्न।
चन्द्रस्त्रपां नैति यदुज्जिहीते कुहूकृतग्लानिभरोऽपि कृष्ण॥'

अत्र स्तुतिर्नेत्युपसंहृतोऽपि ततः परोऽर्थः पुनः स्वीकृतः। समाप्तपुनरात्ते विशेष्यमात्रस्यावृत्तिरिह तु वाक्यार्थसमुदायस्येति तस्माद्भेदः।

'आदित्सयांशुकानामुन्नतभुजवीरुधां कुमारीणाम्।
पश्यति हरौ विरेजे गतवसनानामधोदृष्टिः॥'

अत्रधराङ्गदृष्टिप्रतीतेस्त्रपा व्यञ्जकार्थोऽश्लीलः। नता दृष्टिरिति तु युक्तम्।

उक्तोदाहृतिषु येऽन्ये दोषाः सन्ति, तत्र तत्राप्रकृतत्वान्न ते प्रकाशिताः। एवमन्यत्रापि बोध्यम्।

कर्णावतंसादिपदे कर्णादिध्वनि निर्मितः।
संनिधानादि बोधार्थम्

विश्रान्तिर्युक्ता, नतु परपक्षघाते। विधेयत्वविश्रान्त्यनौचित्यं विध्ययुक्तिः। साहित्याव्युत्पत्तिधीस्तद्बीजम्। एवमग्रे च। न च विधेयाविमर्शः स्वपक्षानन्दिनः परपक्षघातसंभवात्।

सुधाकरेति। यतः सुखं प्रार्थ्यं तस्य तापकत्वेनानुवादो न युक्तो विरोधात्।

समं नेति। मधुमङ्गलोक्तिः। हे कृष्ण, तवाननं चन्द्रेण समं न भवति। तत्तस्माच्चन्द्राननस्त्वमसीति स्तुतिर्न स्यात्। स च चन्द्रः कुहा नष्टेन्दुकलयामावस्यया कृतो ग्लानिभरो यस्य तादृशोऽपि सन् यदुज्जिहीते उदयते, अतस्त्रपां नैति निस्त्रपोऽसावित्यर्थः। त्यक्त उपसंहृतैकदेशः। पुनः स्वीकृतः प्रकाशितैकदेशः यावतो निवेद्यानर्थाननिवेद्यैव मध्ये उपसंहारोवर्तेः।

आदित्सयेति। शुकोक्तिः।

उदाहृतिष्विति। एतच्च प्रक्रम इत्यादौ ग्रन्थकृतैव दर्शितम्। एवमिति। अन्यत्र गुणालंकारयोः।

एवं दोषान्निरूप्य तेषां क्वचिददोषत्वं क्वचिद्गुणत्वं क्वचिदनुभयत्वं चाह—कर्णेति।

अवतंसादयः कर्णादिभूषाः कथ्यन्ते, तथापि तत्र कर्णादिशब्दविन्यासस्तेषां तदारूढत्वादिबोधाय।

यथा—

'कर्णावतंसः सखि कंसशत्रोः पुष्पस्रजा मौक्तिकहारतश्च।
सुकर्बुरां कान्तिमतीव विन्दन्ममान्तरं कर्बुरितं चकार॥'

अत्र कर्णशब्दः कर्णस्थितेर्बोधाय, पुष्पशब्दस्तदुत्कर्षस्य[1] मौक्तिकशब्दस्तु रत्नान्तरासंपर्कस्य।

स्थितेष्वेतत्समर्थनम् ॥१०॥

कर्णावतंसादिशब्दाश्चेन्महाकविकाव्येषु तिष्ठन्ति तर्हि युक्तिप्रदर्शनं तत्रैतत्। न च तद्वत् पादनूपुरजघनकाञ्चीकरकंकणादयः प्रयोज्याः।

'धनुर्ज्याघोषमीशस्य श्रुत्वा त्रस्ताः सुरारयः।'

अत्र धनुःशब्दस्तदारूढत्वबोधनाय।

अन्यत्र तु—

'स्वरैराकृतिभिस्तांस्तु प्रकोष्ठै र्ज्याहतैरपि।
राजन्यबन्धून्विज्ञाय दृष्टपूर्वानचिन्तयत्॥'

ध्वनिः शब्दः। निर्मितिरुपादानम्। संनिधानादीत्यादिपदाद्रत्नान्तरासंपर्कादिग्रहणम्।

कर्णावतंस इति। विशाखां राधाह। सुकर्बुरां विचित्राम्। कर्बुरितं चित्रितम्।

अत्र कर्णशब्देनावतंसस्य कर्णस्थित्यवस्थोच्यते। निरुपपदोऽपि स्रक्शब्दः पुष्पमालामाह—हारशब्दो मुक्तासंदर्भम्। 'हारो मुक्तावली' इति विश्वः। अत्र सन्निधानादिप्रतीतिरूपफलसत्त्वान्न पुनरुक्तता।

नन्वेवं पादनूपुरादिप्रयोगापत्तिरित्यत आह—स्थितेष्विति। स्थितत्वमनादिप्रयोगविषयत्वम्। यत्र तथा प्रतीतिर्निर्देश्या तत्र न तथेत्याह—अन्यत्र त्विति।

स्वरैरिति। शुकोक्तिः। तान्कृष्णार्जुनवृकोदरान् विज्ञाय जरासंधः। केवल इति। धनुरारूढत्वे तात्पर्याभावादित्यर्थः। उवाचेति। वचधात्वर्थेनैव विशेष्यस्य वाच्याः प्रतीतिरित्यर्थः[2]।

---

१. तदुत्कर्षाय क। २. प्रतीतेरित्यर्थः क, ख।

अत्र केवलो ज्याशब्दः। 'उवाच मधुरां वाचम्' इत्यादौ तु धात्वर्थेनैव विशेष्यस्य प्रतीतेर्विशेषणदानाय तत्प्रयोगः। न च मधुरमिति क्रियाविशेषणत्वेनेष्टसिद्धिः। बहुषु विशेषणेषु सत्सु तस्याचमत्कारात्। एवं पदाभ्यां यातीत्यादौ सति विशेषणे न दोषः।

ख्यातेऽर्थे निर्हेतोरदुष्टतानुकरणे तु सर्वेषाम्।
वक्त्राद्यौचित्यवशाद्दोषोऽपि गुणः क्वचित्क्वचिन्नोभौ ॥११॥

ख्यातत्वादेव झटित्यर्थावगतौ हेतुर्यत्र नापेक्ष्यते तत्र निर्हेतुरर्थो न दुष्टः।

यथा—

'वशवर्ती हरिर्यासां ताः स्तुवे गोपसुभ्रुवः।'

अत्र हरेर्वशीकृतौ निर्हेतुका भक्तिरेव हेतुः। सा च तासां प्रसिद्धेर्नोक्ता। श्रुतिकट्वादीनां सर्वेषां परोक्तानामनुकृतौ न दोषः।

यथा—

'अद्राक्षं माधवं तस्य विहारः कृन्तते मनः।
इति ब्रुवन्तो मूर्छन्ति देवेन्द्रप्रस्थवासिनः॥'

वक्तृबोद्धव्यव्यङ्ग्यवाच्यप्रकरणादिमहिम्ना दोषोऽपि क्वचिद्गुणः क्वचिन्न दोषो न गुणः। तत्र वैयाकरणादौ वक्तरि बोद्धव्ये वा रौद्रादिरसे च व्यङ्ग्ये कष्टत्वं गुणः। नीरसे चित्रे च न गुणो न दोषः।

बहुष्विति। मधुरमल्पाक्षरमतिगभीरमित्येवं विशेषणबाहुल्ये तस्य क्रियाविशेषणत्वस्य चारुत्वाभावादित्यर्थः। एवं पदाभ्यां यातीति। पादत्राणपरित्राणशून्याभ्यामिति विशेषणे सतीत्यर्थः। अत्र याति क्रियायाः पादत्राणासंभवात् पादपदग्रह आवश्यक इति भावः।

अथ प्रतिप्रसवं दर्शयति—ख्याते इति।

अद्राक्षमिति। इन्द्रप्रस्थात् द्वारकां प्रयान्तं भगवन्तं प्रति पश्चादागत्य पथि मिलितः कश्चिदाह—हे देव। अत्राद्राक्षमिति श्रुतिकटुकत्वस्य कृन्तत इति च्युतसंस्कृतित्वस्य चापवादः, परोक्तेरनुकारात्। एवमन्येषां च बोध्यः।

क्रमेणोदाहरणानि—

'अपास्थाः साधुभिः सार्धमजर्घाः किं फलं त्वकम् ।
जाहर्हि प्रणतिं तेषां दुर्वृत्तं मङ्क्षु जङ्घहि ॥'

अत्र वैयाकरणो वक्ता । एवमस्य बोद्धव्यत्वेऽपि बोध्यम् ।

'प्रचण्डौ मम दोर्दण्डौ भण्डितं खण्डितक्रमम् ।
दण्डाय ढुण्ढतस्त्वां वै दर्पमासर्पतर्पयन् ॥'

अत्र रौद्रो रसः ।

'कालियस्य फणरत्नकुट्टिमं कुट्टयन्पदसरोजघट्टनैः ।
मंगलानि वितनोतु ताण्डवे पण्डितः सविशिखण्डशेखरः ॥'

अत्र वीरः ।

'घ्राणोद्घूर्णक—' इत्यादि [पृ० ४४] ।

अपास्या इति । साधुनिन्दकं कंचित्पण्डितं प्रति कश्चिद्वैयाकरणः शिष्टोऽनुशास्ति ।

अपास्याः । पुनः पुनः स्पर्द्धामकरोः तस्याः स्पर्द्धायाः किं फलमजर्घाः भृशमभ्यकांक्षः । त्वकमिति निन्दायामकच्प्रत्ययः । अनिष्टं कृतवानसि । अथ तेषां साधूनां प्रणतिं जाहर्हि पुनः पुनरिच्छेत्यर्थः । 'हर्य गतिकान्त्योः' इति धात्वनुसारात् । इदं दुर्वृतमुच्छृङ्खलतां मंक्षु शीघ्रं जङ्घहि भृशं जहि । त्यजेत्यर्थः ।

एवमिति । अस्य वैयाकरणस्य ।

प्रचण्डाविति । जलमध्ये निगूढं दुर्योधन प्रति क्रुद्धस्य भीमस्योक्तिः । भण्डित प्रकाशितभण्डचेष्टं वीरंमन्यस्यापि पलायनात् । ढुण्ढतः मृगयेते । 'ढुण्ढान्वेषण इत्येको ढकारान्तः प्रकीर्तित' इति बोपदेवः ।

कालियस्येति । सिद्धचारणादीनामाशीर्वादः । कुट्टयन् मर्दयन् । घट्टनं गाढासङ्गः ।

घ्राणेति । व्याख्यातं प्राक् । अत्र प्रचण्डेत्यादित्रये उद्भटा वर्णाः प्रकृतरौद्राद्यानुगुण्यान्निर्दिष्टाः ।

अत्र बीभत्सः—

'पान्तु वो नरसिंहस्य नखलाङ्गलकोटयः ।
हिरण्यकशिपोर्वक्षः क्षेत्रासृक्कर्दमारुणाः ॥'

अत्रोद्धते वाच्ये ओजस्विनः शब्दाः ।

'पदद्युतिविनिर्धूत—' [पृ० ७८] इत्यादि ।

अत्र शृंगारे तेषामनौचित्येऽपि प्रस्तुतस्मरपराधपराभवनिवेदितस्य वीरस्यानुगुण्यात्ते निबध्यन्ते ।

'उद्दाम युक्तिकुद्दालै रक्षिणोत्क्षणतोऽपि यः ।
विवर्तं गर्तमीशानस्तं जीवं गुरुमाश्रये ॥'

अत्र तु गुरुविषयस्य भावस्य नोत्कर्षका न चापकर्षकाः । चित्रे च यथोदाहरिष्यते । श्लेषादावप्रयुक्तनिहतार्थयोर्न दोषः ।

यथा—

'पर्वतभेदि पवित्रं जैत्रं नरकस्य बहुमतङ्गहनम् ।
हरिमिव हरिमिव हरिमिव सुरसरिदम्भः पतन्नमत ॥'

पान्त्विति । इह राजविषयकरतेर्गुणानाश्रयत्वेन प्रकृतोपयोग्योजो व्यञ्जकत्वेऽप्योजस्विषु नृसिंहनरवरेषु वाच्येषु तद्गतौजोव्यञ्जितत्वादोजस्विनो वर्णा दीर्घसमासश्च गुण एवेत्यर्थः ।

अत्र शृङ्गारे इति । ते शब्दाः ।

उद्दामिति । गुणस्मृतिपूर्विकां गुरोः प्रपत्तिं शिष्यः करोति । विवर्त्तो नामातात्त्विकोऽन्यथाभावः । शुक्तौ रजतमिव निर्विशेषचिन्मात्रे ब्रह्मणि तदितरत्सर्वमारोपितरजतव[1]न्मिथ्येति शंकराचार्याणां राद्धान्तः । स एव गर्तो जीवेश्वरादिसमस्तपदार्थाविरकत्वात्तं यो युक्तिकुद्दालैः क्षणादक्षिणोदपाकरोत्तं श्रीजीवं तन्नामानं गुरुमाश्रये इत्यर्थः । अत्रास्य काव्यस्य शृङ्गारादिरसशून्यत्वादोजोव्यञ्जकाः शब्दा नोत्कर्षकाः, प्रकृतस्य गुरुविषयकभावस्य नापकर्षकास्तस्य गुणानाश्रयत्वादित्यर्थः ।

पर्वतेति । हे जनाः, पृथिव्यां पतत्सुरसरिदम्भः गङ्गाजलं नमत यूयम् । कीदृशम् ? पर्वतभेदि हिमाचलभेदकम् । पवित्रं पावनम् । नरकस्य निरयस्य जैत्रं नाशकम् । बहुभिर्मतमर्चितम् ।

---

१. °पितं रजतवन्° क, ख ।

अत्र सिंह पक्षे मतङ्गशब्दो मातङ्गार्थेऽप्रयुक्तः। इन्द्रपक्षे पवित्रशब्दो निहतार्थः।

शान्ते वक्तर्यश्लीलस्य।

यथा—

'घनरुधिरमये त्वचापिनद्धे पिशितविमिश्रितविस्रगन्धभाजि।
कथमिह रमतां बुधः शरीरे भगवति हन्त रतेर्लवेऽप्युदीर्णे॥'

अत्र घृणया विरागोदयाद् गुणत्वम्।

व्याजस्तुतिपर्यवसायित्वे संदिग्धत्वं गुणः।

यथा—

'विभूषित परीवाराः पृथुकार्तस्वराकुलाः।
पराजिताश्च राजेन्द्र गृहास्तव समापि च॥'

अत्र संशयस्फूर्तावपि महिम्ना प्रकृतार्थनिश्चयात् व्याजस्तुतिपर्यवसितेति गुणत्वम्।

गहनं वेगोद्रेकाद् दुरवगाहम्। हरिमिव विष्णुमिव पर्वतभेदी गोवर्धनोद्धारी चासौ पवित्रश्च वज्राद्रक्षकः। नरकस्य भौमस्य जैत्रं पराजयकरम्। बहूनि मतानि यस्मिंस्तम्। गहनं दुर्बोधत्वम्। हरिमिवेन्द्रमिव पर्वतभेदी। पविः वज्रं त्रायते पालयति धारयतीति यावत्। स चासौ स चेति तम्। जैत्रं जयशीलं नरकस्य। मनुष्यवृन्दस्य बहुमतं भृशं पूजितम्। गहनं दुर्जयम्। हरिमिव सिंहमिव पर्वतभेदो गिरिगह्वर आश्रयत्वेनास्यास्तीति। पवित्रो देवरूपत्वात् नरकस्य जैत्रम्। बहुमतङ्गहनम् बहून्मतङ्गाम् हन्ति तम्। सिंहस्य नमस्यत्वं भगवद्विभूतित्वात्।

शान्त इति। न दोष इत्यनुषञ्जनीयम्।

घनेति। कस्यचिद्विरक्तस्योक्तिः। पिशितं मांसम्। तस्माद्विस्रस्य यो गन्धस्तं भजतीति तादृशे। 'विस्रं स्यादामगन्धि यत्' इत्यमरः। इह वैराग्यहेतुघृणोत्पादनेन गुणत्वम्।

विभूषितेति। कश्चिद्दरिद्रः कविर्युधिष्ठिरं प्रत्याह। विभूषिता अलंकृताः विशेषेण भुवि धरण्यामुषिताश्च परिवारा येषु ते। पृथुभिः कार्तस्वरैः स्वर्णैः पृथुकानां शिशूनामार्तस्वरैश्चाकुला व्याप्ताः। परैः शत्रुभिरजिताः दुर्गत्या परिभूताश्च।

वक्तृबोद्धव्ययो[1]र्ज्ञत्वे स्वयं वा परामर्शेऽप्रतीतत्वं च ।

क्रमेणोदाहरणे—

'ध्यायतस्तव राजर्षे ज्योतिः परमकं तदा ।
तमसाखिलेनापि भवेन्नैव पराभवः ॥'

अत्र द्वयोर्ज्ञानकाण्डकुशलत्वादप्रतीतत्वं न दोषः ।

'भूतादिरेष भूतानां जनको मां न मुञ्चति ।
तेनाहं कपिलं साक्षादीश्वरं गुरुमाश्रये ॥'

ग्राम्यत्वं हास्यकारिषु ।

यथा—

'हैयङ्गवीनपिण्डो वा दृश्यते शशिमण्डलः ।
दुग्धधारा इवैतस्मात्प्रपतन्ति गभस्तयः ॥'

अत्रेति । न हि कवेः स्ववर्णनमभीष्टमप्रयोजकत्वात् । नृपवर्णनं तु दारिद्र्यहारीति तस्य महिमा प्रकृतार्थो नृपवर्णनम् । तर्हि निर्दोषतेत्यत आह—व्याजेति । संपत्तिभूम्ना नृपोत्कर्षप्रतीतेर्गुणत्वमिति भावः ।

शुकः परीक्षितमुपदिशति—ध्यायत इति । ज्योतिर्ब्रह्म । 'अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते' इत्यादि श्रवणात् । तमसा प्रकृत्या । 'नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम् ।' [ऋग्वेद १०, १२९, १] 'तम आसीत्तमसा गूढमग्रे' ।[2] [ऋग्वेद १०, १२९, ३] इत्यादि श्रवणात् । अत्रोभयोरपि शुकपरीक्षितोर्वेदान्तशास्त्राभिज्ञत्वादप्रतीतावपि ज्योतिस्तमः शब्दौ न दुष्टौ ।

भूतादिरिति । रहूगणस्य राज्ञस्तत्त्वजिज्ञासया कपिलमुपसर्पतः पथि परामर्शः । भूतादिस्तामसोहंकारः स मां न मुञ्चति न त्यजति । भूतानां खादीनां जनकः तस्मादेव मे पुनः पुनर्देहसंबन्ध इत्यर्थः । तेन हेतुना भूतादिनिवर्तकं कपिलं गुरुं करोमीति । अत्र भूतादिशब्दस्तामसाहंकारवाचकतया सांख्यशास्त्रे प्रसिद्धस्तस्य चादुष्टत्वं स्वप्रतीतेरुद्देश्यत्वात् ।

ग्राम्यत्वं गुण इति संबन्धः । ग्राम्योक्त्या हास्यपरिपोषादिति भावः ।

हैयङ्गवीनेति । मधुमङ्गलोक्तिः । एतस्य भक्षणाय मदीयं मनश्चलतीति मातुर्मन्दिराय गन्तव्यमिति भावः ।

---

१ बोध्ययो क, ख ।   २. 'न सदासीन्नासदासीतम एवासीत्केवलम्' इति क, ख ।

इयं विदूषकस्योक्तिः ।

हर्षशोकाद्याधिक्ये न्यूनपदत्वं च ।

यथा—

'सस्मिता मृगशावाक्षी गाढमालिङ्गिता मया ।
मा मा मेति यदब्रूत तन्मे कृन्तति मानसम् ॥'

अत्र पीडयेति पदं न्यूनम् । तस्य चानन्दमग्नता प्रत्याय्यत्वाद् गुणत्वमेव ।

क्वचिन्न दोषो न गुणः ।

यथा—

'कुपिता क्वचिदाभाति दीर्घं मयि न कुप्यति ।
गता वा स्वनिकेताय मदेकहृदया क्व सा ॥'

अत्राद्यतृतीयपादान्ते नैतद्यत इति पदानि न्यूनानि तथाप्येतद् वाक्यव्यङ्ग्यस्य वितर्कस्योत्कर्षाकरणान्न गुणः । एतज्जाताया धियो द्वितीयचतुर्थपादजातया तया[1] स्फुटं बाधान्न दोषश्च । विषादविस्मयादौ लाटानुप्रासेऽर्थान्तरसंक्रमितवाच्ये विहितानुवादे च कथितपदत्वं गुणः ।

क्रमेणोदाहरणम्—

'हन्त हन्त गतः कान्तो वसन्ते सखि नागतः ।'

सस्मितेति । प्रियनर्मसखं कृष्णोक्तिः । अत्र पीडयेति पदमनुपात्तमपि वक्त्र्या हर्षमोहातिशयं प्रतिपादयत् गुणतां प्राप्नोति । अध्याहारेण वाक्यार्थप्रतीतिविलम्बेऽपि प्रकृतरसपोषकत्वादिति भावः ।

कुपितेति । पूर्वमभिसृतः कृष्णो निकुञ्जे[2] प्रियामवीक्ष्यान्विष्य च वितर्कयति । अत्रेति । तथापि तेषां न्यूनतायां सत्यामपि । एतज्जाताया आद्यतृतीयपादजाताया धियः प्रतीतेः । तया धिया । बाधान्निरासात् ।[3]

हन्तेति । विशाखां प्रति विरहिणी राधाह ।

---

१. तया पदं ख पुस्तके नास्ति । २. निजकुञ्जे क, ख ।
३. 'विषादेति' क, ख, पुस्तकयोरधिकं पठ्यते ।

अत्र विषादः ।

'चित्रं चित्रमनाकाशे पश्य सुन्दरि चन्द्रमाः ।'

अत्र विस्मयः । एवमन्यच्च बोध्यम् ।

'सुनेत्रे नेत्रे यत्क्षिपसि मयि तत्तेऽतिकरुणा ।'

अत्र लाटानुप्रासः । 'पार्षदाः पार्षदा यस्य' [पृ० ६१] इत्यादावर्थान्तर-संक्रमितवाच्यः । 'उदेति सविता ताम्रः' इत्यादौ [पृ० १०५] विहितानुवादः ॥

क्वचिदधिकपदत्वं च ।

यथा—

यद्वञ्चनाहितमतिर्बहुचाटुगर्भं
कार्योन्मुखः खलजनः कृतकं ब्रवीति ।
तत्साधवो न न विदन्ति विदन्ति किंतु
कर्तुं वृथा प्रणयमस्य न पारयन्ति ॥'

अत्र न न विदन्तीत्ययोगस्य पुनर्विदन्तीत्यन्ययोगस्य व्यवच्छेदः ।

पतत्प्रकर्षत्वं क्रमेण क्रोधादिक्षये भिन्नवाक्यतया रसभेदे च ।

क्रमेणोदाहरणम्—

'क्रीडालोष्ठीघट्टनैः कण्टकान्वः पिष्ट्वा दुष्टान्सुष्ठुसङ्ग्रामपट्टे ।
उग्रादीनां बान्धवानां मनोज्ञां भूमीमेतामेष संपादयामि ॥'

हन्तेति पदस्य द्विरुक्तिर्विषादाधिक्यं व्यनक्तीति गुणः ।

एवमग्रेऽपि । आदिशब्दाद् भये क्रोधे च । यथा—

'पलायस्व पलायस्व पुरस्तादेष दन्तिराट् ।
छिन्धि छिन्धि शरस्तस्य दुर्वृत्तस्य न संशयः' ।

क्वचिदिति । तेन गुण इति संबध्यते ।

अत्रेति । न विदन्तीति नेति नञ्द्वयेनापि वेदनातिशये सिद्धे पुनर्विदन्तीति पदं त एव जानन्तीति वेदनविशेषलाभायेति विच्छित्तिविशेषः ।

क्रीडेति । हस्तिपकेनाधिक्षिप्तः कृष्णस्तमाह सुष्ठु पिष्ट्वेति संबन्धः । एतां भूमिं मथुरा-मण्डलरूपां एष कृष्णः संपादयामि विदधे । अत्र बन्धुस्मरणेन क्रोधोपशमान्मृदुलवर्णविन्यासो गुणः ।

अत्रान्ते प्रकर्षपातो बन्धुस्मरणादुचितः।

> उद्दण्डभुजदण्डोऽसौ प्रज्वालज्वलनप्रभः।
> मल्लं चिच्छेद यं वीक्ष्य भामिन्यो मुमुहुस्तराम्॥'

अत्र वाक्याभ्यां क्रमाद्वीरशृङ्गारौ वर्णितावतस्तथा॥

यत्र[1] विशेषणदानाय न पुनर्ग्रहणं किन्तु वाक्यान्तरायैव, तत्र समाप्तपुनरात्तत्वं न गुणो न दोषः। यथात्रैव समाप्यापि यं वीक्ष्येति पुनर्ग्रहीतम्।

क्रोधाद्यस्थानेऽपि यत्र क्रोधाद्यनुकृतिस्तत्रास्थानसमासत्वं गुणः।

यथा—

> 'तन्वी विरहखिन्नाय कुप्यन्मे पञ्चसायकः।
> उग्राक्षि ज्वलनज्वालप्लुष्टो भूयादहर्निशम्॥'

अवश्यविधेयत्वेन प्रकृतवाक्यार्थपरिपोषकत्वे गर्भितत्वं च।

यथा—

> 'वन्दे कुड्मलिताञ्जलिर्मुहुरहं वीरं मयूरध्वजं
> येनार्धं कपटद्विजाय वपुषः कंसद्विषे दित्सता।
> कष्टं गद्गदिकाकुलोऽस्मि कथनारम्भादहो धीमता
> सोल्लासं क्रकचेन दारितमभूत्पत्नीसुताभ्यां शिरः॥''

उद्दण्डेति। सिद्धचारणादीनामुक्तिः। अत्र पूर्वस्मिन्वाक्ये वीरो रसः परस्मिंस्तु शृङ्गार इति वाक्यभेदात् प्रकर्षपातो गुणः। तथा गुण इत्यर्थः।

यत्रेति। विशेषणस्य विशेष्यसाकाङ्क्षत्वेन विशेष्यपदावृत्तिनैयत्यात्तद्विलम्बेन विलम्बः। वाक्यान्तरारम्भे त्वङ्गाङ्गिभावेनाकांक्षावैगुण्यविरहादिति भावः।

तन्वीति। विरही कृष्णः स्मरं शरवर्षिणं सभावयन्नाह। उग्रस्य रुद्रस्याक्षि तृतीयं नेत्रं तद्रूपस्य ज्वलनस्य ज्वालोऽर्चिस्तेन प्लुष्टो भूयात्।

वन्द इति। मयूरध्वजस्य राज्ञः श्रीकृष्णभक्तस्य दयातिशयं वर्णयति वपुषोऽर्धं कंसद्विषे दित्सता येन प्रयोजकेन मयूरध्वजेन पत्नीसुताभ्यां प्रयोज्याभ्यां क्रकचेन करणेन शिरो दारितमभूदित्यन्वयः।

---

१. अत्र इति क।

अत्र कष्टमित्यादिकं दयोद्रेकमद्वितीयं बोधयितुमन्तराले विन्यस्तम् । एवमन्यदपि सुधीभिः प्रेक्षणीयम्[1] ॥

अथ रसदोषानाह—

'व्यभिचारिरसस्थायिभावानां शब्दवाच्यता ।
कष्टकल्पनया व्यक्तिरनुभावविभावयोः ॥१२॥
प्रतिकूलविभावादिग्रहो दीप्तिः पुनः पुनः ।
अकाण्डे प्रथनच्छेदावङ्गस्याप्यतिविस्तृतिः ॥१३॥
अङ्गिनोऽननुसंधानं प्रकृतीनां विपर्ययः ।
अनङ्गस्याभिधानं च रसे दोषाः स्युरीदृशाः ॥१४॥

तत्र व्यभिचारिणः स्वशब्दवाच्यता यथा—

'लज्जां दधार कृष्णस्य चुम्बने वृषभानुजा ।'

अत्र लज्जा शब्दः ।

रसस्य यथा—

'तां वीक्ष्य मृगशावाक्षीं हरेः कोऽप्यभवद्रसः ।'

अत्र रस शब्दः ।

'शृङ्गारे मानसं मग्नं विलोक्य विधुमण्डलम् ।'

अत्रेति । चमत्कृतिपोषाद् गुणत्वमिति भावः ।

अथ साक्षाद्रसविरोधिनो दोषानाह—व्यभिचारीति । अनुभावैर्व्यभिचारिणां व्यक्तौ भावध्वनिना स्यात् । अत एवोक्तं व्यञ्जितश्चर्वणीय इति । स्थायिनोऽप्यभिव्यक्ता एव रसतां प्राप्नुवन्ति, न तु स्वशब्देनाभिहिताः । अत उक्तं व्यक्तः स तैरित्यादीति बोध्यम् ।

लज्जामिति । 'नतास्या जनि' इति पाठ्यम् । कोऽप्यभवद्रस इत्यत्र 'आसीन्मुदां चयः' इति पाठ्यम् । शृङ्गारे इत्यत्र 'प्रमोदे' इति पाठ्यम् ।

---

१. प्रेक्षणीये ख ।

अत्र शृङ्गारशब्दस्तत्र । आस्वादादिपरत्वे तु रसादिशब्दा न दोषाय। तेन सरसो रसिकः शृङ्गारित इत्यादि ॥

स्थायिनो यथा—

'चन्दनानिलचन्द्रांशुपुंस्कोकिलकलस्वनैः ।
माधव्यां रजनौ राधाकृष्णयो रतिरैधत[1] ॥'

अत्र रतिशब्दः ।

स्थायित्वाप्रतीतौ तु न दोषाय ।

यथा—

'भगवति रतिरस्तु मे मुमूर्षोः' इत्यादि ।

'सा दक्षिणे मरुति वाति समुद्यतीन्दौ
कृष्णं विलोक्य रचनामवगुण्ठनस्य ।
द्राघीयसीं विदधती भुजवल्लिमूल—
व्यक्तां पयोधरतटीं पुनराववार ॥'

अत्र शृङ्गाररसे नायकनिष्ठः कश्चिदनुभावो नोपात्त इति तद् व्यक्तिः कष्टकल्पनया ।

'मनुते न सुखं किंचित्तनुते मोहमुल्वणम् ।
धुनुते धृतिमेतस्य किं भावि न विभाव्यते ॥'

शृङ्गारितो । विभूषित इत्यर्थः । रतिरैधतेत्यत्र 'प्रीतिरैधत' इति पाठ्यम् । रतिः प्रेमलक्षणा भक्तिः । मे भीष्मस्य ।

सेति । वृन्दा वीरामाह—सा श्रीराधा दक्षिणे मरुति मलयानिले वाति चलति सति । इन्दौ च समुद्यति सति आववार आवृतवती ।

अत्र दक्षिणानिलचन्द्रावुद्दीपनम्, नायिका त्वालम्बनम्, अवगुण्ठनदीर्घीकरणादिस्तदनुभावः, एवं नायकस्य स न प्रतीयते, तेन कष्टेन तत्प्रतीतिरिति ।

विभावे तामुदाहरति—मनुत इति । मधुमङ्गलोक्तिः । मोहं मूर्छाम् धुनुते छिनत्ति एतस्य[2]

---

१. रतिरेधते ख । २. अस्य ख ।

अत्रामुखमननादीनां करुणादावपि संभवात्। कामिनीरूपो विभावः कष्टेन गम्यते।

'मानं मा कुरु वामोरु ज्ञात्वा यौवनमस्थिरम्।'

अत्र यौवनास्थैर्यविज्ञापनं शृङ्गारप्रतिकूलस्य शान्तस्य विभावः, तत् प्रकाशितो निर्वेदश्च व्यभिचारी।

पुनः पुनर्दीप्तिर्यथा कुमारसंभवे रतिविलापेषु।

अकाण्डे प्रथननं यथा वेणीसंहारे द्वितीयेऽङ्केऽनेकसंक्षये प्रवृत्ते भानुमत्या सह दुर्योधनस्य शृङ्गारवर्णनम्।

अकाण्डे छेदो यथा वीरचरिते राघवभार्गवयोर्धाराधिरूढे वीररसे 'भगवन्कङ्कणमोचनाय यामीति' राघवस्योक्तौ।

अङ्गस्याप्यतिविस्तृति र्यथा किराते सुराङ्गनाविलासादि।

अङ्गिनोऽननुसंधानं यथा रत्नावल्यां चतुर्थेऽङ्के बाभ्रव्यस्यागतौ सागरिकाया विस्मृतिः।

वीररौद्रशृङ्गारशान्तप्रधाना धीरोदात्तधीरोद्धतधीरललितधीरशान्ताश्चत्वारो नेतारः। ते च सर्वेऽनुकूलदक्षिणशठधृष्टा दिव्यादिव्योभयात्मानश्चोत्तमाः मध्यामाः कनि-

---

कृष्णस्य नेतुः। अत्र विप्रलम्भो व्यङ्ग्यः।

मानमिति। दूतीवाक्यम्। अत्रेत्ति। विभाव उद्दीपनरूपः।

पुनः पुनरिति। पुनः पुनर्दीप्तिर्विच्छिद्य विच्छिद्य ग्रहणम्। तेन पूर्वापरानुसंधौ समग्रप्रतिभास इत्यर्थः।

अकाण्डेऽनवसरे प्रथनं विस्तारः। छेदो विच्छेदः। धाराधिरूढे धारावाहिनि। कङ्कणमोचनं विवाहदशमदिवसीयोत्सवविशेषः। तदानीं तद्गमनमकीर्तिपर्यवसायीति भावः। अङ्गस्याप्रधानस्य।

विस्मृतिरिति। सागरिकायाः पितृगृहादागतः कञ्चुकी बाभ्रव्यनामा तस्यागमनकाले विजयवर्णन वृत्तान्तश्रवणेन तस्याः विस्मृतिः। तेन नायिकाप्रतिपाद्यस्य शृङ्गाररसस्य विच्छेद इति भावः।

वीरेति। नेतारो नायकाः। दिव्याः श्रीकृष्णादयः, अदिव्याः श्रीयुधिष्ठिरादयः। उभयात्मनो देवत्वेऽप्यात्मनि मनुष्याभिमानिनः श्रीरामचन्द्रादयः। उत्तमा इति। गुणानामुत्कर्षापकर्षतदुभयाभावै-

ष्ठाश्च । तेषु यो यथाभूतस्तस्यायथावर्णनं प्रकृतिविपर्ययो दोषः । एवं देशकालादीनामप्य-यथावर्णनं बोध्यम् । तथा सति हि काव्यस्यासत्यताप्रतिभासेन विनेयोन्मुखीकरणासंभवः ।

यत्तूत्तमदेवतानां जगत्पितृत्वात्तत्संभोगवर्णनं दोषावहमित्युक्तम् तत्किल शिवादी-नामेव । श्रीकेशवयोस्तु प्रागुक्तहेतो र्विधिवीक्षणाच्च यथाविधि कार्यमेव तत् ।

अनङ्गस्य रसानुपकारस्य वर्णनं यथा कर्पूरमञ्जर्यां नायिकया स्वेन च कृतं वसन्त-वर्णनमनादृत्य[1] बन्दिवर्णितस्य तस्य राज्ञा प्रशंसनम् । एवं कान्तापादप्रहारेण कान्तस्य कोप वर्णनं च दोषः ।

अथैते क्वचिददोषाश्च भवन्तीत्याह—

'न दोषः स्वपदेनोक्तावपि संचारिणः क्वचित् ।'

यत्र स्वव्यापारेण संचारी बोधयितुमशक्यस्तत्र स्वशब्देनासौ वाच्यः ।

यथा—

'तस्यास्त्रपाभयविषादविवेकधैर्य-
दैन्याभिलाषभरकोरकितः कटाक्षः ।
उन्मादमोहमददाहविसर्पशूल-
तृष्णान्वितो ज्वर इवात्मनि मे प्रविष्टः ॥'

रुत्तमत्वकनिष्ठत्वमध्यमत्वानि । एवमिति । विवि मानुषवाग्वेषादिदेशानुचितम् । वसन्ते मेघादि-कालानुचितम् । जरायां संभोगादि वयोनुचितमिति बोध्यम् । विनेयः शिष्यः ।

यत्त्विति । प्रागुक्तो हेतुर्हि । भावकचित्तानुसारित्वम् । विधिर्वीक्षणं च ।

विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदं च विष्णोः, श्रद्धान्वितोऽनुशृणुयादथ वर्णयेद्यः ।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्यकामं हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः ।

इत्यादौ । यथाविधीति । दासादेर्व्यावृत्तिः ।

अनङ्गस्येति । स्फुटम् । ईदृशाः स्युरित्यस्याशयमाह—एवं कान्तेति ।

अथ प्रतिप्रसवमाह अथैत इति । एते स्वशब्दवाच्याः संचारिणः ।

तस्यास्त्रपेति । कृष्णः सुबलमाह । तस्या राधायाः । आत्मनि मनसि । अत्रेति । जपादौ उन्मादादिरारोप्यः । शब्दाश्चारोपकास्त्रपादय एवेति बोध्यम् ।

---

१. वसन्तमनादृत्य ख ।

अत्र त्रपादीनां व्यञ्जकशब्दोपादाने सहोन्मादादिभिरारोप्यारोपकभावो न स्यात् ।

संचार्यादेर्विरुद्धस्य बाध्यस्योक्तिर्गुणावहा: ॥१५॥

बाध्यतयोक्ति र्न परमदोष: किन्तु गुणश्च प्रकृतरसपोषित्वात् ।

यथा—

'विचार्य धर्मं कुलपालिकानां कृष्णान्निवृत्तिं प्रति याति यावत् ।
निपीय वंशीध्वनिमम्बुजाक्षी विभाति तावच्चलदन्तरासौ ॥'

अत्र गतिबाधकतयौत्सुक्यवर्णनं शृङ्गारपुष्टिकृत् ।

'प्रत्याहृत्य मुनि: क्षणं विषयतो यस्मिन्मनो धित्सते
बालासौ विषयेषु धित्सति तत: प्रत्याहरन्ती मन: ।
यस्य स्फूर्तिलवाय हन्त हृदये योगी समुत्कण्ठते
मुग्धेयं किल तस्य पश्य हृदयान्निष्क्रान्तिमाकाङ्क्षति ॥'

अत्र शान्तस्य बाध्यतयोक्ति: प्रकृतशृङ्गारपुष्टिकृत् ।

आश्रयैक्ये विरुद्धो य: स कार्योभिन्नसंश्रय: ।

वीरभयानकयोरेकाश्रत्वेन विरोधाद्भयानक: प्रतिपक्षगतत्वेन वर्णनीय: ।

यथा—

'विजयिनमजितं विलोक्य रङ्गस्थलभुवि संभृतसांयुगीनलीलम् ।
पशुपसवयसां वपूंषि भेजु: पुलककुलं द्विषतां तु कालिमानम् ॥'

संचार्यादेरित्यादिपदाद्रसो गृहीत: ।

विचार्येति । निजेश्वरीवृत्तं तत्सखीं प्रति तत्किङ्करी प्राह । धर्मं पतिभक्तिम् । अत्र रागातिशयद्योतनात् शृङ्गारपुष्टि: ।

प्रत्याहृत्येत्ति । पौर्णमासीवाक्यम् । असौ राधा योगबलेन योजितस्य मुनिमनसो भगवत्यवृत्ति: । धर्मभयेन वियोजितस्यापि बालिकामनसस्तस्मिन्प्रवृत्तिरिति शान्तस्य शृङ्गारस्य प्रकर्षश्च स्फुट इति बोध्यम् ।

विजयिनमिति । सांयुगीनो रणे धीर: । तद्वं रिषु कंसमित्रेषु ।

अत्र कृष्णपक्षीयेषु वीरस्तद्वैरिषु भयानकः ।

विषयैक्ये विरोधस्तु लौकिकादन्यत्र नास्तीति मुनिना न सूत्रितम् ।

यथा—

'मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः ।
मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां तत्त्वं परं योगिनां
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रङ्गं गतः साग्रजः ॥'

अत्र सर्वेऽपि रसा भगवदेकविषया वर्ण्यन्ते ।

रसान्तरेणान्तरितो नैरन्तर्येण यो रसः ॥१८॥

विषयैक्ये इति । आश्रयालम्बनो रसाश्रयः, विषयालम्बनस्तु रसविषयः । लौकिकादन्यत्रा-लौकिके श्रीकृष्णरूपे विषये इत्यर्थः । तं दर्शयति—

मल्लानामिति । मल्लादीनां द्रष्टॄणामशन्यादिरूपेण विदितः सन्साग्रजो रङ्गं गतः ।

अत्र रौद्रादयो नव रसा नवभिरशन्यादिभिर्विशेषणैर्बोध्याः । परदेवतेत्यन्तिमेन[1] देवताविषय-रतिरूपो भावः इति भरतसिद्धान्तः । अत्रायं श्लोकः ।

'रौद्राद्भुतशृङ्गारो हास्यो वीरोऽथ करुणश्च ।
सभयानकबीभत्सः शान्तो नवमोऽन्तिमो भावः' ॥ इति ।

श्रीव्यासस्तु द्वादशापि रसानिहावर्णयत् । गोपानां स्वजन इति सख्यहास्ययोः । स्वपित्रोः शिशुरिति वत्सलकरुणयोः, वृष्णीनां परदेवतेति दास्यस्य च संमतत्वात् । यथा च व्याख्यातम्—

'रौद्रोऽद्भुतः शुचिरथो धृतसख्यहास्यो
वीरोऽथ वत्सलयुतः करुणो भयाङ्कः ।
वीभत्ससंज्ञ उदितोऽथ तथैव शान्तः
सप्रेमभक्तिरिति ते द्वयधिका दश स्युः ॥ इति ।

अत्रानेन क्रमेण निर्देशस्तदानीमुच्चावचजनानां तत्र दृष्टिपातस्तथैवाभूदिति विवक्षया । विराट् विकलः अपर्याप्तो राजत इति, तथा विराडंशभूतो नृबालकविग्रहो वेति व्याख्येयम् ।

रसान्तरेणेति । नैरन्तर्येणाव्यवधिना ।

---

१. °न्तिमेन तु ख ।

शान्तशृङ्गारयोर्नैरन्तर्येण विरोधादद्भुतोऽन्तर्निविष्टः[1]।

यथा—

'त्वं कासि शान्ता किमिहान्तरिक्षे द्रष्टुं परं ब्रह्म कुतस्तवाक्षी।
अस्यातिरूपात्किमिवाकुलात्मारम्भे समारम्भि भिदा स्मरेण॥'

अत्र 'अस्यातिरूपात्' इति तयोरन्तरद्भुतो वर्णितः।

स्मर्यमाणो विरुद्धोऽपि साम्येनाथ विवक्षितः।

तदा न दोष इत्यर्थः।

क्रमेणोदाहरणम्—

'स एष वैहासिकताविनोदैर्व्रजस्य हासोद्गमसंविधाता।
फणीश्वरेणाद्य विकृष्यमाणः करोति हा नः परिदेवनानि॥'

अत्र स्मर्यमाणानां हास्याङ्गभूतानां विनोदानां शोकोद्दीपकतया करुणानुकूल्यान्न विरोधः।

'राधा शान्तिरिवोन्निद्रं निर्निमेषेक्षणं च माम्।
कुर्वती ध्यानलग्नं च वासयत्यद्रिकन्दरे॥'

अत्र प्रकृतरतेरनुभावसाम्येन शान्तो विवक्षितः।

त्वं कासीति। रम्भातपस्विन्योरुक्तिप्रत्युक्ती। अस्य परस्य ब्रह्मणः कृष्णस्य। अतिरूपादतिशायितरूपात्। अत्रेति। तयोः शान्तशृङ्गारयोः। अन्तर्मध्ये।

स एष इति। क्षुद्रदेवतानामुक्तिः तेषामेव तादृशव्याहारसंभवात्। वैहासिकता नर्मप्रहेलिकादिः तद्रूपैर्विनोदैः क्रीडनैः। विकृष्यमाणः संवेष्टय तस्ततश्चाल्यमानः। हेति खेदे। परिदेवनानि विलापान्करोत्युत्पादयति।

राधा शान्तिरिति। सुबलं हरिराह। स्पष्टम्।

अत्रेति प्रकृता रतिः कृष्णाश्रया, तदनुभाव उन्निद्रतादिः तत् साम्येनेत्यर्थः।

---

१. निविश्यः क, ख।

अङ्गिन्यङ्गत्वमाप्तौ यौ तौ न दुष्टौ परस्परम् ॥१७॥

निसर्गविरुद्धयोरपि भृत्ययो राजसेवायामिव तथाभूतयोरप्यङ्गिपुष्टौ संगतिर्न दोषाय ।

यथा—

'कम्प्रा स्वेदिनि चूर्णकुन्तलतटे स्फारेक्षणत्तुङ्गिते
सव्ये दोष्णि विकासिभण्डफलका लीलास्य भङ्गीशते ।
बिभ्राणस्य हरेर्गिरीन्द्रमुदयद्बाष्पा चिरोर्ध्वस्थितौ ।
पातु प्रस्नवसिच्यमानसिचया विश्वं व्रजाधीश्वरी ।'

अत्र हास्यकरुणौ वात्सल्यरतिमेव पुष्णीतः। अत्र रसस्य रसेन सह विरोध इति यदुक्तम् तत्तु तत्सामग्रीभूतस्य स्थाय्यादेरेव न तु रसस्य । तस्य विगलितवेद्यान्तर-स्वरूपत्वात् ॥

इति भरतसूत्रवृत्तौ साहित्यकौमुद्यां दोषनिरूपणो नाम
सप्तमः परिच्छेदः ।

अङ्गिनीति । स्पष्टम्[1] । निसर्गः स्वभावः ।

कम्प्रेति । कंचिद्वात्सल्यरतिमन्तं प्रति कस्यचिदाशीर्वादः । सव्ये दोष्णि गिरीन्द्रं बिभ्राणस्य हरेश्चूर्णकुन्तलतटे स्वेदिनि सति कम्प्रा व्रजाधीश्वरी । एवमग्रेऽपि योज्यम् । विकासीति हास्यः, उदयद्बाष्पेति करुणः, प्रस्नवेति वात्सल्यम् ।

इति कृष्णनन्दिन्यां साहित्यकौमुदीटीकायां
सप्तमः परिच्छेदः ।

---

१. स्पष्टमिति क, ख पुस्तकयोः नास्ति ।

अष्टमः परिच्छेदः

एवं दोषान्निरूप्य गुणालंकारभेदं तावदाह—

ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः ।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः ॥१॥

अङ्गिनो रसस्योत्कर्षका धर्मा गुणाः, आत्मन इव शौर्यादयः । ते च रसविशेषे नियत-विशेषाः स्युः । आत्मन इवेति । यथा शौर्यादयो नाकृतेः, तथा माधुर्यादयो न शब्दार्थयुग्मस्य । न ह्ययमाकारः शूरः स्थूलत्वादिति सद्धेतुः अस्थूलेऽपि सिंहे शौर्यवीक्षणात् । ततश्च सव्यभिचारत्वान्नाकृतिगतं तत् । वर्णास्त्वाकृतिवद् गुण व्यञ्जका वक्ष्यन्ते ।

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित् ।
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥२॥

शब्दार्थरूपाङ्गातिशयद्वारेण ये मुख्यं रसं सम्भविनमुपकुर्वन्ति देहोत्कर्षद्वारेण देहिनो-ऽप्युपकारका हारादय इव तेऽनुप्रासोपमादयोऽलंकाराः ।

अवसरप्राप्तयोर्गुणालंकारयोर्निरूपणाय तयोर्विवेकं तावद्दर्शयति—एवमित्यादिना ।

ये रसस्येति । रसस्य तदास्वादस्य । ते चेति । यथा च वीरादावोजः केचिद्गुणान्काव्यधर्मा-निच्छन्ति तान्निराह—आत्म इवेत्यादिना । यत्तु वीरसूप्रसूतयोर्बालयूनोराकारगतमेव शूरत्वं तत् किल वयः परिणामजमेव बोध्यम् । इतरथातिप्रसङ्गात् । एतदाह—न हीति । तत् शौर्यम् । वक्ष्यन्ते इति । गुणवृत्त्या पुनस्तेषाम् इत्यनेन [पृ० १३५] ।

अलंकारेषु गुणधर्मराहित्यदृष्टये तत्स्वरूपमाह—उपकुर्वन्तीति । तं रसम् । जातुचित् कदाचित् । तेनालंकारा विनापि रसमवस्थिताः । न चावश्यमुपकुर्वन्ति, न वा रसे साक्षात्, किं

यथा—

लोलालिमाला मिलिना ललिता मालती लता ।
जलदाकलिते काले कराले विलयाय मे ॥'

अत्र कोमलानुप्रासः शब्दमलंकुर्वन् दौर्बल्यव्यञ्जनया विप्रलम्भं रसं पुष्णाति ।

'रिपुरिव सखीसंवासोऽयं शिखीव हिमानिलो
विषमिव सुधारश्मिर्यस्मिन्दुनोति मनोगते ।
हृदयमदये तस्मिन्नेवं पुनर्वलते बला
त्कुवलयदृशां वामः कामो निकामनिरङ्कुशः ॥'

अत्रोपमालंकारः सखीसंवासादिषु रिपुमुखधर्मप्रत्यायनेनार्थमलंकुर्वंस्तं पुष्णाति ।

क्वचित्तु सन्तमपि नोपकुर्वन्ति ।

यथा—

'शिखण्डिताण्डवक्रूरे काले जाता प्रियं विना ।
प्रचण्डस्मर कोदण्डमुक्तकाण्डालिखण्डिता ॥'

अत्र टवर्गानुप्रासो विरोधाद्रसं नोपकरोति, किन्तु शब्दमेव ।

'मित्रे क्वापि गते कोकः स प्रियां वीक्ष्य सारसीम् ।
आस्ये निर्यातजीवाय मृणालार्गलमादधे ॥'

त्वङ्गद्वारैवेति गुणेभ्यो वैलक्षण्यम् । अतिशय उत्कर्षणम् ।

उपकारकत्वं दर्शयति यथेति । विरहिणी राधाह—लोलालीति । कराले भीषणे ।

रिपुरिवेति । संवाह । शिखी वह्निः । यस्मिन् कृष्णे । जातुचिदिति विवृणोति ।

क्वचित्त्विति । सन्तं रसम् ।

शिखण्डीति । मथुरास्थस्य हरेर्वाक्यम् । प्रियं मां विना सा राधेति शेषः । अत्रेति । रसं विप्रलम्भम् ।

मित्र इति । विरहिणं चक्रवाकं वर्णयति । मित्रे सूर्ये एव मित्रे सुहृदि । निर्यातेति । आदिकर्मणिक्तः । निर्यातुमारम्भणाय जीवाय तं रोद्धुमित्यर्थः । मृणालमर्गलमिवेति लुप्तोपमा । किञ्च

अत्र मृणालं जीवरोधाय न प्रभवतीति प्रकृताननुकूलोपमा । यत्र रसाभावस्तत्र तूक्तिवैचित्र्यमात्रपर्यवसितारते । एवं समवायेन शौर्यादीनां, संयोगेन तु हारादीनामात्मनि सत्त्वाद्यथा भेदस्तथा गुणानामलंकाराणां च स बोध्यः ।

अथ गुणानाह[1]—

माधुर्यौजः प्रसादाख्यास्त्रयस्ते न पुनर्दश ।

क्रमेणैषां लक्षणमाह—

आह्लादकत्वं माधुर्यं शृङ्गारे द्रुतिकारणम् ॥३॥
करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम् ।

आह्लादो रञ्जनं शृङ्गारेऽर्थात् संभोगे द्रुतिर्विगलनम् । ओजःप्रसादयोस्तु श्रव्यत्वमेव । अतिशयोऽतिद्रवहेतुत्वात् ॥

विप्रलम्भे प्राणापगमस्यापि वर्णनीयत्वात् तत्प्रतिबन्धोक्तिरपकर्षायैवेति न रसानुगुण्यभाक् । उक्तिवैचित्र्यं तु करोत्येवेति दिक् ।

यत्रेति । वैचित्र्यं शब्दानां सुश्रवत्वम् बन्धकौशलादि । अर्थानां त्वीषन्मनोहारित्वम् ।

अथेति । तयोर्विवेकानन्तरम् ।

न पुनर्दशेति । तदुक्तमन्यैः—

'श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता ।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजःकान्तिसमाधयः ।
इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दश गुणाः स्मृताः । इति ।

ते चैते न संमता इत्यर्थः ।

द्रुतीति । सामाजिकानां चित्ते नवरसानुकृतिजन्यास्तिस्रोऽवस्थाः द्रुतिर्विस्तारो विकाशश्चेति । तत्र शृङ्गारकरुणशान्तेभ्यो द्रुतिः । वीरबीभत्सरौद्रेभ्यो विस्तारः । हास्याद्भुतभयानकेभ्यश्च विकाश इति । हास्ये वदनविकाशः । अद्भुते नयनविकाशः भयानके द्रुतापसारणमिति त्रिष्वेव वदनयनगमनेषु प्रसारो विकाश इति । अतिशयोऽत्र यथोत्तरं ज्ञेयः ।

श्रव्यत्वमिति । तेन—'श्रव्यं नातिसमस्तार्थशब्दं मधुरमिष्यते' । इति भामहोक्तं त्यक्तम् ।

---

१. अथ गुणानाह इति क, ख पुस्तकयो र्न पठ्यते ।

दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थितिः ॥४॥
बीभत्सरौद्ररसयोस्तस्याधिक्यं क्रमेण च ।

चित्तविस्ताररूपदीप्तिजनकत्व[1]मोजःवीरादिषु तस्य क्रमेणैवाधिक्यम् ।

शुष्केन्धनाग्निवत्स्वच्छजलवत्सहसैव यः ॥५॥
व्याप्नोत्यन्यत्प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः ।

अग्निर्यथा शुष्केन्धनं व्याप्नोति । यथा च निर्मलाम्बु सिताम्, तद्वद्यश्चित्तं स प्रसादः । सर्वत्र रसेषु रचनासु च यः स्थितः ॥

ननु रसधर्माश्चेद् गुणास्तर्हि सगुणावित्युक्तिः कथम् ! तत्राह[2] ।

गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता ॥६॥

गुणानां शब्दार्थवृत्तित्वमुपचारादेव, शौर्यादीनामिव देहवृत्तित्वम् ।

ननु—

'ओजः प्रसादो माधुर्यमर्थव्यक्तिरुदारता ।
श्लेषः समाधिः समता स्यात्कान्तिः सुकुमारता ॥'

इत्यन्यत्र दशगुणा निरूप्यन्ते इह तु त्रयस्ते न पुनर्दशेति । कथमिति चेदत्राह—

दीप्तीति दीप्तिरूपा ज्वलद्रूपा यात्मनश्चित्तस्य विस्तृतिस्तस्या हेतुरित्यर्थः ।

शुष्केन्धनेति । प्रसादः स्वच्छता । यदा वीररौद्रादौ चित्तं व्याप्नोति तदा शुष्केन्धनाग्निवदिति, यदा शृङ्गारकरुणादौ तदा स्वच्छजलवदिति । रसेषु मङ्क्षु प्रतीयमानत्वम्, रचनासु मङ्क्षु प्रत्यायकत्वम् । यदुक्तम्—

'समर्पकत्वं काव्यस्य यत्तु सर्वरसान्प्रति ।
स प्रसादो गुणो ज्ञेयः सर्वसाधारणक्रियः ॥'

गुणवृत्त्येति । काव्यस्य तद्वत्वं तद्व्यञ्जकतयोपचर्यते ।

---

१. °जनकमो° क, ख । २. 'ननु' इत्यत आरम्य 'तत्राह' पर्यन्तं क पुस्तके न पठ्यते ।

केचिदन्तर्भवन्त्येषु दोषत्यागात्परे श्रिताः ।
अन्ये भजन्ति दोषत्वं कुत्रचिन्न ततो दश ॥७॥

तथाहि—संधिसौष्ठवात्पदानामेकपद्येनेव भासनं श्लेषः । आरोहावरोहक्रमात्मा समाधिः विकटबन्धत्ववपुरुदारता, ओजोमिश्रितशैथिल्यरूपः प्रसादश्चौजस्यन्तर्भवन्ति[1] । यत्र झटित्यर्थप्रतीतिहेतुत्वं सार्थव्यक्तिः प्रसादे । पृथक्पदत्वरूपं माधुर्यं तु साक्षादेव गृहीतं तत्सूत्रेऽवृत्तिपदोपादानात् ।

केचिदिति । अन्तर्भवन्ति तल्लक्षणक्रोडीकृतत्वात् । अत्र केचित्त्रिष्वेवान्तर्भूताः, केचिद्दोषाभावत्वेनाङ्गीकृताः, केचित्तु दोषरूपा इति त्रिधैषां दशानां व्यवस्था । तेष्वन्तर्भावं दर्शयति—तथा हीति । श्लेषो यथा—

उन्मज्जज्जलकुञ्जरेन्द्रबहलास्फालानुबन्धोद्धतः,
सर्वाः सर्वतमन्दरोदरभुवः कुर्वन्प्रतिध्वानिनी ।
उच्चैरुच्चरति ध्वनिः श्रुतिपथोन्माथी यथायं तथा
मन्ये प्रेङ्खदसंख्यशङ्खधवला वेलेयमुज्जृम्भते ।

अत्र गाढबन्धतया व्यक्तमोजः । वर्ण्यः पुनस्तरङ्गोऽर्णवः ।

श्लिष्टमस्पृष्टशैथिल्यमिति दण्डी च । आरोहो गाढता । अवरोहः शिथिलता । क्रमः क्रमेण तन्निबन्धः । आरोहपूर्वकोऽवरोहस्तत्पूर्वक आरोहो वा । यथा—

'चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघात
संचूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य ।
स्त्यानावनद्धघनशोणितशोणशोचि
रुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि भीमः ॥'

अत्र संचूर्णितान्ते आरोहः सुयोधनान्तेऽवरोहः[2] । पुनस्तवान्ते पूर्वः, भीमान्ते त्वपरः, अत्रापि गाढबन्धत्वं व्यक्तमेव ।

विकटत्वं विच्छेदात्पदानां नृत्यत् प्रायत्वम् । यथा—

'सुचरणविनिविष्टैर्नूपुरैर्नर्तकीनां झटिति झणितमासीत्तत्र चित्रं कलं च' इति ।

ओजोमिश्रितेति । क्रमनियमाभावात्समाधितो भेदः । यथा—

'यो यः शस्त्रं बिभर्ति स्वभुजगुरुमदः पाण्डवीनां चमूनां
यो यः पाञ्चालगोत्रे शिशुरधिकवया गर्भशय्यां गतो वा ।
यो यस्तत्कर्मसाक्षी चरति मयि रणे यश्च यश्च प्रतीपः
क्रोधान्धस्तस्य तस्य स्वयमिह जगतामन्तकस्यान्तकोऽहम् ॥'

अश्वत्थामोक्तिरियम् । अत्र यो य इति शैथिल्यम् । शस्त्रं बिभर्तीत्योजः । एवमग्रेऽपि ।

---

१. °भवति क, ख । २. 'सुयोधनान्तेऽवरोहः' इति क पुस्तके नास्ति ।

अपारुष्यरूपं सौकुमार्यमौज्ज्वल्यरूपा कान्तिश्च कष्टत्वग्राम्यत्वयोर्दुष्टतया परित्यागात् स्वीकृते। यत्र मिथो विसदृशयोः सहोक्तौ वैषम्यमिष्टन्तत्र मार्गभिदात्मा समता दोष एव, तदन्यथा गुणः।

यथा—

'स बभौ चण्डदोर्दण्डखण्डितासुरमण्डलः।
मुकुन्दः सुन्दरी वृन्दैरमन्दैरभिनन्दितः॥'

अत्र वीरे वाच्ये परुषा वर्णाः, शृङ्गारिणि तु मसृणाः। एवं न दश शब्दगुणाः।

अथ साभिप्रायत्वमोजः। अर्थनैर्मल्यं प्रसादः। उक्तिवैचित्र्यं माधुर्यम्। अपारुष्यं

एषां चतुर्णामोजस्त्वं गाढबन्धत्वेन चित्तविस्तृतिरूपदीप्तिजनकत्वात्। ओजसि तद्व्यञ्जकशब्दार्थविशेषे। यत्रेति। प्रसादेऽन्तर्भवति। तत्सूत्रे माधुर्यलक्षणे।

अथ दोषाभावरूपेण संगृह्णाति—अपारुष्येति। अपारुष्यं परुषवर्णाभावः। हालिकादिसाधारणपदरचनवैपरीत्येनालौकिकशोभाशालित्वमौज्ज्वल्यम्।

अथ दोषरूपेण संगृह्णाति—यत्रेति। सहोक्तौ युगपद्वर्णने यथा रीत्योपक्रमस्तथैव समापनं मार्गभिदः स च दोष एव। अन्यथा वीरशृङ्गारिणोः सहोक्तौ वीरवर्णानां शृङ्गारिणि प्रयोगे वक्तृवाच्यप्रबन्धौचित्येन रचनाद्यौचित्यमुक्तं भज्येतेति भावः। प्रत्युतमार्गभेदे गुणत्वमेवेत्याह—स बभाविति। चाणूरादीन् हत्वा सखिभिः सह नृत्यन्तं हरिं शुको वर्णयति।

अर्थगुणान् प्रत्याख्याति—अथेत्यादिना। साभिप्रायादीनामपुष्टार्थत्वाद्यभावरूपत्वात्ते स्वीकृता इत्यर्थः। साभिप्रायत्वमर्थस्य प्रकृतोपकाराभिप्रायेण प्रयुक्तत्वम्। यथा—'चक्रिणं हरिमाश्रये' इति। अत्र चक्रिणमिति। वैमल्यं मलप्रायस्य निरर्थकपदार्थस्यानिवेशः। यथा—

'काञ्चीपदगतो हस्तः क्षिप्तः कान्तस्य कान्तया' इति।

विपर्ययस्तु

'निरस्तो हस्तो मे मणिखचितकाञ्चीपदगतः' इति।

अत्र मणिखचितेति व्यर्थम्, काञ्चीपदशब्देन नितम्बस्य प्रतीतेः। एकस्यैवार्थस्य भङ्ग्यन्तरेणोक्तिर्वैचित्र्यम्। यथा—'भानुः सदायुक्त' इत्यादि [पृ० १११]। विपर्ययस्तु 'सदा चरति' इत्यादि [पृ० १११]। अपारुष्यममङ्गलस्यापि वैचित्र्यात् सुकुमारप्रायतयापादनम्। यथा—'कीर्तिशेषो

सौकुमार्यम्। अग्राम्यत्वमुदारता चेति पञ्च क्रमादपुष्टार्थाधिकपदानवीकृतामङ्गलाश्लील-ग्राम्याणां दुष्टतया निरासात् स्वीकृताः। वस्तुस्वभावस्फुटत्वमर्थव्यक्तिर्दीप्तरसत्वं कान्तिश्च वक्ष्यमाणस्वभावोक्त्या रसध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्याभ्यां न क्रमादाश्रिता।

क्रमकौटिल्यानुल्बणत्वोपपत्तियोगरूपा घटना श्लेषः। स च वैचित्र्यमात्रत्वान्न गुणः।

यथा—

'सुप्ते प्रेक्ष्य पृथक्पुरः प्रियतमे तत्रार्पयन्पुष्पजं
लीलाया नयनाञ्चले किल रजश्चक्रे प्रबोधोद्यमम्।
कृष्णः शीतलतालवृन्तरचनोपायेन पश्चाग्रत-
स्तारायाः प्रणयादिव प्रणयते निद्राभिवृद्धिक्रमम्॥'

अत्र प्रेक्ष्यादिरूपा क्रियापरम्परा क्रमः, विदग्धचेष्टितं कौटिल्यम्, अनुल्बणत्वम-प्रसिद्धवर्णनाविरहः उपपत्तिरुपपादकयुक्तिः, एषां योगः सम्मेलनम्। अस्य श्लेषस्य न गुणत्वं असाधारणरसोपकारविरहात्। गुणनिर्वाहव्यग्रेण स्वादानुपलम्भाच्च।

समता च प्रकान्तप्रकृतिप्रत्ययाविपर्यासेनार्थस्य विसंवादिताविरहः। स च प्रक्रम-भङ्गाख्यदोषाभावरूपत्वान्न गुणः।

भीष्मः' इति। विपर्ययस्तु 'मृतो भीष्मः' इति। अग्राम्यं वाचि वैदग्धी। यथा—'ममालि कुपितः कामः सदयस्त्वयि भाग्यतः' इति। विपर्ययस्तु 'कन्ये कामयमानं मां न त्वं कामयसे कथम्' इति। वस्त्विति। वस्तुनो डिम्भादेः स्वभावो साधारणं रूपं तस्य स्फुटत्वं वर्णनेन व्यक्तिः। यथा—मुखपुटेत्यादि। दीप्तत्वं झटिति प्रत्येयत्वम्। ध्वन्यादिभ्यां रसशब्दस्य प्रत्येकमन्वयः गुणाश्रयस्य न गुणत्वमिति भावः।

क्रमकौटिल्येति। वैचित्र्यमात्रत्वात् कविवैदग्ध्यमात्रप्रतिपत्तेरित्यर्थः।

सुप्ते प्रेक्ष्येति। वृन्दा काञ्चिद्वनदेवतां प्रत्याह।

कौटल्यमिति। तच्चोभयसमर्थनरूपं बोध्यम्। अप्रसिद्धेति। लोकेऽप्येतादृशचेष्टायां दृष्टत्वात् उपपादकयुक्तिः प्रकृतानुकूलहेतुविन्यास इत्यर्थः। सा चैकस्या नेत्रयो रजः प्रक्षेपस्तत् संगमादर्शनाय, परस्यास्तालवृन्तवातेन निद्राभिवृद्धिरित्येतद्रूपा। व्यग्रेण कविना। तस्मादस्य दोषत्वमेव।

समतेति। 'उदेति सविता ताम्रः' इत्यादौ [पृ० १०५] 'प्रत्याहृत्य मुनिः' इत्यादौ च।

समाधिश्चायोन्यन्यच्छायायोनिरूपद्विविधार्थदृष्टिवपुः ।

तत्राद्यो यथा—

'सद्यो मुण्डितमत्तहूणचिबुकप्रस्पर्द्धिनारङ्गकम् ।' इति ।

अन्त्यो यथा—

'तोयेषु तस्याः प्रतिविम्बतासु व्रजाङ्गनानां नयनावलीषु ।
स्वबन्धुपंक्तिभ्रमतोऽतिमुग्धा गोष्ठीं शफर्यो रचयांबभूवुः ॥'

पूर्वत्र स्वमात्ररचितत्वादयोनिरर्थः । परत्र तु नयनशफर्योः सादृश्यमति प्रसिद्धम् । इह तु विच्छित्तिविशेषेणोपनिबद्धमित्यन्यच्छायायोनिः । एष च काव्यशरीरमात्रनिर्वर्तको न गुणः ॥

समाधिश्चेति । तदेकप्रतिभातोऽर्थो अयोनिः । अन्यस्य काव्यान्तरस्य छायावर्णनं योनिर्हेतुर्यस्य सोऽन्यच्छायायोनिः ।

सद्य इति । हूणो म्लेच्छविशेषः । नारङ्गकं पक्वमिति ज्ञेयम् । हूणचिबुकनारङ्गयोः सादृश्यमनिबद्धपूर्वम् ।

तोयेष्विति । तस्याः कालिन्द्याः । भ्रान्तिमानलंकारः । नन्वन्यवर्णनोपबन्धनप्रयोजकमत आह—विच्छित्तिविशेषेणेति । कव्यन्तरैः सहस्रशोनिबद्धमपि वैचित्र्यविशेषेण निबद्धं तत् विलक्षणानन्दं जनयतीत्यर्थः । एष चेति । चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः । तथा हि—पदार्थस्य वाक्येनोक्तिर्वाक्यार्थस्य पदेनोक्तिश्च प्रौढिः । क्रमेणोदाहरणम्—चन्द्र इत्यत्रात्रिनेत्रोत्थं ज्योतिरिति । चन्द्रपदार्थस्य वाक्येनोक्ति । कान्तार्थिनी तु या याति संकेतं साभिसारिका इत्यत्र कान्तार्थिनीत्यादिवाक्यार्थस्याभिसारिकापदेनोक्तिः । एकस्य वाक्यार्थस्यानेकैर्वाक्यैरुक्तिर्व्यासः । अनेकवाक्यार्थस्यैकेन वाक्येनोक्तिः समासः । क्रमेणोदाहरम्—

'अयं नानाकारो भवति सुखदुःखव्यक्तिकरः
सुखं वा दुःखं वा भवति न भवत्येव च ततः ।
पुनस्तस्मादूर्ध्वं भवति सुखदुःखं किमपि तत्
पुनस्तस्मादूर्ध्वं भवति न च दुःखं न च सुखम् ॥'

अत्र येन संसारिणा यादृश कर्म कृतं तदनुसृत्यैव वैविध्यभाक् सुखदुःखभोगो भवति, यदि कथं चिद्विद्वत्सङ्गात् ब्रह्मवित्तिः स्यात्तदैवास्य शान्तिरित्येव विवक्षितम् । विविधैर्वाक्यैरुपनिबद्धमिति केचित् । अदृष्टवैचित्र्यात् सुखदुःखवैचित्र्यमेकवाक्यार्थोऽनेकैर्वाक्यैः प्रपञ्चित इत्यन्ये ।

तेन नार्थगुणा वाच्याः

तेन मदुक्तप्रकारेणोजः प्रभृतयोऽर्थगुणाः परोक्ताः पृथङ् न वक्तव्याः।

प्रोक्ताः शब्दगुणाश्च ये।

तेऽपि पृथङ् न वाच्या इत्यर्थः॥

अथ माधुर्यादीनां त्रयाणां व्यञ्जका वर्णादयो दर्श्यन्ते :—

वर्णाः समासो रचनास्तेषां व्यञ्जकतामिताः॥८॥

के कस्येत्याह—

'मूर्ध्नि वर्गान्त्यगाः स्पर्शाः अटवर्गा रणौ लघू।
अवृत्तिर्मध्यवृत्तिर्वा माधुर्ये घटना तथा॥९॥

शिरसि निजवर्गान्तिमयुक्ताष्टठडढवर्जिताः कादयोः मान्ताः। रेफणकारौ ह्रस्वान्ताविति वर्णाः। असमासो मध्यमसमासो वेति समासः। तथा माधुर्यवती पदान्तरयोगे रचना माधुर्यस्य व्यञ्जिका।

'श्लोकार्द्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः।
न च सत्यात्परं पुण्यं न पापमनृतात्परम्॥'

अत्र सर्वतीर्थस्नायी बहुदायी पण्डितश्च यद्यत्पुण्यं लभते तत् सर्वं सत्यवादी। सुरापायी गोद्विजहन्ता गुरुदारहर्ता च यद्यत्पापमुपलभते तत्सर्वमनृतभाषीत्यादिभि र्वाक्यैरभिधेयस्यार्थजातस्यैकेन परार्द्धरूपेण वाक्येन प्रतिपादनम्। एतच्चतुर्विधमोजः परैरुक्तं वैचित्र्यमात्रमेव न त्वर्थगुणः, तद्विनापि काव्यव्यवहारप्रवृत्तेः। अतएव वृत्तिकृद्भिरप्यनुट्टङ्कितमेतत्।

तेनेति। वाच्या वक्तुं योग्या नेत्यर्थः। ननु काव्यस्य गुणवत्त्वं गुणव्यञ्जकत्वेनोक्तम्। तत्र के व्यञ्जकाः कथं वा व्यञ्जकत्वमित्याह—वर्णा इति। इताः प्राप्ताः।

मूर्ध्नीति। स्पर्शाः कादयो मावसानाः। असमास इत्यत्रेषदर्थे नञ्। तथा चाल्पः समासः। तेन वर्णाः समासो रचनेत्यविरोधः। पदान्तरयोगे इति। यथा अलंकुरु संगतामित्यादौ पदयोः संधौ मधुरवर्णोत्पत्तिः।

उदाहरणम्—

'सन्ततं सन्तनोत्यस्या नितान्तन्तान्तचेतसः ।
दुरन्ता कान्तचिन्तेयं हन्त सन्तापसन्ततिम् ॥'

योग आद्यतृतीयाभ्यामन्त्ययो रेण तुल्ययोः ।
टादिः शसौ वृत्तिदैर्घ्यं गुम्फ उद्धत ओजसि ॥१०॥

वर्गप्रथमतृतीयाभ्यामन्त्ययोस्तद्द्वितीयचतुर्थयोः क्रमेण योगः । यथा—कक्खटी अच्छा उत्थानं ककुप्फणं रुन्धासः उज्झितः तद्धतिः अब्भारः ।

रेफेण योगः । स चाध उपर्युभयत्र वा, यस्य कस्यापि । यथा—वक्रः अर्कः दुर्ग्रहः ।

तुल्ययोर्योगस्तेन तस्यैव । यथा—वाक्कार्यः[1], सच्चित्, संघट्ट, मत्त इत्यादि ।

टादिर्णवर्जटठडढरूपः शसौ चेति वर्णाः दीर्घसमासो विकटसंघटना[2] चौजसि ।

उदाहरणम्—

'उद्वृत्तमत्तदैत्येन्द्रहत्याविक्त नखोद्भटः ।
दंष्ट्राकटकटात्कारक्रूरवक्रोऽवताद्विभुः ॥'

श्रुतिमात्रेण शब्दानां यत्रार्थप्रत्ययो भवेत् ।
साधारणं समग्राणां स प्रसादो गुणो मतः ॥११॥

मथुरास्थं कृष्णं प्रति श्रीराधाविरहावस्थामयीं पत्रिकां ललिताद्याः प्रेषयन्ति—सन्ततमिति । हन्तेति खेदे ।

योग इति । वर्गेति प्रकृतत्वात् । अन्त्ययोरिति । प्रथमतृतीयान्तयोः । क्रमेणेति । प्रथमेन द्वितीयस्य तृतीयेन चतुर्थस्येत्यर्थः ।

उद्वृत्तेति । नृसिंहं वर्णयति । उद्वृत्तो निर्मर्यादो मत्तश्च यो दैत्येन्द्रो हिरण्यकशिपुस्तस्य हत्यया वधेन वित्ताः ख्याता ये नखास्तैरुद्भटः दुर्निरीक्ष्यः । दंष्ट्राणां कटकटात्कारः शब्दविशेषरूपस्तेन क्रूरं निर्दयं मुखं यस्य सः ।

श्रुतीति । श्रुतमात्रा वर्णादयोऽर्थप्रतीतिहेतवः सन्तः प्रसादस्य व्यञ्जका इत्यर्थः ।

---

१. वाक्यार्थं ख ।   २ संघट्टना क, ख ।

समग्राणां रसानां समासानां संघटनानां च प्रसादस्य सर्वत्रोपयोगान्न वर्णगतो नियमः।

उदाहरणम्—

'कोपे यथातिललितं न तथा प्रसादे
वक्त्रं विधे सततमातनु मानमस्याः।
इत्याकलय्य दयितस्य वचोविभङ्गीं
राधा विवर्तितविनम्रमुखी बभूव॥'

गुणायत्तानामपि रचनादीनां क्वचिद्वि 'र्यय: स्यादित्याह—

वक्तृवाच्यप्रबन्धानामौचित्येन क्वचित्क्वचित्।
रचनावृत्तिवर्णानामन्यथात्वमपीष्यते ॥ १२ ॥

क्वचिद्वाच्यप्रबन्धानपेक्षया वक्त्रौचित्यादेव, क्वचिद्वक्तृप्रबन्धानपेक्षया वाच्यौचित्यादेव, क्वचित्तु वक्तृवाच्यानपेक्षया प्रबन्धौचित्यादेव रचनाद्या भवन्तीत्यर्थः।

क्रमेणोदाहरणम्—

'मन्थायस्तार्णवाम्भः प्लुतकुहरचलन्मन्दरध्वानधीरः
कोणाघातेषु गर्जत्प्रलयघनघटा[1]न्योन्यसंघट्ट चण्डः।

कोपे यथेति। स्फुटम्।

प्रतिप्रसवमाह—गुणेति। गुणायत्तानां तद्व्यञ्जनायैव निर्मातव्यानाम्।

क्वचिदिति[2]। तेन तेषां गुणव्यञ्जकत्वनियमो वक्त्राद्यौचित्यबाधकापोद्य एवोत्सर्गो न तु व्यभिचारेणेति भावः। वक्ता कविस्तन्निबद्धश्च। तयोश्च रसाविष्टत्वादि धीरोदात्तत्वादि भेदाः द्विविधमौचित्यम्। वाच्यो वर्ण्यः। प्रबन्धो नाटकादिः।

मन्थायस्तेति। रणस्थाने दुन्दुभिध्वनिं श्रुत्वा भीमस्यायं प्रश्नः। अयं शब्दायमानो दुन्दुभिः केन ताडित इत्यन्वयः। कीदृशः। मन्थो मन्थनं तेनायस्तमान्दोलितं यदर्णवस्याम्भस्तेन प्लुतं व्याप्तं कुहरं गुहा यस्य तस्य चलतो मन्दरस्य ध्वान इव धीरः। कोणो वादनदण्डस्तेनाभिघातेषु ताडनेषु

---

१. घटघटा क, ख। २. क्वचित् क्वचिदिति क, ख।

कृष्णाक्रोधाग्रदूतः कुरुकुलनिधनोत्पातनिर्घातवातः
केनास्मत्सिंहनादप्रतिरसितसखो दुन्दुभिस्ताडितोऽयम् ॥'

अत्र वक्तुर्भीमस्यौद्धत्यात्तथा रचनादयः।

'प्रौढच्छेदानुरूपोच्छलनरयमिलत्सैंहिकेयोपघात-
त्रासाकृष्टाश्वतिर्यग्वलितरविरथेनारुणेनेक्ष्यमाणम्।
कुर्वत्काकुत्स्थवीर्यस्तुतिमिव मरुतां कन्धरारन्ध्रभाजां
भाङ्कारैर्भीममेतन्निपतति वियतः कौम्भकर्णोत्तमाङ्गम् ॥'

अत्र वाच्यस्य कुम्भकर्णशिरसो भीषणत्वेनोजस्वित्वादुद्धता रचना।

सत्सु गर्जन्त्याः प्रलयकालिकया घनघटाया अन्योन्यसंघट्ट इव चण्डः दारुणः। कृष्णाया द्रौपद्याः क्रोधस्याग्रे वर्तमानो दूतस्तत्प्रयुक्तत्वात्। उत्पातोऽमङ्गलहेतुर्निर्घातवातः वातजन्यो निर्घातः। मेघानां वातानां च मिथश्चण्डध्वनिर्निर्घातः तथास्मत्सिंहनादस्य प्रतिरसितं प्रतिध्वनिस्तस्य सदृशः। अत्र वाच्यः प्रश्नात्मकत्वान्न क्रोधव्यञ्जकः।

अभिनेयार्थं नाटकं प्रबन्धः। तत्र दीर्घसमासेनार्थप्रतिपत्तिविलम्बादर्थोऽभिनयेन झटिति प्रत्याययितुमशक्यः। ततश्चोद्धता रचनाद्यास्तत्प्रतिकूलाः। तथापि भीमस्य वक्तुर्धीरोद्धतस्य रौद्ररस-प्रधानत्वात्ता उपयुज्यन्ते एव। तेन तदालम्बनकरसाभिव्यक्तिरिति भावः। अभिनयः खल्वङ्गादि-क्रियया नायकाद्यारम्भानुकरणम्।

प्रौढेति। वीरचरिते वैतालिकोक्तिरियम्। एतद् भीमं कौम्भकर्णमुत्तमाङ्गं शिरः वियतः खान्निपततीत्यनुषङ्गः। कीदृक्? कन्धरारन्ध्रभाजां तत्प्रविष्टानां मरुतां भाङ्कारैस्तादृशशब्दैः काकुत्स्थ-वीर्यस्य श्रीदाशरथिपराक्रमस्य स्तुतिमिव कुर्वत्। तथा प्रौढस्य महावेगप्रयुक्तस्य छेदस्यानु-रूपेण उच्छलनस्य रयेण वेगेन मिलन् यः सैंहिकेयस्य राहोरुपघातत्रासस्तेनाकृष्टैरश्वैरश्वैस्तिर्यग्व-लितो वक्रतया स्थापितो रविरथो येन तथाभूतेनारुणेनेक्ष्यमाणम्।

अत्रेति। रचना उद्धतैवोचितेत्यर्थः।

'देशः सोऽयमरातिशोणितजलैर्यस्मिन्ह्रदाः पूरिताः
क्षत्रादेव तथाविधः परिभवस्तातस्य केशग्रहः ।
तान्येवाहितशस्त्रघस्मरगुरूण्यस्त्राणि भास्वन्ति मे
यद्रामेण कृतं तदेव कुरुते द्रौणात्मजः क्रोधनः ॥'

अत्र प्रबन्धौचित्यादेव वर्णसमासौ ।

इति भरतसूत्रवृत्तौ साहित्यकौमुद्यां गुणालंकारभेदनिर्णयोनाम
अष्टमः परिच्छेदः ॥

देश इति । अश्वत्थाम्नो वाक्यम् । अहिताः शत्रवः । रामेण जामदग्न्येन ।

अत्रेति । विकटवर्णत्वं दीर्घसमासत्वं चोचितमपि न कृतम् । अभिनयप्रत्यनीकत्वादिति भावः । एवमाख्यायिकायां शृङ्गारेऽपि न मसृणा वर्णादयः । कथायां रौद्रेऽपि नात्युद्धताः । एवमन्यच्च बोध्यम् ।

इति कृष्णनन्दिन्यां साहित्यकौमुदीटीकायाम्
अष्टमः परिच्छेदः ॥

पूर्वत्र लक्षितानलंकारान्दर्शयन् शब्दस्य प्रथमं धीविषयत्वात्तद्गतांस्तावदाह—

'यदुक्तमन्यथा वाक्यमन्यथान्येन योज्यते ।
श्लेषेण काक्वा वा ज्ञेया[1] सा वक्रोक्तिस्तथा द्विधा ॥१॥

तथेति । श्लेषवक्रोक्तिः काकुवक्रोक्तिश्च ।

क्रमेणोदाहरणम्—

'राधे त्वं कुपिता, त्वमेव कुपिता स्रष्टासि भूमेर्यतो
माता त्वं जगतां, त्वमेव जगतां माता न विज्ञोऽपरः ।
देवि त्वं परिहास केलिकलहेऽनन्ता[2] त्वमेवेत्यसौ
स्मेरो वल्लभसुन्दरीमवनमञ्शौरिः श्रियं वः क्रियात् ॥'

अथालंकारान्दर्शयति—पूर्वत्रेत्यादिना । तद्गतान् शब्दनिष्ठान तावदादौ ।

यदुक्तमिति । **वक्त्रान्याभिप्रायेणोक्तं वाक्यं श्रोत्रान्याभिप्रायेण चेद्योज्यते तदा वक्रोक्तिरिति ताभ्यां निर्वाह्येयम् । तथा ताभ्यामुपाधिभ्याम् । वक्रोक्तौ परोक्तेरन्यथाकरणं व्याजोक्तौ तु स्वोक्तेरिति भेदः ।**

राधे त्वमिति । **कृष्णराधयोरुक्तिप्रत्युक्ती । कुपिता जातकोपासीत्यर्थकं कृष्णवाक्यम् । कोः पृथिव्याः पिता त्वमेवेति योजयित्वा श्रीराधा, तत्र भूमेर्यतः स्रष्टासीति हेतुमाह । स्वीकृत्योक्तं भूमेश्चेदहं पिता तर्हि त्वं जगतां तद्वर्तिप्राणिनां माता जननी मत्प्रियात्वादित्यर्थकं कृष्णवाक्यम् । जगतां माता संख्याता त्वमेवेति योजयित्वा सा, तत्र हेतुमाह—त्वदपरो विज्ञो नेति । परिहासे**

---

१. विज्ञेया क ।   २. केलिकलहानन्ता ख ।

अत्र कुपितेति सभङ्गेण श्लेषेण मातेत्यभङ्गेन ।

'अतसीकुसुमश्यामं शतसीमन्तिनीवृतम् ।
सतृष्णं कृष्णमालोक्य हृदयं न विदूयते[1] ॥'

अत्रैकया निषेधार्थे प्रयुक्तो नञ्परया च काक्वा दूयत एवेति विध्यर्थे घटितः ।

वर्णसाम्यमनुप्रासः

स्वरवैसादृश्येऽपि व्यञ्जनसादृश्यं वर्णसाम्यम्, यदि स्वरसादृश्यमपि स्यात् तर्हि प्रकर्षायैव तत् । यस्योच्चारणेन पूर्वानुभवसंस्कारोद्बोधस्तेन साम्यमिह विवक्षितम् । ततश्च वर्गेषु प्रथमद्वितीययोस्तृतीयचतुर्थयोश्च साम्यम् । नणयोः शसयोश्च रसाद्यनुगुणः प्रकृष्टो न्यासोऽनुप्रासः ।

तं विभजति—

छेकवृत्तिगतो द्विधा ।

त्वमनन्तापरिच्छिन्नाजेयेति यावदित्यर्थमप्राप्तोत्तरेण तेनोक्तम् । अनन्ता निर्जितोऽप्यनम्रस्त्वमेवेति योजयित्वा साह—त्वमेवेति । अर्थादनन्ता । ततश्चाप्राप्तोत्तरः शौरिर्विहस्य नतिं चकार, जयिनी श्रीराधा च प्रसादमिति भावः ।

अतसीति पद्यं चन्द्रावल्याह ।

अत्रेति । एकया चन्द्रावल्या । परया पद्मया ।

वर्णेति । स्पष्टम्[2] । स्वरेति । यमकाद् व्यावृत्तिः । तत्र स्वरसादृश्याङ्गीकारात् । यदीति । अतएव व्यञ्जनसाम्यं हित्वा वर्णसाम्यमुक्तम् । यस्योच्चारणेत्यादि । तेन शंकरः शङ्खनादः, मन्दो गन्धवहः, रेणुर्धेनुततेः, कंसवंशनिसूदन इत्यादावनुप्रासः सिद्धः । रङ्कुसंघः प्रयात्ययमित्यादौ तु न । रसादीति । अनुशब्दोऽनुगमार्थः प्रशब्दः प्रकर्षार्थः । आशब्दो न्यासार्थः । अनुगमनं रसादेः । प्रकर्षश्च सहृदयावर्जकत्वेनेति ।

तमिति । रसविषयव्यापारो रसव्यञ्जनं तद्वतो तेन, छेकेन प्रयोज्यत्वात्तस्यावृत्तेरानुगुण्यात् ।

---

१. न विद्यते क । २. 'स्पष्टम्' इति क, ख पुस्तकयोः नास्ति ।

छेको विदग्धः। रसविषयव्यापारवती वर्णरचना वृत्तिः। तत्प्रयोज्यत्वात्तदनुगत्वाच्च छेकानुप्रासो वृत्त्यनुप्रासश्चेति द्विविधः सः।

तयोः स्वरूपमाह—

सोऽनेकस्य सकृत्पूर्वः,

अनेकस्यार्थात् व्यञ्जनस्य सकृत्साम्यं छेकानुप्रासः।

उदाहरण—

'जहार हरिणाक्षीयं कुन्देन्दुमधुरस्मितैः।
कुण्डलोज्ज्वलगण्डश्रीर्विदयं हृदयं मम॥'

अत्रासंयुक्तयोः संयुक्तयोश्चानेकस्य सकृत्साम्यम्।

एकस्याप्यसकृत्परः॥३॥

एकस्यानेकस्य च व्यञ्जनस्य द्विर्बहुकृत्वो वा साम्यं वृत्त्यनुप्रासः।

उदाहरणम्—

'मुक्ताहारं दधदुडुचक्राकारं सारं गोपीमनसि मनोजारोपी[1]।
कोपी कंसे खलनिकुरम्बोत्तंसे वंशरङ्गी दिशतु रतिं नः शार्ङ्गी॥'

अत्रैकस्यानेकस्य च व्यञ्जनस्य द्विः साम्यम्।

तयोरिति। सकृदेकवारम्।

जहारेति। कृष्णः सुबलमाह। हरिणाक्षी श्रीराधा विदयं निर्दयं यथा स्यात्तथा।

अत्रेति। असंयुक्तयोर्हकाररेफयोरनेकस्य साम्यम्। संयुक्तयोश्च न्दयोर्ण्डयोश्चानेकस्येति द्वेधोदाहृतिः।

एकस्यापीति। असकृदनेकवारम्।

मुक्तेति। श्रीरूपोक्तिः। अत्रेति। एकस्य रस्य पस्य च। अनेकस्य नसयोः संयुक्तयोः। असंयुक्तानेकस्य तूह्यम्।

---

१. मनीजारोपी क।

'मुकुन्दनन्दीश्वरमन्दिरस्य तवेन्दिराभिः प्रतिबिम्बितस्य ।
यदा पदाब्जं प्रमदा ह्युपास्ते तदा सदानन्दतया चकास्ति ॥'

अत्रानेकस्य च व्यञ्जनस्य बहुकृत्वः साम्यम् ।

एकस्य सकृत्साम्येऽपि केचिद्वृत्तिमिच्छन्ति । यथा—'व्याधूतचूताङ्कुर' इति ।

सा च वृत्तिः—

माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैरुपनागरिकेष्यते ।
ओजः प्रकाशकैस्तैस्तु परुषा कोमला परैः ॥३॥

परैरुभयोः शेषैर्वर्णैः । तेन त्रिधा वृत्त्यनुप्रासः । क्रमेणोदाहरणम्—'सन्ततं तन्तनोति' इत्यादि [पृ० १४१], 'उद्धृत्तमत्तदैत्येन्द्र' इत्यादि [पृ० १४१], 'लोलालिमाला'—इत्यादि [पृ० १३३] च ।

केषांचिदेता वैदर्भीप्रमुखा रीतयो मताः ।

एतास्तिस्रो वृत्तयः क्रमाद्वैदर्भीगौडीपाञ्चाल्याख्या रीतयः कैश्चिदाख्यायन्ते । रीतिर्नामाङ्गसंस्थानविशेषवद् गुणहेतुको वर्णविन्यासविशेषः । सा च गुणग्रन्थग्रस्तत्वादिह न लक्षिता ।

मुकुन्देति । कुरुक्षेत्रे कृष्णं राधाह । इदं च कदाचिद् व्रजस्थान् सर्वान् विस्मृत्य[1] सखीभिर्द्वारवत्यामयं निनीषेदिति शङ्कया प्रागेवोक्तम् । इन्दिराभिस्तत्समाभिर्मत्सखीभिर्गोपीभिर्वेति ।

अत्रेति । अनेकस्य नकारदकाररूपस्य संयुक्तस्य, एकस्य दस्य । एकस्येति । केचित् श्रीजयदेवादयः । वृत्तिं वृत्त्यनुप्रासमित्यर्थः । यथेति । अत्रैकस्य तकारस्य सकृत्साम्यम् ।

वृत्तिं विभजते—सा चेति । तैर्वर्णैः माधुर्यौजःप्रकाशकयोर्वर्णयोः ।

तेन त्रिधेति । उपनागरिकानुप्रासः परुषानुप्रासः कोमलानुप्रासश्चेति त्रिविध इत्यर्थः । प्रथमं केचिन्मधुरानुप्रासमाख्यान्ति ।

केषांचिदिति । वामनाद्युपजीव्यानां मुनीनां मते । गुणहेतुक इति । बहुव्रीहिस्तत्पुरुषो वा स्वार्थे कः ।

---

१. विस्मृत्येति क, ख पुस्तकयोः नास्ति ।

शाब्दस्तु लाटानुप्रासो भेदे तात्पर्यमात्रतः ।

शब्दः पदं प्रातिपदिकं च । तद्गतः न तु वर्णनिष्ठः, तुर्भिन्नक्रमे । शब्दार्थयोरभेदेऽपि तात्पर्यमात्रतो भेदे सतीति यमकाद्भेदः । लाटजनप्रियत्वाच्च लाटानुप्रासः । लाटोऽविदग्धः ।

पदानां स पदस्यापि,

स लाटानुप्रासः ।

क्रमेणोदाहरणम्—

'नास्ति चित्ते हरिर्यस्य तस्य तीर्थाटनं मुधा ।
अस्ति चित्ते हरिर्यस्य तस्य तीर्थाटनं मुधा ॥'

अत्र हरिविमुखस्य तीर्थाटनादपि न किंचित्फलम् । तत्संमुखस्य तु विनापि तस्मात्तत्फलमस्तीति तात्पर्यं भिद्यते ।

'प्रियाविरहिते चित्ते सत्यमिन्दुर्दवानलः ।
दवानलः क्व वा तापमीदृशं तनुतेतराम् ॥'

अत्र प्रथमं दवानलपदं विधेयपरम्, द्वितीयं त्वनुवादपरमिति । एतं पदानुप्रासमन्येऽपि मन्यन्ते ।'

वृत्तावन्यत्र तत्र वा ॥४॥

नाम्नः स वृत्त्यवृत्त्योश्च,

एकस्मिन्समासे भिन्ने वा समासे समासासमासयोर्वा नाम्नः प्रातिपदिकस्य सारूप्यं स लाटानुप्रासः ।

एवं वर्णानुप्रासं निरूप्य शब्दानुप्रासं निरूपयति—शाब्दस्त्विति । पदं प्रातिपादिकं चेति । शब्द्यते प्रकाश्यतेऽनेनेति व्युत्पत्तेः ।

शब्दार्थयोरभेदेऽपीति । तेन यमके नातिव्याप्तिः तत्र भिन्नार्थकत्वाङ्गीकारात् । अविदग्धो लाटः ।

नास्तीति । कश्चितत्त्वविदाह । तस्य तीर्थाटनाद्विनापि तत्फलं तीर्थाटनफलम् ।

प्रियेति । उद्धवं हरिराह । दवानलो वनाग्निः ।

पदगतं निरूप्य प्रातिपदिकगतं निरूपयति—वृत्ताविति । वृत्तिः समासरूपा ।

उदाहरणम्—

'हिमकिरणकिरणमधुरा राका राकामृतांशुमुख यदि माम्।
प्रकटितनिजगुण गुणखनिमदहत्तत्ते नमः प्रेम्णे ॥'

अत्रैकस्मिन्समासे किरणयोः साम्यम्, भिन्ने समासे गुणयोः, समासासमासयोस्तु एकयोरिति योज्यम्।

तेनायं पञ्चधामतः ॥५॥

अयं लाटप्रियः। संकलनया त्वनुप्रासस्त्रिधा छेकवृत्तिलाटपूर्वकत्वात्।

'अर्थे सत्यर्थभिन्नानां वर्णानां सा पुनः श्रुतिः।
यमकं पादतद्भागवृत्ति तद्यात्यनेकताम् ॥६॥

भिन्नार्थस्य स्वरव्यञ्जनरूपस्य वर्णसंघस्य सा पूर्वानुपूर्वीका पुनः श्रुतिर्यमकम् तेन नदीदीन इत्यादौ न प्रसङ्गः। ननु 'समरसमरसोऽयम्' इत्यादावेकस्य वर्णसंघस्यार्थवत्त्वम् अपरस्य तु निरर्थकत्वम्। 'न दीनदीप्तिः' इत्यादावुभयोश्च। ततः कथमर्थभिन्नानामिति

काचिन्मानिनी कृष्णमाह—हिमकिरणेति। हे राकामृतांशुमुखपूर्णचन्द्रानन, हे प्रकटितनिजगुण, राका पूर्णचन्द्रा निशा यदि गुणखनिमपि मामदहत् तर्हि ते प्रेम्णे नमः। कीदृशी राका। हिमकिरणस्य चन्द्रस्य किरणैर्मधुरा रुचिरापि। अत्र प्रकटितनिजगुणेत्यत्र गुणशब्दो विपरीतलक्षणया बोधं प्रतिपादयति, दोषश्च स्नेहशून्यत्ववञ्चकत्वादिः। गुणखनिमपि मामित्यत्र सौन्दर्यप्रेमादिगुणविशिष्टायां मयि तवेदृशी वञ्चना मद्विपरीतायां वा कीदृशी सेति भावः।

यमकं लक्षयति—अर्थे सतीति। कीदृशानाम्। सति संभवत्यर्थे। अर्थभिन्नानां पृथगर्थानाम्। अयमर्थः—यद्यर्थः सम्भवेत्तर्हि द्वावपि वर्णसंघौ भिन्नार्थकौ स्याताम्, यदि न सम्भवेत्तर्हि तौ द्वावपि निरर्थकौ, यदि चैकस्यैव संभवेत्तदा सार्थकनिरर्थकौ ताविति। सा पुनः श्रुतिरिति श्रुतिसाम्यं प्रयोजकम्। तेन वर्णभेदेऽपि श्रुत्यैकत्वे यमकम्।

यथा—

'भुजलता जडतामयतेतराम्' इत्यत्र लकारडकारयोः। यदुक्तम्—

'रलयोर्डलयोश्चैव शसयोर्बवयोस्तथा।
वदन्त्येषां च सावर्ण्यमलंकारविदो जनाः ॥' इति।

युक्तं भाषितुमित्यत उक्तम्—अर्थे सतीति। तच्च यमकं पादतद्भागावृत्तिरूपतया पादाद्यावृत्तेश्च बहुविधतया प्रभूतभेदम्[1] ॥

अस्य दिङ्मात्रमुदाह्रियते—

'मनो जहार प्रति मा कृतकोपा नितम्बिनी।
मनोजहारप्रतिमा ममासौ वामवीक्षितैः ॥'

'अहो अहोभिर्न कलेर्विदूयते सुधासुधारामधुरं पदे पदे।
दिने दिने चन्दनचन्द्रशीतलं यशो यशोदातनयस्य गीयते ॥'

'मदनसंगरसङ्गरसाकुला भव विहारिणि हारिणि माधवे।
कुसुमराजिविराजि विभूषणा मधुपरागपरागपराचिता ॥'

'रोषेण शश्वन्न हि नागरी गरीयसा कठोरत्वमुपेत्यभात्यभा।
विहाय मानं हरिमानयानया धिया हि सर्वं भवतीहितं हितम् ॥'

तेन पूर्वानुपूर्वीकत्वेन। एकस्य प्रथमस्य। अपरस्य द्वितीयस्य।

प्रभूतेति। प्रचुरप्रकारामित्यर्थः। तस्येति। तस्य यमकस्य।

मन इति। कृष्णः सुबलमाह। असौ नितम्बिनी मम मनः वामवीक्षितैर्जहार। कीदृशी। मा मां प्रति, कृतकोपा सरोषा, मनोजहारस्य कन्दर्पमुक्ताहारस्य प्रतिमा तुल्या। तद्वत्स्पृहणीयेत्यर्थः। अत्र प्रथमपादस्य तृतीयपादेन यमनम्। एवमस्य द्वितीयेन चतुर्थेन च यमने भेदद्वयम्। द्वितीयस्य तृतीयेन चतुर्थेन चेति द्वौ। तृतीयस्य चतुर्थेनेत्येकः। प्रथमस्त्रिष्वपीत्येक इति। प्रथमस्य चतुर्थेन द्वितीयस्य तृतीयेनेति। प्रथमस्य द्वितीयेनेति तृतीयस्य चतुर्थेनेति च द्वाविति पादजा नवभेदाः। उदाहृतयो मृग्याः।

अथ पादभागजा भेदाः दर्श्यन्ते। तत्रादिमध्यान्तगतास्त्रयो भेदाः क्रमेण दर्शयन्ते।

अहो इति। अहो प्राणिनः कलेरहोभिर्दिवसैर्न विदूयते। यशोद तनयस्य यशः कीर्तिर्गीयते। पदे पदे प्रतिशब्दम्। दिने दिने अहोरात्रम्। सदेत्यर्थः।

मदनेति। राधां विशाखाह। हे विहारिणी राधे, माधवे वसन्ते, मदनसंगरस्य कामयुद्धस्य, सङ्गे प्राप्तौ यो रसः स्वादस्तेनाकुला व्याप्ता भव। कीदृशी सती कुसुमराजिभिः पुष्पश्रेणीभिः, विराजीणि भूषणानि यस्याः सा। मधुपानां रागो यत्र तथाभूतैः सुगन्धिभिः परागैः पराचिता व्याप्ता च सती। अयं वसन्तस्तव मानं दास्यत्येवेति विज्ञाय विमाना त्वमादितो हरिमनुग्राहीति भावः।

रोषेणेति। मानवतीं प्रति दूत्याह। गरीयसा रोषेण शश्वत्कठोरत्वमुपेत्य नागरी न हि भाति

---

१. प्रभूततमभेदम् क, ख।

'तारावली वेणुभुजङ्गमेन तारावलीलागरलेन दष्टा ।
विषाणिका नादपयो निपीय विषाणिकामं द्विगुणीचकार ॥'

'इन्दुनीलमधुरप्रभं जनं हासयन्तमनसः प्रभञ्जनम् ।
बिभ्रतं पुरटपिङ्गलं पटं धेहि चित्त नवनीतलम्पटम् ॥'

'मम त्वयाममत्वया नवे हितं न वेहितम् ।
स्मराधिके स्म राधिके चर क्षमां च रक्ष माम् ॥'

'न लवोऽपि लवेन च व्यथायाः परिवृद्धौ वितनोति यस्य सर्वः ।
न खलो नखलोगतो मतो न्यस्तनवद्धाः[1] किल केन संत्यजेयुः ॥'

यस्मादभा कान्तिशून्या ततो मानं विहाय निजान्तिके हरिमानय । अनया धिया तव सर्वं समीहितं चेष्टितं सुखप्रदं भवति इति त्रयो भेदा दर्शिताः ।

अथ प्रथमपादादिभागस्य द्वितीयपाददिभागेन, तृतीयपादादिभागस्य चतुर्थपादादिभागेन च यमनं दर्शयति—तारावलीति । कृष्णं प्रति दूत्युक्तिरियम् । तारावली काचित् तार उच्चध्वनिस्तद्रूपाया अवलीला मानावज्ञाकारिणी लीला तद् गरलं यस्य तेन । विषाणिका शृङ्गिका । पयः क्षीरम् । निपीयेति 'पीङ् पाने' इत्यस्य ल्यपि रूपम् ।

प्रथमपादान्तस्य द्वितीयपादान्ते तृतीयपादान्तस्य चतुर्थपादान्ते च यमनं दर्शयति—इन्द्रनीलेति । स्वचित्तं प्रति श्रीरूपोक्तिः । हे चित्त, नवनीतलम्पटं नन्दसूनुं धेहि स्वस्मिन् धारय । कीदृशम् ? जनं हासयन्तम् । नवनीतचौर्यचातुर्येणेति शेषः । अनसः शकटस्य दैत्याविष्टस्य प्रभञ्जनं प्रकर्षेण भञ्जकम् ।

प्रतिपादयमकमाह—मम त्वयेति । कोपावेशात् सादरवचनां श्रीराधां हरिराह । हे राधे, त्वया मम न हितं न वा ईहितं वाञ्छितं भवति । कथं भूतया । अममत्वया मयि ममत्वरहितया । त्वं चेन्मां स्वीयं वदसि तदेव मे सुखम् । यदि तु स्वं मदीयं वदसि तदा मम दुःखं महदेवेति भावः । तर्हि मामुपेक्षस्वेति चेत्तत्राह । हे नवे, नित्यनूतनत्वान्मच्चेतो लोभयसीत्यर्थः । अथ चेतः पीडयसि चेत्याह । स्मरेण स्मृत्या कामेन वाधि र्मनः पीडा यतः । हे तथाभूते, स्मेति पादपूर्तौ । तस्मात् क्षमां चर प्राप्नुहि, मां च रक्ष पालयस्व । सङ्गामृतदानेनेत्यर्थः ।

भक्तिद्वेषी खलः प्रहेय इति कविकर्णपूरोऽनुशास्ति—न लव इति । लवेन छेदेन । सर्वो

---

१. न्यस्तबद्धाः ख ।

एवमादिवैचित्र्यसहस्रभागिदं क्लिष्टकाव्यमिति कृत्स्नं न विवृतम् ।

गद्येषु तु निरन्तरैवावृत्तिः । यथा—'जय जय सच्चिदानन्दघनघनघटामेदुरदुरवगाहलील—' इत्यादि ॥

'वाच्यभेदेन भिन्ना यद्युगपद्भाषणस्पृशः ।
श्लिष्यन्ति शब्दाः श्लेषोऽसावक्षरादिभिरष्टधा ॥७॥

अर्थभेदेन शब्दभेद इति न्यायात् तेन भिन्ना अपि शब्दा यदि युगपदुच्चारणेन श्लिष्यन्ति त्यजन्ति स्वरूपभेदं तदा श्लेषः । स च वर्णप्रकृतिप्रत्ययलिङ्गवचनविभक्तिपदभाषाभिरष्टविधः ॥

उदाहरणम्—

'मनस्तुदन्ती क्षणदावतेष्टा विधौ विरुद्धे तमसि प्रवृद्धे ।
तस्मिन्प्रवृद्धे हरितः प्रसादं धन्या लभन्ते तमसि प्रणष्टे ॥'

लोकः न खलो मतः खलोऽन्यो न मतः । नखलोमतुल्य इत्यर्थः । अबद्धाः स्वतन्त्राः ।

एवमिति । इदं यमकं क्लिष्टं काव्यं येन तत् । प्राचीनग्रन्थान्तः[1] यमक भेदा मृग्या इत्यनुशयः ।

गद्येष्विति । निरन्तरा अव्यवधानैवेति । तेन पद्येषु सव्यवधानाऽऽवृत्तिरित्यर्थः । जय जयेति यमलार्जुनयोः स्तुतिः ।

वाच्यभेदेनेति । 'सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदर्थं गमयति' इति नियमेन काव्ये स्वरभेदानादराद्यावन्तोऽर्थास्तावन्त एव शब्दा एक प्रयत्नोच्चार्याः । ततश्च युगपन्नाना शब्दोच्चारणेऽपि तेषां भेदो नोपलभ्यते । अत्राभिधाया अनियमान्न व्यञ्जनावकाशः । तस्मान्नानार्थेषु श्लिष्टेषु यत्र प्रकरणादिकं युगपदवतरति नावतरति वा तत्र श्लेषः । यत्र क्रमेण तत्रावृत्तिः[2] तत्र व्यञ्जनेति प्रागुक्तं रहस्यं न विस्मर्तव्यम् । अक्षरं वर्णः । प्रत्ययग्रहणेनैव विभक्तेः प्राप्तौ पृथगुल्लेखश्चारुताधिक्यात् । विभक्तिः सुप्तिङ् । भाषा संस्कृतप्राकृतरूपा तत्र । सभङ्गेऽष्टावमी भेदा । अभङ्गे तु भेद एको वक्ष्यते 'भेदाः भावात् प्रकृत्यादेः' [पृ० १५५] इत्यादिना ।

निष्कामकर्मनिष्ठः कश्चिद्विष्णुभक्तः सकामकर्मनिष्ठगोष्ठ्यां स्वसमानवासनमन्यं प्रति श्लेषेण निजमतं वर्णयति—मनस्तुदन्तीति । तत्र प्रथमोऽर्थः । विधौ चन्द्रे विरुद्धे सति तमसि च ध्वान्ते प्रवृद्धे सति दूष्यापि क्षणदा उत्सवदायितयान्वर्थसंज्ञापि रात्रिर्मनस्तुदन्ती स्यात् । अथ तस्मिन् विधौ

---

१. ग्रन्थान्ते क, ख । २. 'यत्रैकत्र' इत्यधिकं पठ्यते क पुस्तके ।

अत्र विधावित्युकारेकारयोः सारूप्याद्वर्णभेदः। क्षणदा ईक्षणदाश्चेति दात्रदापोः सारूप्यात् प्रकृतिभेदः। तुदन्तीति शतृङीबन्तत्वात् ङ्यन्तत्वाच्च प्रत्ययभेदः[1]। इष्टेति स्त्रीलिंगैकवचनान्तत्वात्, इष्टा इति पुंलिङ्गबहुवचनान्तत्वाच्च लिङ्गभेदो वचनभेदश्च। हरित इति प्रथमान्तत्वात् पञ्चम्यन्तत्वाच्च विभक्तिभेदश्चेति षोढा ॥

'चमूरुवसतिं प्राप्ता रम्यारामममनोरमा।
तेन सीता च लङ्का च सदृशी ददृशे[2] तदा ॥'

अत्र प्रकृतिप्रत्ययरूपयोः पदयोः सारूप्यात्पदश्लेषः।

'महच्चित्तं तमपरं गौरवेण महारिहम्।
सामदेहं मोहहरं सन्तं भज उमावरम् ॥'

प्रवृद्धे तमसि च प्रणष्टे सति धन्या हरितो दिशः[3] प्रसादं निर्मलतां लभन्ते इति।

अथ द्वितीयश्च—विधौ विष्णावर्पितकर्मविधाने कुसङ्गेन विरुद्धे तमस्यज्ञाने च प्रवृद्धे सति इष्टा अपि पदार्थाः सुहृत्प्रमुखा ईक्षणदा नेत्रखण्डकाः सन्तो मनस्तुदन्ति व्यथयन्ति। अथ तस्मिन् विधौ प्रवृद्धे सत्सङ्गेन प्रवर्त्तमाने तमसि च प्रणष्टे सति हरितो विष्णोः सकाशात् धन्या जनाः प्रसादं चित्तशुद्धिमनुग्रहं च लभन्ते इति।

चमूरिति। कवेरुक्तिः। तेन हनूमता चमूरूणां मृगाणां वसतिं प्राप्ता। रम्या सुन्दरी रामस्य मनोरमा च सीता चमूनामुरुवसतिं प्राप्ता। रम्यैरारामैर्मनोरमा च लङ्का।

महच्चित्तमिति। शिवपक्षे संस्कृतम्। उमावरं भजे। कीदृशम्, महतां प्रचेतः प्रभृतीनां चित्तं यस्मिन्। न परा उत्कृष्टा यस्मादीश्वरत्वात्तमपरम्। गौरवेण नन्दिवृषभगर्जनेनैव महतोऽरीन् शत्रुन् हन्ति संहरतीति तथा तम्। आमदेन सहिता इहा यस्य तं सामदेहम्। सानन्दचेष्टितमित्यर्थः। मोहहरं मोहघ्नम्[4]। शोभावितर्कशून्यान् नग्नान् भस्मलिप्ताङ्गान् रावति स्वीयान् वदतीति तम्। तपस्विप्रियमित्यर्थः। अतः सन्तं समीचीनम्।

अथ विष्णुपक्षे प्राकृतम् मावरं। भवान् भजतु। कीदृशम् मह मह्यं चित्रम्। अप्राकृतात्यद्भुतरूपत्वाच्चित्रवद्विस्मयजनकमित्यर्थः। तमसः प्रकृतेः परः गौरवेण गुरुत्वेन सर्वराध्यतया हेतुना महारिहं महे राजसूययज्ञेऽर्घ्यमर्हणयोग्यम्। सामदेहं श्यामं विग्रहम्। मोहमज्ञानं हरति निवर्तयतीति तम् ॥

---

१. तुदन्तीत्यारम्य प्रत्ययभेदः पर्यन्तं क पुस्तके नास्ति। २. तदृशे क, ख।
३. प्रसादं पदात्पूर्वं कर्थ्यं:' पदमधिकं पठ्यते क, ख पुस्तकयोः। ४. मोहघ्नः क, ख।

अत्र संस्कृतप्राकृतयोः सारूप्याद् भाषा श्लेषः । एवमष्टधा ॥

भेदाभावात्प्रकृत्यादेर्भेदोऽपि नवमोमतः ।

इहापिर्भिन्नक्रमे ।

यथा—

'कलाभिर्निभृतः श्रीमान्राधया समलंकृतः ।
दीव्यत्कुवलयः सोऽयं विधुर्विजयतेतराम् ॥'

अत्र प्रकरणादिनियमाभावात् द्वावप्यर्थौ वाच्यौ । एष शब्दश्लेषः सभङ्गाभङ्गतया द्विविधः । पूर्वोक्तलक्ष्याद् बोध्यः ॥

ननु सभङ्गः शब्दश्लेषः जतुकाष्ठन्यायेन शब्दयोस्तत्र श्लेषणात् । अभङ्गस्त्वर्थश्लेष एव । तत्र शब्दभेदाभावादेकवृन्तगतफलद्वयन्यायेनार्थयोरेव श्लेषणात्, मैवम्, अर्थभेदे शब्दभेदस्वीकरात् । शब्दस्यैव वैचित्र्यबोधोपायतायां प्राधान्यात् । अर्थमुखप्रेक्षितयार्थालंकारत्वे त्वनुप्रासादेरपि तत्प्रसङ्गः । तस्यापि रसादिपरत्वे तत्प्रेक्षित्वात् । तस्मादयमत्र

भेदाभावादिति । यत्र पूर्वोक्तभेदकाभावेऽप्यर्थद्वये तात्पर्यं दृश्यते स नवमोऽपि प्रकारः श्लेषस्यैवेति भावः । विधुः श्रीकृष्णश्चन्द्रश्च । तत्राद्यपक्षे कलाभिश्चतुःषष्ठिसंख्याभिर्वैदग्धीभिः, श्रीमान् संपत्तिमान्, राधया वृषभानुजया विभूषितः, कुवलयं भूमण्डलम् । द्वितीयपक्षे—कलाभिः षोडशभागैः शोभावान् । राधया तन्नाम्न्या तारया । कुवलयं नीलोत्पलम् ।

अत्रेति । यत्र प्रकरणादिभिरभिधाया नियमनं तत्रैकोऽर्थो वाच्यो द्वितीयोऽर्थो व्यङ्ग्यः । इह तुस्तस्य नियमनाभावात् द्वावप्यर्थौ वाच्यौ भवतः । एकोऽभिधया बोध्यः, परस्तु तत्तुल्यया निरूढलक्षणयेति भावः । सभङ्गाभङ्गतयेति । सभङ्गोऽष्टविधः । अभङ्गस्तु नवम इत्यवधेयम् ॥

आक्षिपति—नन्विति । तत्र शब्दश्लेषे । परिहरति—मैवमिति । शब्दस्यैवेति । वैचित्र्यं ह्यलंकारः । कलाभिर्निभृत इत्यत्र शब्दा एव तादृशास्तद्बोधयन्तीति स एषः अभङ्गशब्दश्लेषो मन्तव्यः । शब्दश्लेषणरूपं च वैचित्र्यमत्राप्यस्त्येव सहृदयहृदयैकवेद्यम् । अर्थभेदे शब्दभेद इति न्यायस्य प्रामाण्यानङ्गीकारे त्वाह—अर्थमुखेति । अर्थानुसंधानसापेक्षतयार्थालंकारस्वीकारे त्वित्यर्थः ।

भेदः। यत्र शब्दपरिवृत्तौ श्लेषत्वं भज्यते स शब्दश्लेषः। यथा पूर्वोक्तः। एवं नवविधः। यत्र तु न भज्यते स पुनरर्थश्लेषः।

यथा—

'विलोलसंफुल्लकदम्बमालः समुल्लसन्मञ्जुलबर्हिबर्हः।
अशेषसंतापहरौ जनानां कृष्णश्च मेघश्च समुज्जिहीते॥'

अत्र कदम्बादिशब्दपरिवृत्तावपि न श्लेषत्वहानिः॥

तच्चित्रं यत्र वर्णानां खड्गाद्याकृतिहेतुता ॥८॥

यत्र संनिवेशविशेषेण स्थिता वर्णाः खड्गचक्राद्याकारान् प्रकाशयन्ति तच्चित्रं नाम।

तत्र खड्गबन्धो यथा—

'वीणावाणी सुन्दरीवृन्दमुख्या ख्याता सद्भिर्लक्षणैः कुञ्जदेवी।
वीक्षाञ्चक्रे माधवं भावसारा रासोल्लासात्कापि सं[1]फुल्लनीवी॥'

चक्रबन्धः यथा[2]—

'गन्धाकृष्टगुरुन्मदालिनि वने हारप्रभातिप्लुतं
संपुष्णन्तमुपस्कृताध्वनि यमीवीचिश्रियो रञ्जकम्।
सद्यस्तुङ्गितविभ्रमं सुनिभृते शीतानिलैः सौख्यदे
देवं नागभुजं सदा रसमयं तं नौमि कञ्चिन्मुदे॥'

तत्प्रसङ्गोऽर्थालंकारत्वप्राप्तिः। तस्याप्यनुप्रासादेरित्यर्थः। रसादिपरत्वे रसाद्युत्कर्षाभिप्रायप्रयोज्यत्वे। तत्प्रेक्षित्वादर्थमुखप्रेक्षित्वात्। स्वमते शब्दार्थश्लेषयोर्विवेकमाह—तस्मादयमत्रेत्यादिना।

तच्चित्रमिति। स्पष्टम्[3]

ननु वर्णानां कथं खड्गाकारता तत्राह—संनिवेशेति। लिखितवर्णानां तथात्वात्तेन सहाभेदोपचारेण खड्गादिभेदानां वर्णाश्रयत्वम्। अतश्चित्रं शब्दालंकारः।

वीणावाणीति। कापि गोपी माधवं वीक्षांचक्रे। कीदृशी। वीणाध्वनिरिव वाणी यस्याः सा। लक्षणैः पद्मिनीत्वगमकैः ख्याता। भावेन प्रेम्णा सारा श्रेष्ठा। रासोल्लासाद्धेतोः संफुल्लनीवी। शिथिलाम्बरेत्यर्थः। अत्र बन्धनिर्माणं प्राचीनानुसारेण विधेयमिह गौरवभयान्न लिखितम्॥

गन्धाकृष्टेति। तं कञ्चिद् देवं नौमि स्तौमि। क्व वने। यमीवीचिश्रियः कालिन्दीतरङ्गशोभाया रञ्जकम्। स्वनखाधरपीताम्बरहारकुण्डलमुकुटकान्त्येति भावः। नागौ सर्पाविव भुजौ यस्य तम्। अन्यत्स्फुटार्थम्।

---

१. तं फुल्ल° इति क, ख। २. यथा पदं क, ख पुस्तकयोः नास्ति।
३. स्पष्टमिति क, ख पुस्तकयोः नास्ति।

स्तव्यकविनाम[1]गर्भमिदं चित्रम् ॥

पद्मबन्धः —

'कलवाक्य सदालोक कलोदार मिलावक ।
कवलाद्याद्भुतानूक कनुताभीर बालक ॥'

सर्पबन्धः—

'रासे सारङ्गसंघाचितनवनलिनप्रायवक्षस्थदामा
बर्हालंकारहारस्फुरदमलमहारागचित्रे जयाय ।
गोपालो दासवीथी ललितहितरवस्फारहासः स्थिरात्मा
नव्योऽजस्रं क्षणोपाश्रित विततबलो वीक्ष्य रङ्गं बभासे ॥'

सर्वतोभद्रः—

'धारासाररसा[2] राधा रासलास्यस्य लासरा ।
सालाकाररकालासा रस्यरम्यस्य रस्यर ॥'

स्तव्येति । 'कृष्णस्तुतिरसौ रूपविरचिता' इत्यन्तर्मण्डलाभ्यां निसरति ॥

भगवतः साक्षात्कृतिं श्रीरूपः प्रार्थयति—कलवाक्येति । हे आभीरबालक नन्दगोपात्मज, मिल । प्रत्यक्षो भवेत्यर्थः । केन ब्रह्मणा, नुतः स्तुतः । कवलाद्यैः कवलवेत्रविषाणैरद्भुतः, अनुगतोऽनुवर्ती उः शिवो यस्य । हे तथाभूत हे अवक रक्षक । कलाभिर्वैदग्धीभिरुदार सुखप्रद । कलावतारैः श्रेष्ठ इति वा । 'उदारो दातृमहतोः' इत्यमरः । सत्सु सद्भिर्वा लोको यस्य हे तथाभूत । हे कलवाक्य मधुरोक्तिक ।

रास इति । गोपालः श्रीगोविन्दः । रासे रङ्गं वीक्ष्य जयायोत्कर्षाय बभासे दीप्तिं चक्रे । सारङ्गसंघैरलिवृन्दैराचितं व्याप्तं नवनलिनप्रायं वक्षस्थं दाम माल्यं यस्य सः । रासे कीदृशे । बर्हाणामलंकाराणां हाराणां च स्फुरन्नमलो यो महारागो नीलपीतादिरङ्ग[3]स्तेन चित्रे । दासवीथीनां ब्रह्माद्यधिकृतभक्तश्रेणीनां नभोवर्तिनां ललिते हिते च रवे जयजयेत्यादि[4]शब्दे स्फारो हासो यस्य सः । स्थिरः स्वोत्कर्षश्रुत्याप्यविकृत आत्मा चित्तं यस्य । क्षणे उत्सवे प्रतिक्षणं वा उपाश्रितं विततं तदुचितं बलं पराक्रमो येन सः । अजस्रं नित्यं नव्यो नूतनः ॥

धारेति । राधा चकास्तीति शेषः । कीदृशी ? धारणामासारः संपात इव रस आस्वादो

---

१. कृष्ण-रूप नामगर्भमित्यर्थः । २. साररासा ।
३. °पीतादि विविधरङ्ग ख । ४. च विजयजयेत्यादि ख ।

हारबन्धः—

'कुरु तरुणि रुषं नोपताप प्रपन्ने
भज निजविजनं तारहारस्फुरन्ती।
स्तनकनकनमौ शातपातप्रतप्तां
तनुमनुतनुतां भावशाबल्यवत्ताम् ॥'

गोमूत्रिकाबन्धः—

'स्मराघनाशि भासुरं जराभरातिसादनम्।
मुरारिनाम भावरं परावरात्मसाधनम् ॥'

एष एव बद्धकपाटो मुक्तकपाटोऽश्वगतिश्च।

एवमन्येऽपि भेदाः समुन्नेयाः नीरसत्वाद् ग्रन्थगौरवभयाच्च नात्र कात्स्र्न्येन दर्शिताः ॥

यस्यां सा। अत्र धनुर्ज्यादिशब्दवदयं धारासारशब्दः रसस्य तस्य विशुद्धत्वबोधाय प्रयुक्तः। रासलास्यस्य रासाभिधनृत्यस्य लासरा कान्तिप्रदा। तया विना एव रासविलासो न सिध्यतीति भावः। सालाकाररकालासा साराकारं राति ददाति साराकाररो यः कालो यौवनसमयस्तस्मिन्नास सम्यक् दीप्तिर्यस्याः सा। नेदृक् यौवनच्छविः कस्याश्चिदपीति भावः। हे रस्यरम्यस्य रसेभ्यो हिता रस्या रमिणो रमणपराश्च ये तरुणीजनास्तै रम्य गम्य, हे रस्यर रस्यानास्वाद्यान् राति तेभ्यो ददातीति हे तथाभूत कृष्ण।

कुर्विति। मृदुमानां प्रियां वीक्ष्य हरिराह। हे तरुणि, उपतापप्रपन्ने विरहसंज्वरग्रस्ते मयि रुषं न कुरु क्षमां विधेहि। प्रसन्ना भवेत्यर्थः। प्रसादं प्रार्थयते—निजं यद्विजनं क्रीडामन्दिरं तद् भज प्राप्नुहि। कीदृशी सती। तारः शुद्धमुक्तामयो हारस्तेन स्फुरन्ती दीप्यमाना सती। ततश्च किं तदाह—तव स्तनकनकनगौ मे तनुमनुलक्षीकृत्य भावशाबल्यवत्तां रोमाञ्चस्वेदकम्पसम्पदं तनुताम्। कीदृशीं तनुम्। शातपातः सुखनिपातस्तेन प्रतप्ताम्। निबिडाश्लेषजातस्मरवह्निप्रदीप्तामित्यर्थः। तथा च मानं हित्वा कुञ्जगह्वरं प्रविश्य सङ्गदानेन मां प्रीणयेति।

स्मरेति। निजचित्तं प्रति भूषणकवेरुक्तिः। मुरारिनाम त्वं स्मरेति सम्बन्धः। कीदृशम्। अघनाशि पापनाशकम्। भासुरं तेजस्वि। जराभरस्यातिशयेन सादनं निवर्तकं, यथा पुनरुत्पादो न स्यात्। भावरं भगवत्प्रेमपदं परावरयोरीश्वरजीवयोरात्मनोः साधनं साक्षात्कारि। यथायथं क्रमोऽत्र योज्यः।

एवमन्येऽपीति। छत्रबन्धमुरजबन्ध शृङ्खलाबन्धादयोऽपि बोध्या इति भावः॥

पुनरुक्तवदाभासो विभिन्नाकारशब्दगा ।
एकार्थतेव शब्दस्य,

भिन्नरूपसार्थकानर्थकशब्दनिष्ठः एकार्थत्वेनेव मुखेनावभासमानः पुनरुक्तवदभासः। स च सभङ्गाभङ्गरूपकेवलशब्दनिष्ठः ।

क्रमेणोदाहरणम्—

'त्वद्वाणविषयो नाभूदबलास्त्री रिपुः क्वचित् ।
पारीन्द्रोऽभ्येति कुम्भीन्द्रं मशकं न स कृन्तति ॥'

'द्विषां विकर्तनो भास्वान्बुधः सौम्यः स राजते ।'

तथा शब्दार्थयोरयम् ॥६॥

उदाहरणम्—

'तव तनुशरीरसदृशीं काञ्चनकनकस्य वीरुधं नेक्षे ।
राधे सुमुखि भवत्या मुखवदनं कोऽपि शुभ्रांशुः ॥'

पुनरुक्तेति । 'पार्षदाः पार्षदा यस्य' [पृ० ६१] इत्याद्यर्थान्तरसंक्रमितवाच्येऽतिव्याप्ति-वारणाय ।

विभिन्नेति । विभिन्न आकारः । विजातीयानुपूर्वीक इत्यर्थः । तत्र तु नानुपूर्वी भिद्यते । सार्थकानर्थकेति । वक्ष्यमाणलक्ष्यसमन्वयसूचनम्, मुखेनापातत इत्यर्थः ।

पुनरुक्तवदिति । षष्ठचन्ताद्वतिः । आभासो बोधः । तं विभजति—स चे[1]त्यादिना । केवलेत्यर्थव्यावृत्तिः ।

त्वदिति । वन्दिनः कृष्णं स्तुवन्ति । बलास्त्रे यस्य स्तः स बलास्त्री, तद्भिन्नोऽबलास्त्री, बलास्त्रशून्यो रिपुः क्वचिदपि त्वद्वाणविषयो मा भूत्तादृशं न प्रहरसीति भावः । तत्र दृष्टान्तः—पारीन्द्र इति । पारीन्द्रः सिंहः कुम्भीन्द्रं गजेशम् । अत्र पदभङ्गेन सिद्धस्याबलादिशब्दस्यापाततः पौनरुक्त्यभावः ॥

अभङ्गशब्दनिष्ठमुदाहरति—द्विषामिति । विकर्तनश्छेत्ता, भास्वान् दीप्तः, बुधो विद्वान्, सौम्यः सुन्दरः, स श्रीहरिः । अत्रैते शब्दा अभङ्गा एव विकर्तनभास्वच्छब्दयोर्बुधसौम्यशब्दयोश्च सपर्यायत्वावभासादलंकारत्वसिद्धि ॥

तथेति । अयं पुनरुक्तवदाभासः ।

तवेति । कृष्णोक्तिः । तनु सुकुमारं यच्छरीरं तत्सदृशीं कनकस्य काञ्चिद्वल्लीं नेक्षे

---

१. शब्दस्ये° क, ख ।

अत्रैकस्य शब्दस्य परिवृत्तौ नायमलंकारस्तेन शब्दाश्रयः। परस्य परिवृत्तौ तु स न हीयते तेनार्थाश्रयश्चेत्युभयालंकारता, तथाप्यस्य शब्दालंकारान्तःपातश्चिरन्तनानुसारात्।

'व्रजविपिनाद्बकशत्रौ सह सखिभिर्गृहमुपागते सुमुखि।
विधुरिव सकलकलोऽयं विलसति नन्दीश्वरः पश्य॥'

इत्येवमादावुपमादिरेव मुख्योऽलंकारः श्लेषप्रतिभा तु तदुत्पत्तिहेतुः, साम्यं तु शब्दमात्रेणैव॥

इति श्रीभरतसूत्रवृत्तौ साहित्यकौमुद्यां शब्दालंकारनिरूपणो नाम
नवमः परिच्छेदः।

न पश्यामि। हे राधे हे सुमुखि, भवत्या मुखवन्निष्कलङ्कोऽपि चन्द्रो न भवति। 'तेन तुल्यम्' इति वतिः। अत्रेति। स्फुटम्। उभयालंकारतेति। अत एवोभयालंकारमध्येऽस्य पाठ इति बोध्यम्।

शब्दमात्रसाम्यजातामुपमां केचिच्छब्दालंकारमाहुस्तान्निरस्यति—व्रजेति। स्वसखीं प्रति विद्युन्मञ्जरी वक्ति। कलकलशब्दयुक्तो नन्दीश्वरः। सकलाः कलाः यत्र तादृशो विधुरिति। सकलकलत्वयोरेकशब्दवाच्यत्वेन धर्मेण साजात्यमित्यर्थः।

साम्यं त्विति।

'वदनं कमलमिवैतद्विकसति रुचिरं हरेः सुमुखि'

इत्यादौ क्रियासाम्ये गुणसाम्ये यथोपमा तथा शब्दमात्रसाम्येऽपीत्युपमैवालंकारः, श्लेषस्तु तदुत्पादक इति भावः।

'अनिन्दु सुन्दरी नित्यं गलल्लावण्य विन्दुके'

इत्यत्र विरोधो मुख्यः, श्लेषस्तु तदुत्पादकः। अप्सु प्रतिबिम्बितो य इन्दुस्तद्वत्सुन्दरीति विरोधपरिहारश्च।

इति कृष्णनन्दिन्यां साहित्यकौमुदीटीकायां
नवमः परिच्छेदः।

अथार्थालंकारानाह—

साधर्म्यमुपमा भेदे,

वास्तवे भेदे सत्युपमानोपमेययोः केनचित्समानेन धर्मेण संबन्ध उपमा। भेदग्रहणादनन्वये नातिव्याप्तिः।

पूर्णा लुप्ता च,

उपमानोपमेयसाधारणधर्मोपमा वाचकैः पूर्णा। तत्रोपमानं पद्मादि, उपमेयं मुखादि। साधर्म्यं गुणक्रियारूपं मनोज्ञत्वविकाशादि। उपमावाचकस्त्विववादिः। एष्वेकस्य द्वयोस्त्रयाणां वाभावे लुप्ता।

उपमादिरलंकारो लीलां यस्य निषेवते।
हृदये स्फुरतु श्रीमान्ममासौ श्यामसुन्दरः॥

अथेति। मङ्गलार्थं पुनः कृतं विषयस्य दुष्पारत्वात्।

साधर्म्यमिति। समानोधर्मो ययोस्तौ सधर्माणाव अर्थादुपमानोपमेयौ तयोर्भावः साधर्म्यम्, समानधर्मनिरूपितः संबन्धः, स एवोपमा। समासोत्तरभाववाचितद्धितस्य सम्बन्धावेदकत्वात्। इत्थमेव विवृतं वृत्तौ 'समानेन धर्मेण संबन्धः' इति। अत्र जात्याख्यायामेकवचनम्, अनेकधर्मसम्बन्धस्यैवोपमात्वात्।

भेदग्रहणादिति। तत्रैकस्यैवोपमानोपमेयभावनिरूपणात्।

तां विभजति—पूर्णेति।

साग्रिमा ।[1]

श्रौत्यार्थी च भवेद्वाक्ये समासे तद्धिते तथा ॥१॥

अग्रिमापूर्णा श्रौत्यार्थी चेति द्वेधापि वाक्यादौ संभवात् बोद्धा ।

अयमर्थः—यथेववादिशब्दाः 'तत्र तस्येव' इति सूत्रविहितो वतिश्च यत्परोऽस्ति तस्यैवोपमानत्वावगतिरिति । स चो[2]पमानविशेषणं भवति । तथापि श्रुतमात्रः सन्नुभयगं धर्मं षष्ठीवसंबन्धं बोधयतीति तत्सत्त्वे श्रौत्युपमा । तुल्यादिशब्दः 'तेन तुल्यं क्रिया-चेद्वतिः' इति सूत्रविहितो वतिश्च' यत्रास्ति सा त्वार्थी, साधर्म्यस्यार्थत्वात् ।

तेन तुल्यमिति तुल्यशब्द उपमेयपरः, तस्य तुल्यमित्युपमानपरः, उभयं तुल्यमित्यु भयपरश्चेत्येवं तुल्यादिशब्दानामेकनिष्ठविश्रान्त्यभावादर्थपर्यालोचनया तौल्यप्रतीतेरार्थी-त्वमित्यर्थः । आदिना समसमानसदृशसंमितचौरबन्धुप्रभृतयः ।

पूर्णां विभजति—अग्रिमेति ।

स चेति[3] । यथादिर्वतिश्चेत्यर्थः । श्रुतमात्रः श्रवणगोचर एव सन् । षष्ठीवसंबन्धमिति । यथा 'राज्ञः पुरुषः' इत्यत्र राजशब्दसम्बद्धापि षष्ठी राजपुरुषोभयनिष्ठं सम्बन्धं बोधयति तथोपमान-विशेषणभूतोऽपि यथादिशब्द उपमानोपमेयनिष्ठं धर्मं बोधयतीति ।

यथा—

मुखं पद्मं यथा रम्यं तनुर्वल्लीव सुभ्रुवः ।
कान्तिर्गाङ्गेयवत्तस्याः कृष्ण यां परिपृच्छसि ॥'

अत्र पद्मादिशब्दात्परो यथादिशब्दः ।

तेनेति । चन्द्रेण तुल्यं मुखमाह्लादकमित्यत्रोपमेयपरः । मुखस्य तुल्यं पद्मं सुरभीत्यत्रोपमान-परः । मुखं पद्मं च तुल्यं सुरभीत्यत्रोभयपरस्तुल्यशब्दः । एषु चन्द्रेणेत्यादौ विभक्तिभेदाच्चन्द्रेण सहाह्लादकत्वस्य नान्वयः, किन्तु कथं तुल्यमित्याकाङ्क्षायामार्थ एवेति । तथोभयं तुल्यं सुरभीत्यत्र विभक्तिसाम्येऽपि श्रुतिमात्रान्नोपमानोपमेयभावावगतिः । किन्तु प्रकृताप्रकृतत्वपर्यालोचनयैवेति श्रौत्या भेदः । विश्रान्तिरैकार्थ्येनान्वयबोधजनकत्वेऽन्यनिराकाङ्क्षता । पर्यालोचना प्रकृताप्रकृतानुसंधानम् ॥

---

१. अग्रिमा क । २. सच सचो इति क, ख ।
३. सचसचेति क, ख ।

वाक्यं प्रसिद्धं समासश्च। तद्धितस्तु वतिकल्पब्देशीयबहुच्प्रभृतिः। ततश्च वाक्यगा समासगा तद्धितगा च श्रौती तथार्थी चेति षोढा पूर्णोपमा।

उदाहरणम्—

'भारती सुमधुरा सुधा यथा मोदकृद्विधुरिवास्यमण्डलः।
सौभगं तव हरे पटीरवन्नागरी त्वयि न कानुरज्यते॥'

अत्र क्रमेण श्रौतीत्रयम्। विधुरिवेत्यत्र 'इवेन समासो विभक्त्यलोपश्च' इति समासः पटीरवदिति षष्ठ्यन्तादिवार्थे वतिः॥

'वदनं वरद्युतिसमं सुधांशुना गुरुकुम्भयुग्मसदृशं कुचद्वयम्।
तव सीधुवत्सुखकरं वचः प्रिये तरुणीमणिस्त्वमिह भासि राधिके॥'

अत्र क्रमेणार्थीत्रयम्। सीधुवदित्यत्र 'तेन तुल्यम्' इति वतिः।

वाक्यमिति। प्रसिद्धम्। 'सुप्तिङन्तचयो वाक्यं क्रिया वा कारकान्विता' इत्यादौ। समासश्च प्रसिद्धः पदैक्यं समासोन्वय इत्यादौ। तथार्थी चेति। यथा श्रौती त्रिविधा तथा वाक्यगार्थीत्यर्थः[1]।

भारतीति। कृष्णं प्रति सखीनां वाक्यम्। भारती वाक्। पटीरं चन्दनम्। अत्र भारत्यास्यमण्डलसौभग[2] शब्दा उपमेयवाचकाः। सुधाविधुपटीरशब्दा उपमानवाचकाः। माधुर्यमोदकरत्वसौरभाणि तु धर्माः, यथेववतयस्तद्वाचकाः।

इवेनेति। इवशब्देन सह नित्यसमासः स्यात्। 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इत्यनेन प्राप्तो विभक्तिलोपो न स्यादित्यर्थः।

वदनमिति। राधां हरिराह—हे प्रिये राधिके, इह जगति त्वं तरुणीर्भासीत्यनुषङ्गः। स्फुटमन्यत्। अत्र वदनकुचवचः शब्दाः उपमेयवाचकाः। सुधांशुकुम्भसीधुशब्दा उपमानवाचकाः। द्युतिगौरवसुखकरत्वानि धर्माः। समसदृशवतयस्तु तद्वाचकाः।

तेनतुल्यमिति। तेनेति तृतीयान्तात्तुल्यमित्यस्मिन्नर्थे वतिः स्यात्तुल्यं[3] सा क्रिया चेद् भवतीति सूत्रार्थः। एते पूर्णायाः षड्भेदा प्रदर्शिताः।

अथ लुप्तां दर्शयन् तत्रास्याः श्रौत्यार्थीरूपान्पञ्च भेदानादौ दर्शयति—तद्वदिति। लोपेऽनुपादाने।

---

१. तथेत्यर्थः। वाक्यगार्थीत्यादि क, ख। २. मण्डलतैव क, ख।
३. यतुल्यं क, ख।

तद्वद्धर्मस्य लोपे स्यान्न श्रौती तद्धिते पुनः ।

साधारणधर्मस्य लोपे पूर्ववदेव षोढा स्यात् । किन्त्वत्र तद्धितगा श्रौती न संभवतीति पञ्चधा लुप्ता । वाक्यगा समासगा च श्रौती लुप्ता । आर्थी लुप्ता तु तद्धितगा चेति ।

उदाहरणम्—

'वदनं विधुर्यथोक्तिः सुधेव तुल्या तनूः प्रसूनेन ।
अधरस्तु बिम्बबन्धु र्मनः कथं कुलिशकल्पं ते ॥'

अत्र धर्मलोपे पञ्चधा लुप्ता क्रमाद् बोध्या ।

उपमानानुपादाने वाक्यगाथ समासगा ॥२॥

यथा—

'त्वत्पादाभ्यां समं क्वापि नास्ति चित्तहरं विभो ।
देव त्वत्सदृशं हारि कथमास्तां जगत्त्रये ॥'

वादेर्लोपे समासे सा कर्माधारक्यचि क्यङि ।
कर्मकर्त्रोर्णमुलि,

वादेरुपमा वाचकस्य लोपे षट् । समासेन कर्मणोऽधिकरणाच्च जातेन क्यचा कर्तरि क्यङा कर्मकर्त्रोरुपपदयो र्णमुला च सम्भवात् ॥

तद्धितगा चेति । चकारः पूर्वानुकर्षणाय तेन वाक्यगा समासगा चार्थी लुप्तेति ।

वदनमिति । मृद्गमानां प्रियां हरिराह । वदनं विधुर्यथेति वाक्यगा उक्तिः । सुधयेवेति समासगा च श्रौती लुप्ता । तनुः प्रसूनेन तुल्येति वाक्यगा, अधरो बिम्बबन्धुरिति समासगा । मनः कुलिकल्पमिति तद्धितगा चार्थी लुप्तेति पञ्चधा, सर्वत्र धर्मो लुप्तः । यथेवतुल्यबन्धुकल्पपशब्दाः धर्मबोधकास्तु सन्ति । कुलिशादीषन्न्यूनं कुलिशकल्पम् । 'ईषदपरिसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः' इति पाणिनिस्मरणात् ।

उपमानेति । वतिकल्पवादेरुपमानपरत्वनियमात्तदनुपादानात्तदसंभवः ।

त्वदिति । अत्रासंभवविवक्षयैव तदग्रहः ।

वादेरिति । सा लुप्तोपमा ॥

'बिभ्राणः परितश्छविं नवघनश्यामां सखीयन्नता-
न्प्रासादीयति[1] यो वनेषु वनिता[2] वृन्देषु कामायते ।
दृष्ट्वा पङ्कजदर्शमास्यमलिसंचारं चरन्त्युत्तृपो
यस्य ब्रह्म शिवादयः स भगवान्कृष्णः पुनीतां जगत् ॥'

अत्र घनश्यामामिति 'उपमानानि सामान्यवचनैः' इति समासः । नतान्सखीनिवाचरतीति कर्मणः क्यच् । प्रासादेष्विवाचरतीत्याधाराच्च । काम इवाचरतीति कर्तरि क्यङ् । पङ्कजमिव दृष्ट्वेति कर्मणि णमुल् । अलिन इव संचरन्तीति कर्तरि च, इत्युपमावाचिनि लोपे षोढा । क्यजादौ धर्मलोपे लुप्तेति केचित् ।

एतद्द्विलोपे क्विप्समासगा ॥३॥

एतयोर्द्वयोर्धर्मवाद्योर्लोपे क्विब्गा समासगा चेति द्वेधा ।

क्रमेणोदाहरणम्—

'स्वभक्तहृदयाकाशे चन्द्रसि त्वमहर्निशम् ।
अतः पुरुषशार्दूल त्वामहं शरणं गतः ॥'

बिभ्राण इति । घनमिव श्यामामिति समासेनैव साम्यावगमाद् इवादेरप्रयोगः । साधर्म्यवाचिभिः सहोपमानवाचकाः समस्यन्ते स च कर्मधारय इति सूत्रार्थः[3] ।

'श्यामभुजङ्गमभीषणखड्गः श्यामतमालतनुर्मुरवैरी' इति

समासान्तरेऽपि बोध्यम् । श्यामभुजङ्गमतुल्यो भीषणः खड्गो यस्येति शाकपार्थिवादिः । कर्मणः क्यजिति । 'उपमानादाचारे' इति स्मृतेः । आधाराच्चेति । 'अधिकरणाच्च' इति स्मृतेः । क्यङिति । 'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च' इति स्मृतेः । कर्मणि णमुलिति । 'उपमाने कर्मणि च' इति स्मृतेः । चकारः कर्तरि चेति समुच्चयाय । क्यजादाविति । केचित् साहित्यदर्पणकृत्प्रभृतयः ॥

एतद्द्विलोप इति ॥

स्वभक्तेति । चन्द्र इवाचरतीति 'सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विब् वा वक्तव्यः' इति क्विप् ।

उपमितमिति । व्याघ्रादिभिः सहोपमेयं समस्यते साधर्म्यस्याप्रयोगश्चेदिति सूत्रार्थः ।[4]

---

१. प्रास्वादीयति ख । २. वन्दिता क, ख ।
३. पाणिनिसूत्रार्थः ख । ४. पाणिनि सूत्रार्थः ख ।

अत्र चन्द्र इवाचरसीति क्विप् । पुरुषः शार्दूल इवेति 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' इति समासः ।

धर्मोपमानयोर्लोपे वृत्तौ वाक्ये च दृश्यते ।

वृत्तिः समासः ।

क्यचि वाद्युपमेयासे

वादेरुपमेयस्य च निरासे क्यचि च दृश्यते ।

क्रमेणोदाहरणम्—

'नास्ति यत्सदृशं क्वापि नापि तुल्यं यदाख्यया ।
भ्रमरीयति स श्रीमान्स्वभक्तहृदयाम्बुजे ॥'

अत्र यत्सदृशं नास्तीति समासगा । यदाख्यया तुल्यं नेति वाक्यगा । भ्रमरीयतीति क्यज्गा च । आत्मानं भ्रमरमिवाचरतीत्युपमेयस्यात्मनस्तथेवशब्दस्य च वाचकस्य लोपः ।

त्रिलोपे च समासगा ॥४॥

त्रयाणां वादिधर्मोपमेयानाम् ।

यथा—

'हरिणी नयनावृत प्रभो करिणीवल्लभकेलिविभ्रम ।
तुलसीप्रिय दानवाङ्गना कुलसीमन्तहर प्रसीद मे ॥'

अत्र हरिणीनां नयनानीव मनोज्ञानि नयनानि यासामिति विग्रहः । 'सप्तम्युपमान-

---

वृत्तिस्तत्पुरुषरूपात्र बोध्या । द्वयोः सूत्रयोर्विषयमेकेनैव पद्येन दर्शयति । नास्ति यदिति । ईदृशोऽपि भवतः सुलभ इति भावः ।

त्रिलोपे चेति । हरिणीति श्रीरूपोक्तिः । पञ्चापि पदानि संबोधनार्थानि । मे मह्यम् । हरिणीनयनेत्यत्र इवमनोज्ञनयनशब्दा लुप्ताः ।

ननु मृगशब्दो लक्षणया मृगनयनवृत्तिस्ततश्च मृगनयने एव नयने यासामिति रूपकमेव नोपमेत्यत आह—सप्तमीति । अस्यार्थः सप्तम्यन्तमुपमानं च पूर्वपदं यस्य इवादिसाधर्म्यबोधकपदस्य तस्य पदान्तरेणोपमेयबोधकेन बहुव्रीहिः । उत्तरेखामिवादिसाधर्म्योपमेयबोधकानां लोपश्चेति ।

पूर्वपदस्य बहुव्रीहिरुत्तरपदलोपश्च' इति समासलोपौ।

उपमाः संकलयति—

एकोनविंशतिर्लुप्ताः पूर्णाभिः पञ्चविंशतिः।[1]

पूर्णाभिः षड्भिः सह।

अथालुप्तधर्मास्वासु कश्चिद्विशेषः।

यथा—

'कृष्णः सभार्यो गरुडोपरिस्थितः
सूर्योपरि श्लिष्टतडिद्घनो यथा।
आधावतो भौममुखान्रिपून्मृधे
जघान बाणैररिणा च सक्षणात् ॥'

इयं बिम्बानुबिम्बोपमा, कृष्णादिदृष्टान्तवद्घनादेः प्रतिपादनात्। असंभाव्योपमान-समुद्भावनादभूतोपमा चोच्यते। एकस्य बहूपमानत्वे मालोपमा।

तत्राभिन्ने साधर्म्ये। यथा—

'कुमुद्वतीव शीतांशोः केतकीव मनोभुवः।
नलिनीव रवेरासीन्मनोज्ञा राधिका हरेः॥'

भिन्ने यथा—

'सुधाधारेव मधुरा कौमुदीव सुशीतला।
कीर्तिर्दीव्यति कृष्णस्य गङ्गेव जनपावनी॥'

अथेति। आसूपमासु।

कृष्ण इति। अरिणा चक्रेण च।

एकस्येति। धर्मैक्येन धर्मभेदेन च द्विधा मालोपमा दर्श्यते—कुमुद्वतीति। राधिका हरेर्मनोज्ञासीत्। शीतांश्वादेरिव कुमुद्वत्यादिरिति माला। मनोज्ञत्वं सर्वत्र साधर्म्यम्॥

सुधाधारेति। अत्र सुधाधारादिनिरूपितं मधुरत्वादिसाधर्म्यं भिन्नमिति भेदः॥

---

१. इयं कारिका काव्यप्रकाशे नोपलभ्यते।

यथोत्तरमुपमेयस्योपमानत्वे रसनोपमा।

तत्राभिन्ने साधर्म्ये यथा—

'यस्य बुद्धिरिवाधीतिरधीतिरिव धीरता।
धीरतेव क्रिया गुर्वी विष्णुभक्तिं स विन्दति॥'

भिन्ने यथा—

'वपुरिव मधुरं रूपं रूपमिवानन्ददायि गुणवृन्दम्।
गुणवृन्दमिव विशुद्धं यशः कृशाङ्गीसभासु तव राधे॥'

वाच्ये[1] गम्ये च सा साम्ये एकदेशविवर्तिनी॥५॥[2]

यथा—

'कटाक्षैरिव नीलाब्जैर्मुखेनेव सुधांशुना।
काशैर्हासैरिवायाता शरत्कृष्णस्य दृक्पथम्॥'

अत्र नीलाब्जादीनां कटाक्षादिसादृश्यं वाच्यम्। शरदस्तरुणीसादृश्यं तु गम्यमेव। एवंविधबहुवैचित्र्यसंभवादुक्तभेदान्तर्भावाच्च नैताः सूत्रकृता लक्षिताः।

उपमानोपमेयत्वे एकस्यैवैकवाक्यगे।

अनन्वयः,

यस्य बुद्धिरिति। अत्राधीत्यादिर्बुद्ध्यादिरिव गुर्वीति पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तरमुपमानत्वाद्रसनोपमा। गुर्वीति सर्वत्रैकं साधर्म्यम्॥

वपुरिवेति। अत्र रूपादिकं च वपुरादिवन्मनोज्ञत्वादिविशिष्टमित्यन्वयः। मधुरत्वादिसाधर्म्यं भिन्नमेव। न चात्र कथितपदत्वं दोष, विहितानुवादात्॥

कटाक्षैरिति। श्रीराधां वृन्दाह। अत्र शरदेव त्वत्प्रतिनिधिर्भूत्वा कृष्णमानन्दयति न काचिदन्या नितम्बिनीति त्वरितमभिसृत्य तं सुखयेति भावः। न च चेयं समासोक्तिः श्लिष्टविशेषणाभावात्।

उपमानेति। उपमानत्वमुपमेयत्वं चेत्यर्थः। एकस्यैवेत्युपमाया व्यावृत्तिः। एकवाक्यगे इत्युपमेयोपमायाश्च, तस्या वाक्यद्वयविषयत्वात् एवकारेण वक्त्रं मुखमिवैतस्या इत्यत्र न प्रसङ्गः।

---

१. वाचे क। २. इयं कारिका काव्यप्रकाशे नोपलभ्यते।

अत्रोपमानान्तरासंभवो विवक्षितः।

उदाहरणम्—

'आलोकि सा बालकुरङ्गनेत्रा राधेव राधा भुवनेऽद्वितीया।
अद्यापि मे सन्ति मनोनिखातास्ते तत्कटाक्षा इव तत्कटाक्षाः॥

विपर्यास उपमेयोपमा तयोः ॥६॥

तयोरुपमानोपमेययोश्चेत्परिवृत्तिरर्थाद्वाक्यद्वये स्यात्तदोपमेयोपमा।

उदाहरणम्—

'श्रीराधिकानन्यसमा लसत्यसौ
माधुर्यसंपत्तिरिवाद्य विद्विषः।
माधुर्यसंपत्तिरपीयमुच्चकैः
श्रीराधिकेवानुपमा विराजते॥'

इहोपमेयेन पुनरुपमाविधानादन्यदुपमानं व्यवच्छिद्यते।

संभावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्।

आलोकीति। कृष्णः सुबलमाह। भुवनेऽद्वितीयेति व्यवस्थैक्यलाभः। न अन्वयो यत्रार्थादुपमानान्तरस्य सोऽनन्वयः सम्बन्धः। तत्रैव तदुपमानान्वेतीत्यनन्वयः इति केचित्। निरुपमत्वमत्र व्यङ्ग्यम्।

विपर्यास इति। तृतीयसदृशव्यवच्छेदफलेयम्।

श्रीति। काचित्सखी वर्णयति।

संभावनमथेति। वाच्यसादृश्यासगोत्रत्वसूचनायाथशब्दः। अन्यधर्मसम्बन्धनिमित्तेनान्यस्यान्यतादात्म्यसंभावनमुत्प्रेक्षा। सा तावत्त्रिधा, तत्र कस्यचिद्वस्तुस्वरूपस्य वस्तुस्वरूपान्तरतादात्म्यसंभावनं स्वरूपोत्प्रेक्षा। अहेतोर्हेतुत्वेन संभावनं हेतूत्प्रेक्षा। अफलस्य फलत्वेन संभावनं फलो-

समेनोपमानेन तदात्मनेति यावत् । संभावनं संदेहः । उत्कटकोटिकः सन्देह इत्यर्थः । सा च स्वरूपहेतुफलगता त्रिधा । तासूक्तविषयानुक्तविषया चेति स्वरूपोत्प्रेक्षा द्वेधा । हेतुफलोत्प्रेक्षे तु सिद्धविषयासिद्धविषया चेति द्वे प्रत्येकं द्विविधे । तदेवमुत्प्रेक्षा षोढा ।

क्रमेणोदाहरणम्—

'जृम्भानुबन्धविकसद्वदनोदराणां
चन्द्रः करेण कृपयेव कुमुद्वतीनाम् ।
निर्वाप्यगाढविरहानलमुज्ज्वलन्त-
मङ्गारपुञ्जमिव कर्षति भृङ्गसंघम् ॥'

'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः ।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्विफलतां गता ॥'

एते स्वरूपोत्प्रेक्षे ।

'श्यामाः कटाक्षनिक्षेपाद् गोपीनां न्यूनमच्युतः[1] ।
गोप्यः पीतांशुकध्यानात्प्रीतिमानं ध्रुवं दधुः ॥'

त्प्रेक्षा । अत्राहुः—तादर्थ्यचतुर्थ्यन्तेन तुमुन्नतेन वा पदेन यत्रोत्प्रेक्षा सा फलोत्प्रेक्षा । ताभ्यामन्या तु स्वरूपोत्पेक्षेति । संदेहालंकारवारणार्थमुत्कटकोटिक इति रूपकभ्रान्तिमदतिशयोक्तीनां निश्चयरूपत्वात् संदेहपदेन वारणम् ॥

जृम्भेति । चन्द्रांशुविकसितां कुमुदवनीं कृष्णो वर्णयति । अत्र चन्द्रकरविकसितकुमुदनिःसरद्भृङ्गसंघस्वरूपत्वेन संभावना स्वरूपोत्प्रेक्षा । भृङ्गसंघस्य विषयस्योपादानादुक्तविषया, श्यामत्वसंबन्ध उत्प्रेक्षानिमित्तम् ॥

लिम्पतीति । पूर्वार्धमुदाहरणम् । अत्र तमसो लेपनस्य व्यापनं विषयः स च नोपात्तः । अञ्जनवर्षणं तमः संपातः अनयोरुत्प्रेक्षानिमित्तं तमसो बहलत्व धारारूपेणाधः संयोगश्च क्रमात् ।

श्यामइति । अत्राच्युतस्य श्यामलिमा स्वतः सिद्धस्तत्र गोपीकटाक्षपातो न हेतुरित्यहेतोर्हेतुत्वेन संभावनं हेतूत्प्रेक्षा । कटाक्षपातस्य विषयस्य सत्त्वात् सिद्धविषया ॥

---

१. नलमच्युतः ख ।

'विलासविस्रस्तमवेक्ष्य राधिका-
श्रीकेशपाशं निजपुच्छपिच्छयोः ।
न्यक्कारमाशङ्क्य ह्रियेव भेजिरे
गिरिं चमर्यो विपिनं शिखण्डिनः ॥'

एते हेतूत्प्रेक्षे ।

'वीक्ष्यावलग्नं सरसीरुहाक्ष्या विभज्यमानं स्तनयोर्भरेण ।
तयोर्विधृत्यै विधिरद्ध ताभि र्बबन्ध तत्किं त्रिवलीलताभिः ॥'
'रावणस्यापि रामास्तो भित्वा हृदयमाशुगः ।
विवेश भुवमाख्यातुमुरगेभ्य इव प्रियम् ॥'

एते फलोत्प्रेक्षे ।

एषा च—'मन्ये शङ्के ध्रुवमिव प्रायो नूनमित्यादेः' प्रयोगे वाच्योच्यते । तस्याऽप्रयोगे तु प्रतीयमानेति । तयोः पूर्वा दर्शिता ।

परा यथा—

'तन्वङ्ग्या· स्तनयुग्मेन मुखं न प्रकटीकृतम् ।
हाराय गुणिने स्थानं न दत्तमिति लज्जया ॥'

विलासेति । सखी काचिदाह । अत्र चमर्यादीनां गिर्यादिभजनं स्वतः सिद्धं न तत्र तदवेक्षणजातन्यक्कारशङ्काकृता ह्रीर्हेतुरित्यहेतोस्तस्या हेतुत्वेन संभावनं हेतूत्प्रेक्षा । वस्तुतस्तस्या असत्त्वादसिद्धविषया ॥

वीक्ष्येति । काचित्सखी वर्णयति । अवलग्नं मध्यः । तयोः स्तनयोः । विधृत्यै धारणाय । तदवलम्बनम् । अवलग्नं स्वयमेव स्तनौ धरति न तु लताबन्धनतयाध्यवसितायास्त्रिवलीविशिष्टतायाः बलादित्यवलग्नकर्तृकस्तनविधृतेरेतत्फलस्यापि तत्फलत्वेन संभावनं सिद्धविषया फलोत्प्रेक्षा । स्तनविधृतेर्विषयस्य सत्त्वात् ।

रावणस्येति । रामेणास्तः क्षिप्त आशुगो बाणः । अत्रोरगान् प्रति प्रियाख्यानमसदेव भूप्रवेशस्य फलत्वेन संभावितमित्यसिद्धविषया फलोत्प्रेक्षा ।

तन्वङ्ग्या इति । गुणिने विद्यातपस्यादिगुणविशिष्टाय ईदृशाय दानाभावो हि लज्जासंवादकः । स्तनयोरतिनिबिडतुङ्गतया हारस्यानवकाशप्राप्तिस्तत्रेयमुत्प्रेक्षा प्रतीयमाना[1] ॥

---

१. 'प्रतीयमाना' पदं क, ख पुस्तकयोः नास्ति ।

रूपकादेरलंकारान्तरस्य योगात्त्वियमति चारुतां भजति ।

यथा—

'गोवर्धनं गिरिमुपेत्य कटाक्षबाणा-
न्कर्णस्फुरन्मणिशिलोपरि संक्ष्णुवाना ।
का भ्रूधनुर्धुवनसूचितलुञ्चनेयं
व्यग्रीकरोत्यहह मामपि संभ्रमेण ॥'

एवमन्यच्च प्रेक्ष्यम् ।

स संदेहस्तु भेदोक्तौ तदनुक्तौ तु संशयः ॥७॥

प्रकृतस्य समेन यदित्यनुवर्तते । तुर्भिन्नोपक्रमे । तथा चोपमानेनोपमेयस्य यः संशयः स तु सन्देहनामालंकार इत्यर्थः । भेदो वैधर्म्यम् । तदुक्तौ[1] निश्चयगर्भो निश्चयान्तश्च संदेहः । तदनुक्तौ तु शुद्धः सः ।

क्रमेणोदाहरणम्—

'मेघः किमेष स कथं धरणौ किमस्मि-
श्चन्द्रोऽयमस्य विगतः क्व नु वा कलङ्कः ।
माला किमत्र तडितः स्थिरता क्व चास्याः
कृष्णः किमेष सुमुखः सखि पीतवासाः ॥'

गोवर्धनमिति । श्रीकृष्णवाक्यम् । संक्ष्णुवाना तीक्ष्णान्कुर्वाणा । अत्र कर्णप्रान्ते नेत्रान्तगतागतमेव तद्वर्तिमणिशिलोपरि कटाक्षबाणतेजनतादात्म्येन संभाव्यते इति रूपकसंश्लिष्टा[2] स्वरूपोत्प्रेक्षा । व्यञ्जकाभावादियं प्रतीयमानोच्यते ।

एवमिति । अपह्नुतिश्लेषादियोगादुदाहार्यमित्यर्थः ॥

स संदेह इति । यदित्यत्र य इति विपरिणमनीयम् ॥

मेघः किमिति । श्रीराधा विशाखामाह । मेघश्चेत् धरणौ कथमित्यर्थः ॥

---

१. तदुक्ताविति क, ख । २. रूपक संश्लिष्टेति क, ख पुस्तकयोः नास्ति ।

अत्राद्यन्तयोः संशयः । मध्ये मेघाद्यभावनिश्चयः । । कृष्णनिश्चये द्वितीयस्योत्थानासंभवात् ।

'स्मरजयलिपियुक्ता हाटकी पट्टिकेयं
किमु विधृतमनोभूशस्त्रिकं स्वर्णपीठम् ।
मदनभुजगपाशाधारतूणं तु हैमं
न हि लसति विराजद्वेणिराधासुपृष्ठम् ॥'

अत्रादौ संशयोऽन्ते तु निश्चयः ।

'कृष्णस्य वक्त्रं किं पद्मैः किं चन्द्रेण विनिर्मितम् ।
उल्लासयति नेत्रालिं तद्धन्मे सुखसागरम् ॥'

अत्र संशय एव पर्यवसानात् शुद्धः सः ।

उत्प्रेक्षयामुत्कटा संभाव्यभूतैका कोटिः, इह तु समकक्षतया कोटिद्वयप्रतीतिरिति भेदः ।

तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः ।

व्यक्तभेदयोरप्यतिसाम्यादभेदो रूपकम् ।

समस्तवस्तुविषयं श्रौता आरोपिता यदि ॥८॥

स्मरेति । कस्याश्चित्सख्या वाक्यम् । स्पष्टम् ॥

कृष्णस्येति । काचित्तन्मुखं वर्णयति । नेत्रालि नयनभृङ्गम् । सुखसागरमानन्दसिन्धुम् ।

उत्प्रेक्षायामिति । संभाव्यभूता सन्देह्या एकैव कोटिरुत्कटा । इहेति । संदेहालंकारे कोटिद्वयमप्युत्कटतया संदेह्यमिति द्वयोर्महदन्तरमिति भावः । उत्कटा निश्चितप्राया, संभाव्यभूता निश्चितस्वरूपा, कोटिः प्रकारः ॥

तद्रूपकमिति । अभेदो भेदतिरोधिः ॥

समस्तेति । समस्तान्यारोपविषयारोप्यमाणानि, वस्तूनि वर्णनीयानि विषयोऽस्येति व्युत्पत्तिः ॥

बहुत्वमविवक्षितम् । आरोपविषया इवारोप्यमाणाश्चेच्छब्दोपात्ताः स्युस्तदा समस्तवस्तुविषयं नाम रूपकम् ।

यथा—

'लक्ष्मीदृगिन्दिन्दिरपीतमङ्गुलिच्छदोल्लसत्सुन्दरतामधुप्लुतम् ।
पादारविन्दं नखरांशुकेसरं स्मराम्यहं कंसरहस्य[1] सर्वदा ॥'

यथा वा—

'नखसितरुचिगङ्गा कृष्णपादप्रयागे
तदुपरिशितिरोचिर्भानुजासंगतासीत् ।
अरुणकिरणधारा धातृकन्याप्यधस्ता-
ल्लसति निखिलसर्वाभीष्टदेयं त्रिवेणी ॥'

श्रौता आर्थाश्च ते यस्मिन्नेकदेशविवर्ति तत् ।

आरोप्यमाणाः केचिच्छब्दाः केचित्त्वार्थाश्चेत्तदेकदेशविवर्ति रूपकम् ।

उदाहरणम्—

'माधुर्यमधुभिः पूर्णं दशनद्युतिकेशरम् ।
गोपीनेत्रालिनिष्पीतं पश्यालि वदनं हरेः ॥'

अत्र माधुर्यादौ मधुत्वाद्यारोपः शाब्दः, वदने पद्मत्वारोपस्त्वार्थः ।

बहुत्वमिति । तेनैकस्मिन्नारोप्यमाणेऽपीदं भवति ।।

लक्ष्मीति । चरणमाधुर्यासक्तचेतसः कस्यचिद् भक्तस्योक्तिः । अङ्गुलय एव छदाः पत्राणि तैरुल्लसत् । अत्र भृङ्गपीतत्वं रूपकग्रहे साधकमिति नोपमा शङ्क्या ॥

नखसितेति । शारीशुकयोरुक्तिः । अत्रापि सर्वाभीष्टदातृत्वं रूपकग्राहीति बोध्यम् । पूर्वं वा पद्यमिदं लेख्यम् । रूपकोपमयोरुभयोरपि संदेहसंकरतावगतौ लक्ष्मीदृगिति योज्यम् ।।

श्रौता इति । एकदेशे विशेषेण वर्तत इत्येकदेशविवर्तीति ज्ञेयम् ।

---

१. कं सरहस्य क, ख ।

साङ्गमेतत्

एतत् रूपकद्वयं साङ्गम् ।

निरङ्गं तु शुद्धम्

यथा—

'मुखेन्दुस्तव गोविन्द प्रकाशयति मे मनः ।'

इदं रूपकमसमासवद्वैयधिकरण्येऽपि वीक्ष्यते ।

यथा—

'मुखमम्बुजमुत्पाद्य मृगाक्षि चतुराननः ।
भ्रुवा तु मधुपश्रेणीं विदधे चतुरस्तव ॥'

माला तु पूर्ववत् ॥९॥

पूर्वेषामिव पूर्ववत् । एकस्मिन्बहूनां रूपणे मालारूपकम् । उपलक्षणमिदमुपमादेः ।

उदाहरणम्—

'श्रवसो कुवलयमक्ष्णोरञ्जनमुरसो महेन्द्रमणिदाम ।
वृन्दावनरमणीनां मण्डनमखिलं हरिर्जयति ॥'

नियतारोपणोपायः स्यादारोपः परस्य यः ।
तत्परम्परितं श्लिष्टे वाचके भेदभाजि वा ॥१०॥

मुखेन्दुरिति । इन्दोरेव मनोधिष्ठातृत्वात्तत् प्रकाशकत्वमिति रूपकग्रहणे युक्तिः । असमासे सिद्धवत्कृत्वा वैयधिकरण्येऽप्याह—मुखमिति[1] ।

मुखमम्बुजमित्यसमासे । भ्रुवा तु मधुपश्रेणीमिति वैयधिकरण्ये लक्ष्यम् ।

मालेति । पूर्वेषां मुनीनामिव पूर्ववत् ।

पायितस्वाङ्घ्रिदलामृतेन श्रीकृष्णचैतन्यभगवता भणेत्युक्तः पञ्चहायनो कर्णपूरः कविरिदं पद्यमुच्चारयामास—श्रवसोरिति । अत्रैकस्मिन्हरौ कुवलयादीनां बहूनां रूपणान्मालारूपकम् ॥

नियतेति । परम्परा जातास्येति परम्परितम् । इतच्प्रत्ययः ॥

---

१. 'मुखमिति' क, ख पुस्तकयोः नास्ति ।

परस्य यस्य कस्यचिदारोपाऽच्चेन्नियतस्य प्रकृतस्यान्यतादात्म्यारोपणे हेतुः स्यात्तदा परम्परितं नाम रूपकम् ।

तत्र परस्य वाचकं श्लिष्टं भिन्नं वेति द्विविधमपि केवलं मालरूपम् चेति चतुर्विधं तत् ।

क्रमेणोदाहरणम्—

'उन्मीलयन्कुवलयं निमीलयन्दानवाम्बुजश्रेणीम् ।
व्रजनरपतिसुत भवतो यशः सुधांशुः समुल्लसति ॥'

अत्र कुवलये भूमण्डले श्लिष्टशब्दवाच्ये कुवलयत्वस्यारोपः प्रकृतस्य यशसः सुधांशुत्वारोपणे हेतुः, दानवेषु भिन्नशब्दवाच्येष्वम्बुजत्वारोपश्च तथा ।

मालारूपकं यथा—

'कमलामोदरोलम्बो महत्पङ्कक्षयांशुमान् ।
योगिमानसहंसोऽयं भवताद्भवतापभित् ॥'

अत्र कमलाया मोद एव कमलानामामोद एवमाद्यारोपो भगवतो रोलम्बत्वाद्यारोपे[1] हेतुः श्लिष्टमत्र वाचकम् ।

दारिद्र्यगजपञ्चास्यो दुर्नयाम्बुधिमन्दरः ।
दानवारण्यदावाग्निर्दुःखं दामोदरो द्यतु ॥'

उन्मीलयन्निति । वन्दिस्तुतिः । उन्मीलयन्प्रकाशन् । निमीलयन् संकोचयन् ॥

कमलेति । महतां सतां किल्बिषमेव पङ्कः कर्दमः । तस्य क्षये नाशेऽशुमान् रविः । योगिनां मानसं चित्तमेव मानसं तदाख्यं सरस्तत्र हंसः अयं श्रीकृष्ण: भवतादस्तु ।

दारिद्र्येति[2] । दारिद्र्यमेव गजः, दुर्नयो दुर्नीतिरेवाम्बुधिः । दानवा एवारण्यानि । द्यतु खण्डयतु ।

---

१. आरोपः क, ख । २ दारिद्र्येति क, ख पुस्तकयोः नास्ति ।

अत्र दारिद्र्यादेर्भिन्नशब्दवाच्यस्य गजत्वाद्यारोपो दामोदरस्य पञ्चास्यत्वाद्यारोपे हेतुः । इह हेतुफलयोर्वैपरीत्यं केचिद् व्याचक्षते । तदेवमष्टौ रूपकभेदाः ।

प्रकृतं यन्निषिध्यान्यत्स्थाप्यते सा त्वपह्नुतिः ।

उपमेयमसत्यं कृत्वोपमाने सत्यतया स्थापितेऽपह्नुतिः ।

यथा—

'ताम्राधरौष्ठदलमुन्नतचारुनास-
मत्यायतेक्षणमिदं बत नास्यमास्यम् ।
बन्धूकयुग्मतिलपुष्पसरोजयुग्मैः
संपूजितः स्वयमसौ विधिनैव चन्द्रः ॥

इहेति । वैपरीत्यमिति । भगवतो रोलम्बत्वाद्यारोपो लक्ष्म्यामोदे पङ्कजगन्धत्वमारोपयतीति परे व्याख्यान्तीत्यर्थः ।

रसनारूपकमपि केचित्[1] मन्यन्ते । यथा—

'किसलयकरै र्लतानां करकमलैः कामिनां मनो जयति ।
नलिनीनां कमलमुखै र्मुखेन्दुभि र्योषितां मदनः ॥'

मदनः कामिनां मनो जयति । कैः ? लतानां किसलयकरैः, योषितां करकमलैः नलिनीनां कमलमुखैः, योषितां मुखेन्दुभिश्च । लतानां नलिनीनां स्त्रीत्वमार्थम् । इदं च न विचित्रत्वशालीति वृत्तावपि नोट्टङ्कितम् ।

अपह्नुत्यलंकारं लक्षयति—प्रकृतमिति । श्रीकृष्णपुरस्थायाः श्रीराधाया वदनं सख्यो वर्णयन्ति ।

ताम्रेति । उन्नता चारुर्नासा यस्य तादृशमस्या आस्यमास्यं न भवति तर्हि किमिदं तत्राह—बन्धूकयुग्मेत्यादि । अत्र क्रमालंकारश्च बोध्यः, अधरादीनामपह्नवाय बन्धूकपुष्पादीनां क्रमेणोपादानात् । उपमालंकारस्तु व्यङ्ग्यः । तेषां तैः सादृश्यप्रत्ययात् ।

---

१. 'अपि केचित्' इति क, ख पुस्तकयोः नास्ति ।

यथा वा—

'तन्वि त्वन्मुखचन्द्रेण निर्जितो हन्त लज्जितः ।
विषाण्यङ्कमिषाद् भुङ्क्ते प्राणहानेच्छया विधुः ॥'

एवमादि भङ्ग्यन्तरैरनेकधा ।

श्लेषः स वाक्य एकस्मिन्यत्रानेकार्थता भवेत् ॥११॥

एकार्थानामपि शब्दानां यद्यनेकार्थवाचित्वं तदा श्लेषः ।

उदाहरणम् —

'यो बिभर्ति स्ववीर्येण लीलया निखिलं जगत् ।
नित्योदयः श्रिया युक्तः स भाति परमेश्वरः ॥'

तन्वीति । श्रीराधां प्रति कृष्णस्योक्तिः । नायं मृगरूपः कलङ्कः किन्तु विषभक्षणहेतुकः कालिमेत्यर्थः ।

श्लेषः स इति । यत्र शक्यभेदेन शब्दभेदस्तत्रैव शब्दश्लेषः । यथा दर्शिते नानार्थे शिलष्टे च । यत्र त्वेकोऽर्थः शक्यः परोऽर्थो निरूढलक्षणया प्रतिपाद्यस्तत्रार्थश्लेषः, वाच्याभेदेन शब्दभेदाभावात् । शब्दश्लेषवत् स्वरूपभेदापह्लवस्वरूपस्य श्लेषणस्यात्रासंभवात् । किन्त्वर्थयोः श्लेषणादेकप्रतीत्याश्रयणादेव श्लेषत्वम् । तदेतदाह—एकस्मिन्निति । एकस्मिन्वाक्ये वाच्यैकत्वेनाभिन्नस्वरूपे, अनेकार्थताशक्त्या निरूढलक्षणया चानेकवैशिष्टचबोधकता, एकार्थानामनेकमर्थं[1] शक्त्या बोधयतामित्यर्थः ।

य इति । बिभर्ति धत्ते रक्षति च । वीर्येण चिच्छक्त्या पराक्रमेण च । लीलयानायासेन राज्यं संचारेण च । उदयः प्रकाश उत्कर्षलाभश्च । श्रिया लक्ष्म्या[2] हस्त्यश्वादिसंपदा च । परमेश्वरो विष्णुः, पुरोहितधृतराज्याभिषेककालीनतन्नामको राजविशेषश्च । न चात्र द्वितीयेऽप्यर्थे शक्तिः

---

१. °मेकमर्थं क, ख । २. रमया ख ।

अत्राभिधानियमनाभावाद् भगवान् राजविशेषश्च वाच्यः ।

परोक्तिर्भेदकैः श्लिष्टैः समासोक्तिः,

अश्लिष्टमपि विशेष्यं यदि श्लिष्टैर्विशेषणैरप्रकृतमर्थान्तरं बोधयति तदा समासोक्तिः ।

उदाहरणम्—

'सोऽयं रम्भानटनचटुलैः सेव्यमानो मरुद्भिः
कम्राशोकोत्तमसुमनसां निर्भरामोदधारी ।
पीयूषेण स्फुरितवसतिस्त्वामुदञ्चद्गुरुश्री-
र्लोकातीतः किल मदयिता बल्लवेशस्य लोकः ॥'

अत्र श्लिष्टविशेषणमहिम्ना नन्दीश्वरस्य[1] स्वर्गस्य च प्रतिपादनम् ।

निदर्शना ।

अभवन्वस्तु सम्बन्ध उपमापरिकल्पकः ॥१२॥

शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावात् । न च व्यञ्जना अभिधाया अनियमात् ।

राजविशेषश्च वाच्य इति निरूढलक्षणायाः शक्तितौल्यात्तेन सहैव प्रतीतेरिति भावः ।

परोक्तिरिति । परस्याप्रकृतस्यार्थस्योक्तिः प्रतिपादनम् । श्लिष्टैः प्रकृताप्रकृतसाधारणैः भेदकैः विशेषणैः बोधयति व्यञ्जयतीत्यर्थः ।

सोयऽमिति । उद्धवं प्रति कृष्णस्योक्तिः । बल्लवेशस्य गोपराजस्य श्रीनन्दस्य लोको नन्दीश्वररूपः । रम्भाः कदल्यः । मरुद्भिः पवनैः कम्राणामशोकोत्तमानां सुमनसः कुसुमानि तेषामामोदं सौरभं धरतीति तथा । पीयूषेणाभिनवेन क्षीरेण । 'पीयूषोऽभिनवं पयः' इत्यमरः । उदञ्चती गुर्वी श्रीः संपत्ति र्यस्य सः । लोकातीतो लोकान्परमसमृद्धानपि जनानतिक्रान्तः, स्वसौन्दर्यसंपत्त्यादिबाहुल्येनेति शेषः । स्वर्गपक्षे-रम्भा तदाख्या स्ववेंश्या । मरुद्भि र्देवैः । कम्राः अशोकाश्च ये उत्तमसुमनसो देवश्रेष्ठा इन्द्राद्यास्तेषां आमोदो हर्षः, पीयूषेण सुधया । गुरु र्बृहस्पतिः । श्रीः शोभा । लोकातीतः पातालादिभुवनेभ्यो वरीयान् ।

निदर्शनेति । निदर्शनं दृष्टान्तकरणमित्यर्थः । उपमापरीति । इतरथा पञ्च तालानि षडपूपा इति बह्वर्थता स्यात् । कल्प्यते पर्यवस्यतीत्यर्थः ।

---

१. 'नन्दीश्वरस्य' इति क, ख पुस्तकयोः न पठ्यते ।

असिध्यन्वस्तुसम्बन्धश्चेदुपमां परिकल्प्य भजत्यन्वयं तदा निदर्शना ।

उदाहरणम्—

'क्वाहं दैन्यभराक्रान्तः क्वायं श्रीपतिरच्युतः ।
तृषार्तमुपशंयातो निपातः सौरसैन्धवः ॥'

अत्र तृष्णाकुलस्य गंगासंगम इव दीनस्य मे श्रीकान्तसाक्षात्कार इत्युपमा कल्प्यते ।

यथा वा—

'कामं सर्वाभीष्टकन्दं मुकुन्दं
या निर्बन्धात्प्राहिणोदिन्धनाय ।
आचार्यानी सा करोति स्म पण्यं
पिण्याकार्थं हन्त चिन्तामणीन्द्रम् ॥'

अत्र चिन्तामणिना पिण्याकं क्रीणातीव कृष्णेनेन्धनमाहरन्त्याचार्यानीत्युपमायां पर्यवसितिः ।

मालारूपा यथा—

'स तितीर्षति पाथोधिं पाणिनेन्दुं जिघृक्षति ।
पिधित्सति रविं यस्ते कृष्णेयत्तां चिकीर्षति ॥'

क्वाहमिति । कृष्णं प्रति सुदामविप्रोक्तिः । सुरसिन्धोर्गङ्गाया अयं सौरसैन्धवः । निपातः प्रवाह इत्यर्थः ।

उपमां प्रकल्प्य वाक्यार्थौ संबध्नाति—अत्र तृष्णेत्यादिना ।

काष्ठार्थं प्रेषितकृष्णां सान्दीपनिपत्नीमुद्दिश्य गार्ग्याः वाक्यम्—काममिति । आचार्यानीत्यत्र णत्वनिषेधः 'आचार्यादणत्वम्' इति स्मृतेः । अत्र कृष्णकरणकं यदिन्धनाहरणं तदेव चिन्तामणिकरणकं पिण्याकक्रयणमिति न संगच्छते तेनोपमा कल्प्यते तत्सदृशं तदिति ।

स तितीर्षतीति । कृष्णकवेरुक्तिः । अत्रैकस्याः कृष्णेयत्ताचिकीर्षायाः पाथोधितितीर्षादीनि बहून्युपमानानीति मालारूपता ।

स्वस्वहेत्वन्वयस्योक्तिः क्रिययैव च साऽपरा ।

एकैव क्रिया चेत्स्वरूपस्य स्वहेतोश्च संबन्धं वक्ति तदाऽपरा निदर्शना ।

उदाहरणम्—

'कोऽत्र भूमिवलये जनान्मुधा तापयन्सुचिरमेति संपदः ।
वेदयन्निति दिनेन भानुमानाससाद चरमाचलं ततः ॥'

अत्र रवेर्दिनेनास्ताद्रिप्राप्तिः क्रिया, सा स्वरूपस्य मुधा परतापनरूपस्वहेतोश्च संबन्धं ज्ञापयति ।

अप्रस्तुतप्रशंसा या सा सैव प्रस्तुताश्रया ॥१३॥

अप्रासंगिकार्थोक्तिर्यदि प्रासङ्गिकार्थमाक्षिपति तदाप्रस्तुतप्रशंसा ।

स्वस्वेति । स्पष्टम्[1] । क्रिययेति । तेनेयं संभवद्वस्तुमूलेति सूच्यते । अपरा न स्वन्योऽलंकारः । वाक्यार्थयोरुपपाद्योपपादकभावेन सामान्येन धर्मेण क्रोडीकृतत्वात् । उपपादकत्वं तूपमया सम्बन्धान्तरेण वेति भिन्नमेतत् ।

परतापकः शीघ्रमनिष्टं प्राप्नुयादिति कश्चिदुपदिशति—कोऽत्रेति । भूमिवलये भूमण्डले । भानुमान् सूर्यः ।

अत्र रवेरिति । स च सम्बन्धोऽन्योऽपि परतापकः शीघ्रमस्तं प्रयातीति दृष्टान्तपर्यवसायीति निदर्शनोच्यते ।

हेतुं केचित्फलमाहुः । यथा—

'उदयन्नेव सविता पद्मेष्वर्पयति श्रियम् ।
विभावयन्समृद्धीनां फलं सुहृदनुग्रहम् ॥'

अत्र सवितुरुदयरूपा क्रिया स्वस्य पद्मश्रीसमर्पणरूपस्य स्वकार्यस्य च संबन्धं विख्यापयति ।

अप्रस्तुतेति । अप्रकृतवर्णना चेत्प्रकृतोत्कर्षपर्यवसाना स्यात्तदेत्यर्थः । आक्षिपति व्यञ्जयति ।

---

१. 'स्पष्टम्' इति क, ख पुस्तकयोः नास्ति ।

तद्भेदानाह—

कार्ये निमित्ते सामान्ये विशेषे प्रस्तुते सति ।
तदन्यस्य वचस्तुल्ये तुल्यस्येति च पञ्चधा ॥१४॥

कार्यादिके प्रस्तुते सति तदन्यस्य कारणादेरुक्तिस्तुल्ये च तुल्यस्येति पञ्चविधासौ ।

क्रमेणोदाहरणम्—

'प्रियां सदाभामभिधाय वाचं निपाय मद्वक्त्रसुधामुदारः ।
विहाय मां सुन्दरि नन्दसूनुः स चञ्चलः कुत्र गतो न जाने ॥'

अत्र किमिति दुःखिता त्वमुपलक्ष्यसे इति कार्ये प्रस्तुते तत्कारणं प्रियविच्छेदोऽभिहितः ।

'अस्ताचलं चुम्बति भानुबिम्बे गृहे गृहे गोकुलसुन्दरीणाम् ।
दिव्यानुलेपाभरणाम्बराणि कृष्णाह्रियन्ते परितः सखीभिः ॥'

अत्र कृष्णान्तिकागमने कारणे प्रस्तुते तत्कार्यमनुलेपाहरणाद्युक्तम् ॥

'शङ्के नीताः सपदि दशमस्कन्धपद्यावलीनां
वर्णान्कर्णाध्वनि पथिकतामानुपूर्व्याद्भवन्तः ।

कार्य इति । निमित्ते कारणे ।

कारणादेरिति । यथासंभवं प्रतियोगिनो ग्राह्याः ।

प्रियामिति । दुःखं पृच्छन्तीं वयस्यां प्रति काचिदाह । निपाय पीत्वा । उदारो महान्, अधरासवप्रदो वा । अत्र प्रियविच्छेदरूपकारणाक्षिप्तस्य दुःखावाप्तिरूपकार्यस्यानुरागोत्कर्षकत्वादस्यालंकारता । एवं सर्वत्रोह्यम् ।

अस्ताचलमिति । दूती हरिमाह । चुम्बति गच्छति सतीत्यर्थः ।

शङ्के इति । भगवद्गुणव्याख्यातॄन् बालान् प्रति श्रीभागवतशास्त्रमहिमज्ञो वृद्धो ब्रवीति । नीता इति कर्तरि क्तः । हंहो, डिम्भाः शिशवः । सुखमयं मोक्षमपीति सुखैश्वर्यप्रधानमेव तम् । न तु प्रेमसेवाप्रधानमपीत्यर्थः । स्कन्धसामान्ये स्कन्धमात्रे ।

हंहो डिम्भाः परमशुभदान्हन्त धर्मार्थकामान्
यद्गर्हन्तः सुखमयममी मोक्षमप्याक्षिपन्ति ॥'

अत्र चतुर्वर्गतिरस्कारितया स्कन्धसामान्ये प्रस्तुते दशमस्य तद्विशेषस्योक्तिः।

'रमणी कमनीयाङ्गी रागिणी च विशेषतः।
प्रणयेनानुनेयेति तथ्यं नाथ वदामि ते ॥'

अत्र मानिनीं मत्सखीं त्वमनुनयेति विशेषे प्रस्तुते सामान्यस्य।

तुल्ये प्रस्तुते तुल्यस्योक्तौ तिस्रो विधाः श्लेषः समासोक्तिः सादृश्यमात्रं चेति।

क्रमेणोदाहरणम्—

'त्यजन्कुवलयाधिकां धनरसश्रियोल्लासिनीं
पुरः सुरतरङ्गिणीं मधुरमत्तहंसस्वनाम्।
मलीमसपयोधरामपि मदान्धपद्मिन्निमां
भजन्किमिव पङ्किलामहह कर्मनाशामसि ॥'

अत्र नायिकादेः प्रस्तावे तत्तुल्यो नद्यादिरुक्तः कुवलयादिशब्दानां द्व्यर्थकत्वात् श्लेषच्छाया।

रमणीति। सामान्यमप्रस्तुतम्। निजसखीरूपो विशेषस्तु प्रस्तुतः।

तुल्य इति। श्लेषसमासोक्ती तदाभासरूपे, परत्र छायापदोक्तेः।

त्यजन्निति[1]। स्वविपक्षां पश्यन्तं हरिं प्रति स्वमभियुञ्जाना काचित्प्रगल्भाह। कुवलयं नीलकमलं भूमण्डलञ्च। धनरसोऽम्बु शृङ्गारश्च। सुरतरङ्गिणी गङ्गा रतिरङ्गिणी च। पयो वारि, पयोधरौ कुचौ च। पद्मिन् हस्तिन् लीलाकमलधारिंश्च। पङ्कः कर्दमः पापं च। कर्मनाशा मागधी पापनदी, विनष्टविदग्धक्रिया च।

श्लेषच्छायेति। अप्रकृतात् प्रकृताक्षेपात् प्रकृतावप्रकृतौ वार्थौ श्लेषस्य विषयः।

---

१. त्यजतीति ख।

'किं चातकीरपि रसस्पृहयैकताना
वर्षन्तमम्बुदमपि स्ववशे नयन्ती ।
वात्ये विधाय दृगगोचरमेव तासां
छन्नेन राजसि रजोभिरनेन कामम् ॥'

अत्र रासे हरिणा त्यक्तानां गोपीनां तेनोपभुक्तायाश्च मुख्यायाः प्रस्तावे तत्तुल्यानां चातकीनां वात्यायाश्चोक्तिः । चातकीप्रभृतीनां प्रतिनायिकादित्वं विशेषणसामर्थ्यादवसेयमिति समासोक्तिच्छाया ।

'चन्द्रिकां चन्द्रलेखायाश्चकोरे पातुमुद्यते ।
पिधानं विदधे सद्यः शरदम्भोधरावली ॥'

अत्र गान्धर्विकाकृष्णयोर्जरत्याश्च प्रस्तावे तत्तुल्ययोश्चन्द्रिकाचकोरयोः शरदब्दश्रेण्याश्चोक्तिरिति सादृश्यमात्रम् ॥

किं चातकीति । कृष्णेन सह विहरन्तीं राधामुद्दिश्य तद्वियुक्तानां विपक्षाणामुक्तिः । हे[1] वात्ये चातकीरम्बुदं च स्ववशे नयन्ती त्वं तासां चातकीनां दृगगोचरं तमम्बुदं विधाय रजोभिश्छन्नेनानेनाम्बुदेन किं राजसीत्यनुषङ्गः । अत्र रसः स्वाद्यम्बु शृङ्गारादिश्च । वर्षणं जलविक्षेपः स्मितादिप्रकाशश्च । स्ववशत्वं पवनकृताकृष्टिः स्वाधीनत्वं च । रजांसि रेणवः । रजोगुणकार्यभूता गर्वादयश्च ।

अत्रेति । अप्रकृतात् प्रकृताक्षेपात् समासोक्तिच्छायेति बोध्यम् । न तु समासोक्तिः । प्रकृते अप्रकृतव्यवहारसमारोपाभावात् । यदुक्तम्—

'समासोक्तिः समैर्यत्र कार्यलिङ्गविशेषणैः ।
व्यवहारसमारोपः प्रकृतेऽन्यस्य वस्तुनः ॥' इति । [साहित्यदर्पण १०. ५६]

लिङ्गं स्त्रीपुंनपुंसकादि ।

चन्द्रिकामिति । गान्धर्विकाकृष्णयोः संन्निधौ सति जटिलामागतां वीक्ष्य पौर्णमास्याह[2] । अत्राप्रस्तुतप्रस्तुतयोः कारणकार्यभावाद्यप्रतीतेः श्लेषाभावाच्च सप्तमप्रकारोऽयम् ।

---

१. 'हि' क । २. पौर्णमास्यामाह क, ख ।

वाच्ये ज्ञाप्यस्यारोपादनारोपाच्च क्वचिदेषा दृश्यते ।

क्रमेणोदाहरणम्—

'धन्यो जनपदो यत्र गङ्गाद्याः सरितोऽमलाः ।
पापे मयि मरौ नैकः कूपोऽपि सुलभोदकः ॥'

अत्राचेतनस्य मरोः प्रस्तुतनिर्विण्णपुरुषत्वारोपेणैव वचनोपपत्तिः ।

'भविष्यत्यद्य वा श्वो वा वसन्तसमयागमः ।
कथं म्लायसि वासन्ति प्रयास्यसि महोत्सवम् ॥'

अत्र ज्ञाप्याया नायिकाया विनैवारोपं लतावृत्तान्तेनैव वाच्यार्थोपपत्तिः ।

निगीर्याध्यवसानं तु प्रकृतस्य परेण यत् ।
प्रस्तुतस्य यदन्यत्वं यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम् ॥१५॥

कार्यकारणयोर्यश्च पौर्वापर्यविपर्ययः ।
विज्ञेयातिशयोक्तिः सा,

वाच्य इति । वाच्येऽप्रस्तुते । ज्ञाप्यस्य प्रस्तुतस्य ।

धन्य इति । कस्यचिन्निर्विण्णस्योक्तिः । सरितो नद्यः ।

भविष्यतीति । प्रोषितप्रियामुद्दिश्य काचिदाह । हे वासन्ति माधवि ?

निगीर्येति । निगरणमुपमेयधर्माविषयीकरणम् । अध्यवसानमुपामनतादात्म्यारोपणम् । तच्च भेदप्रतीत्यसहकृताहार्यनिश्चयरूपम् । तेन रूपकस्य सन्देहोत्प्रेक्षयोश्च व्यावृत्तिः । आद्यस्य भेदाभेदरूपत्वादितरयोस्तु संशयत्वात् । आहार्यत्वेन भ्रान्तिमदलंकाराद् व्यावृत्तिः प्रस्तुतस्य प्रकृतस्याप्रकृतस्य चेति बोध्यम् । सामान्यलक्षणं त्वतिशयप्रतिपत्तयेऽन्यस्यान्यतादात्म्यप्रतिपादनं ज्ञेयम् ।

अन्तर्निगीर्णस्योपमेयस्य यदुपमानेन निरूपणं सातिशयोक्तिः प्रथमा । यच्च तदेव वस्त्विदमन्यदेवेति निरूप्यते सा द्वितीया । यदिचेच्छब्दाभ्यां यद्यर्थस्योक्तौ याऽसंभवार्थस्य कल्पना सा तृतीया । हेतोः शीघ्रकारितां वक्तुं कार्यस्य या प्रागुक्तिरेककालता वा सा चतुर्थी ।

क्रमेणोदाहरणम्—

'तवाद्य शुभरोहिणी वृषभराशिभाजः परा-
मवेत्य गणनादहं सुखसमृद्धिमत्रागता ।
तदेहि मुदिराकृते परमचित्रकोदण्डभा-
गखण्डविधुमण्डला भवति विद्युदुद्द्योतताम् ॥'

अत्र विद्युद्विधुमण्डलचित्रकोदण्डतया श्रीराधिका तन्मुखभ्रुवोऽध्यवसीयन्ते ।

'अन्यैव सौन्दर्यसमृद्धिरस्याः
भङ्गी तथान्या वपुषो दृशोश्च ।
स्वान्तस्य चोल्लासभरस्तथान्यो
राधैव सान्या प्रियसंगमेन ॥'

'पूर्णो यदि स्यादनिशं सुधांशुः
स चेत्कलंकेन भवेद्विहीनः ।

अन्तरित्यादि । यदिशब्देन चेच्छब्देन वा यद्यर्थस्योक्तिः संभवतीति तथा व्याख्यातम् । कल्पनमप्यसंभवदवस्थस्यार्थस्य तत्र भवेदिति तथा ।

तवेति । कापि दैवज्ञा दूती कृष्णं वदति । गणनात्तव परां सुखसमृद्धिमहमद्यावेत्यात्र वक्तुमागता । तत्तस्मादेह्यागच्छ । हे मुदिराकृते नवघनश्याम भवति त्वयि विद्युत् सौदामिनी उद्द्योतताम् । कीदृशस्य । शुभरोहिणीवृषभराशिभाजः । त्वद्राशेरद्येदं फलं भवतीत्यर्थः । अत्र कोदण्ड-विधुविद्युद्रूपतया भ्रूयुग्मवदनगौराङ्ग्यो निरूप्यन्ते ।

अन्यैवेति । काचित् सखी श्रीराधां वर्णयति । एवकारेण धर्मिभेदाभावसूचनात् पूर्वतो भेदः । अस्याः सौन्दर्यसमृद्धिरन्यैवेत्युक्ते सौन्दर्यसमृद्ध्यन्तरादतिशयः ।

पूर्ण इति । श्रीकृष्णस्योक्तिः । अत्र सुधांशोरास्यदास्ययोग्यता सभावितैव, न तु स्वरूपसती,

चकोरपेयोऽपि न चेदयं स्या-
त्वदास्यदास्याय तदैव राधे ॥'

'प्रागेव हरिणाक्षीणां विवेश हृदयं स्मरः ।
दृग्गोचरोऽभवत्पश्चाद्भवान्भुवनमोहनः ॥'

'आश्लिष्यन्ति समं देव ज्यां परांश्च तवेषवः ॥'

प्रतिवस्तूपमा तु सा ॥१६॥

सामान्यस्य द्विरेकस्य यत्र वाक्यद्वये स्थितिः ।

एकस्य साधर्म्यस्योपमानवाक्ये उपमेयवाक्ये च शब्दभेदेन चेद्वृत्तिस्तदा प्रतिवस्तूपमा ।

उदाहरणम्—

हरिभक्तिरसाभिज्ञो न मोक्षमभिकाङ्क्षति ।
प्रसूनमपरं भृङ्गो नेच्छत्यम्बुजलम्पटः ॥'

तेनास्यास्यातिशयः ।

यत्र कार्यकारणयोः पूर्वपश्चाद्भावित्वं वर्ण्यते सा चतुर्थी । तामुदाहरति—प्रागेवेति । कृष्णं प्रति दूतीवाक्यम् । भवान् पश्चात् हृदयं विवेशेति सबन्धः । अत्र कृष्णदर्शनं हेतुः स्मरप्रवेशस्तु कार्यम् । तयोरिह पूर्वपश्चाद्भावेनोपनिबन्धो नास्तीति लक्षणसंगतिः । हेतोः शीघ्रकारित्वमलंकारत्वबीजम् ।

यौगपद्यरूपां तामुदाहरति—आश्लिष्यन्तीति । कृष्णं वन्दिनः स्तुवन्ति । ज्यां शिञ्जिनीम् । परान् रिपून् । अत्र ज्याश्लेषो हेतुः पराश्लेषः कार्यम् । तयोः सहोपनिबन्धनाल्लक्षणसंगतिः ।

प्रतिवस्तूपमेति । वस्तुनो वाक्यार्थस्योपमानत्वात् ।

शब्दभेदेनेति । अन्यथा कथितपदत्वापत्तिः ।

हरीति । भक्तिरहस्यज्ञस्योक्तिः । मोक्षं स्वसुखैश्वर्यप्रधानम् ।

अत्रोभयत्रापि वाक्ये स्पृहारूप एको धर्मः शब्दभेदेनोपात्तः।

मालारूपा च यथा—

यदि दहत्यनलोऽत्र किमद्भुतं,
यदि च गौरवमद्रिषु किं ततः।
लवणमम्बु सदैव महोदधेः
प्रकृतिरेव सतामविषादिता॥'

अत्र सर्वत्र स्वाभाविकत्वमेको धर्मः।

दृष्टान्तः पुनरेतेषां सर्वेषां प्रतिबिम्बनम्॥१७॥

सर्वेषां धर्माणां प्रतिबिम्बवद्भासनं दृष्टान्तः। स च साधर्म्येण वैधर्म्येण चेति द्वेधा।

क्रमेणोदाहरणम्—

'जनः कृष्णपदध्यायी विषयान्नाभिवाञ्छति।
माकन्दमुकुलास्वादी निम्बकान्नात्ति कोकिलः॥'

अत्रेति। काङ्क्षति इच्छतीति शब्दभेदेनैक एव स्पृहारूपो धर्मोऽत्र गृह्यते।

यदीति। साधुशीलं कश्चिद्वर्णयति। स्वाभाविकत्वादेव नाद्भुतत्वम्। एवं किं ततः इत्यादावपि बोध्यम्। अविषादिता विषादविरहः, सतां प्रकृतिः स्वभावः।

अत्रेति। स्वाभाविकत्वरूपमेकं धर्मं शब्दभेदेन सर्वत्र गृहीतमिति भावः।

दृष्टान्त इति। पुनरित्युक्तेः पूर्वतो भेदः। सर्वेषां प्रकृतकोटिगतानाम्, प्रतिबिम्बनं बिम्बप्रतिबिम्बभावः। स च विशेषणयोर्विशेष्ययोश्च सादृश्यनिर्देशे सति भवति न त्वेकस्य। तथैवोदाहृतौ दृश्यम्। दृष्टोऽन्तो निश्चयो यत्र स दृष्टान्तः। दृष्टान्तवाक्येन दार्ष्टान्तिकवाक्यार्थनिश्चयस्य यत्र प्रामाण्यग्रहो भवतीत्यर्थः।

हरिभक्तौ सत्यां विषयाभिलाषादयत्नतो निवृत्तिर्भवतीति भूषणकविराह—जन इति। माकन्द आम्रः।

'त्वयि दृष्टे जगन्नाथ नष्टा मम भवव्यथा ।
दृष्टा नीरजवृन्दस्य ग्लानिरस्तं गते रवौ ।

प्रतिवस्तूपमायामेकस्यैव धर्मस्य द्विधा कृतिः ।

दृष्टान्ते धर्मयोः साम्यम्, अर्थान्तरन्यासे तु सामान्यविशेषरूपयोर्वाक्यार्थयोः समर्थ्य-समर्थकभाव इत्येषामसांकर्यं भाव्यम् ॥

सकृद्वृत्तिस्तु धर्मस्य प्रकृताप्रकृतात्मनाम् ।
सैव क्रियासु बह्वीषु कारकस्येति दीपकम् ॥१८॥

उपमानोपमेयानां धर्मः क्रियादिर्यदि सकृदुपादीयते यदि वा बह्वीषु क्रियास्वेकं-कारकं तदा दीपकम् ।

क्रमेणोदाहरणम्—

'नदीनां च वधूनां च' इत्यादि [पृ० ४०] । अत्र प्रेम्णां प्रकृतत्वादुपमेयत्वम् । नद्यादीनामप्रकृतत्वादुपमानत्वम् । वक्रगतिरूपो धर्मस्तु सकृदुपात्तः ।

'लज्जते चिन्तयत्यन्तर्मुहुर्नन्दति ताम्यति ।
मुह्यति प्रथमं प्राप्य राधा माधवदर्शनम् ॥'

त्वयीति । जगन्नाथं दृष्ट्वा भूपणस्तमाह । भवव्यथा संसारदुःखम् । ग्लानिः संकोचः । भवव्यथाग्लान्योः संतोषविरोधित्वात्साम्यम् । तयोः सत्त्वासत्त्वाभ्यां वैधर्म्यम् ।

सकृद्वृत्तिरिति । वृत्तिरुपादानम् । सैव सकृद्वृत्तिरेव ।

प्रकृताप्रकृतयोः सजातीयधर्मसम्बन्धस्योपमायां पर्यवसानादुक्तम्—उपमानोपमेयानामिति । प्रकृतस्याप्रकृतैर्यद्येको धर्मस्तदा दीपकम् । एकदेशस्थित्यापि समस्तवाक्यदीपनात् ।

नदीनामिति । गतं प्राक् ।

लज्जत इति । सख्योः संवादः । अत्रैकस्य राधेति कर्तृकारकस्य बह्वीषु क्रियासु सकृद्ग्रहणाद् दीपकमलंकारः । एवं कारकान्तरेणाप्युदाहरणीयम् ।

मालादीपकमाद्यं चेद्यथोत्तरगुणावहम् ।

पूर्वंपूर्वं चेदुत्तरोत्तरं कुर्यात्तदा मालादीपकम् ।

उदाहरणम्—

'भाग्यैर्भूम्या भवान्प्राप्तो भवता महिता मतिः ।
मत्या मुमुक्षुशरणं चरणं मुरवैरिणः ॥'

नियतानां सकृद्धर्मः सा पुनस्तुल्ययोगिता ॥१९॥

प्रकृतानामेवाप्रकृतानामेव वा धर्मश्चेत् प्रकाश्यते तदा तुल्ययोगिता ।

उदाहरणम्—

'दृष्टिं निधाय सुरभीनिकुरम्बवीथ्यां
कृष्णेति वर्णयुगलाभ्यसने रसज्ञाम् ।
शुश्रूषणे मुरलिनिस्वनितस्य कर्णौ
चित्तं मुखे तव नयत्यहरद्य राधा ॥'

अत्र प्राकर्णिकानामेव दृष्ट्यादीनां निधानरूपैकक्रियासंबन्धः ।

मालादीपकमिति । उपकुर्यात् प्रकृतोत्कर्षायोन्मुखीकुर्यात् ।

भाग्यैरिति । अम्बरीषं प्रति कश्चित्कविराह । अत्र भूम्यादिभिः पूर्वपूर्वैरुत्तरोत्तरेषु प्राप्तिक्रियाकर्मकरणरूपोपकाराल्लक्षणसंगतिः । परमपुमर्थरूपभगवत्पादलाभान्नृपतेरुत्कर्षः । यथा मालायां पूर्वग्रथितकुसुमानामुत्तरोत्तरधारकत्वादुपकारकता तथात्रापीति मालारूपत्वम् । एकस्याः प्राप्तिक्रियायाः संबन्धाद्दीपकता । उत्तरोत्तरस्य पूर्वपूर्वोत्कर्षकत्वे त्वेकावलीति ततोऽस्य भेदः ।

नियतानामिति । प्राधान्येनाप्राधान्येन वर्ण्यानाम् ।

दृष्टिमिति । दूती कृष्णमाह ।

यथा वा—

'त्वदङ्गमार्दवे दृष्टे कस्य चित्ते न भासते ।
मालती शशभृल्लेखा कदलीनां कठोरता ॥'

अत्र मालत्यादीनामप्राकरणिकानामेव कठोरतारूपैकगुणसंबन्धः ।

उपमानाद्यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः ।

अन्यस्योपमेयस्य व्यतिरेक आधिक्यम्, स व्यतिरेकाख्योऽलंकारः । तद्भेदानाह—

हेत्वोरुक्तावनुक्तीनां त्रये साम्ये निवेदिते ॥२०॥
शब्दार्थाभ्यामथाक्षिप्ते श्लेषे तद्वत्त्रिरष्टता ।

उपमेयोत्कर्षोपमाननिकर्षयोराधिक्यस्य तयोर्युगपदुक्तावेकः । पर्यायेण युगपद्वानुक्तौ पुनस्त्रयः । एवं चत्वारो भेदाः । एषु शब्देनार्थेन च साम्ये बोधिते, तथा क्षिप्ते च सति ते द्वादश स्युः । अथ श्लेषेऽपि तेषां संभवाच्चतुर्विंशतिविधो व्यतिरेकः । साम्यमुपमा ।

क्रमेणोदाहरणम्—

'रूपं रूपय राधायाः शृणु माधव सादरम् ।
अकलङ्कं मुखं तस्या न कलङ्की विधुर्यथा ॥'

त्वदङ्गेति । राधां हरिराह । शशभृल्लेखा द्वितीया चन्द्रकला तस्या सुकोमलत्वात् । एवमन्यदूह्यम् ।

उपमानादिति । उपमेयन्यूनतायामपि व्यतिरेको मृग्यः ।

'हनूमदाद्यैर्यशसा मया पुनर्द्विषां हसैर्दूतपथः सितीकृतः । इति'

नलमहीपतौ स्वनिन्दयापकर्षे प्रतीतेऽपि व्यतिरेकदृष्टेः ।

एष्विति । इवादेः प्रयोगे साम्यबोधः शाब्दः तुल्यादेरार्थः । जयादेस्त्वाक्षिप्त इति लक्ष्येषु द्रष्टव्यम् । आक्षेप इह व्यञ्जना । त्वन्मुखं चन्द्रं जयति, स्पर्धते, विवदतीत्यादौ साम्यस्य व्यङ्ग्यत्वात् । प्रायः समेष्वेव जयादिव्यवहारदर्शनात् ।

रूपमिति । प्रथमः पादः कृष्णस्योक्तिः । त्रिपादी तु दूत्यः । रूपय निरूपय, वर्णयेति यावत् ।

अत्र यथाशब्दप्रयोगच्छाब्दं साम्यम् ।

'राधिका नाथ निःसीमगुणसौन्दर्यशालिनी ।
निर्गुणान्यव्रजस्त्रीवन्नेयमेनां प्रसादय ॥'

अत्र तुल्यार्थे वतिरित्यार्थं साम्यम् ।

'निर्मलं त्वन्मुखं राधे जयतीन्दुं सलाञ्छनम् ।'

अत्र यथेव तुल्यादिशब्दाभावादाक्षिप्तं साम्यम् । एषु त्रिषु भेदेष्वकलङ्कत्वकलङ्कित्वयो र्गुणादिशालित्वनिर्गुणत्वयो र्निर्मलत्वसलाञ्छनत्वयो र्हेत्वो र्युगपदुक्तिः । अनयोः क्रमेण युगपद्वानुक्तावन्येऽपि त्रयस्त्रिकाः प्रकाराः संभवन्तीति द्वादश भेदाः ।

अथ श्लेषेऽपि दर्श्यते—

'न चन्द्रवत्कलाः क्षीणाः कलातन्त्रगुरोस्तव ।
अतस्त्वामभिलष्यन्ती राधा बाधाशतं गता ॥'

अत्रेवार्थे वतिः । कलाशब्दः श्लिष्टः । तन्त्रगुरुत्वक्षीणत्वयोर्हेत्वोरुक्तिः ।

'दानस्निग्धकरः शश्वन्मुरारिः परवारणः ।
नान्यवारणवद्धामे पद्मिनीगणभञ्जनः ॥'

राधामानकार्कश्यात्पराङ्मुखं कृष्णं दूत्याह—राधिकेति । हे कृष्ण निर्गुणया समानोर्ध्वगुणरहितयाऽन्यया व्रजस्त्रिया तुल्या न भवतीति, किन्तु समानोर्ध्वगुणविशिष्टेयं माननीयैव भवतीत्यर्थः । अत्र तुल्यार्थे वतिः' इति सूत्रार्थः पूर्वं व्याख्यातो द्रष्टव्यः ।

एष्विति । क्रमेणैव हेत्वोर्योजनं कार्यम् ।

न चन्द्रवदिति । कृष्णं दूत्याह । षष्ठयन्ताद्वतिः । कला चित्रादिकौशलं चन्द्रषोडशभागश्च ।

दानेति । सत्यभामां प्रति काचित्सख्याह । दानं मदाम्बु वितरणं च । करः शुण्डा हस्तश्च । परवारणः गजराजः शत्रुनिवारकश्च । पद्मिनी कमलिनी नायिकाविशेषश्च ।

अत्र तुल्यार्थे वतिः। दानकरादिशब्दाः श्लिष्टाः। शश्वद्दानस्निग्धकरत्वपद्मिनीगणभञ्जनत्वयोर्हेत्वोरुक्तिः।

सदोदित्वरतेजःश्रीं रजनीविहतप्रभम्।
भास्वन्तं जितवानेष भास्वान्वृन्दावनेश्वरः॥'

अत्रेवादिशब्दाभावादाक्षिप्तं साम्यम्। भास्वच्छब्दः श्लिष्टः। आद्यपादयोर्हेत्वोरुक्तिः। अनुक्तिषु भेदास्तु प्राग्वद् बोध्याः। तदेवं चतुर्विंशति र्व्यतिरेकाः।

निषेधो वक्तुमिष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया ॥२१॥
वक्ष्यमाणोक्तविषयः स आक्षेपो द्विधा मतः।

क्रमेणोदाहरणम्—

'सखि विरहे वनमाली विलोक्य दत्तं त्वया हारम्।
हन्त नितान्तमिदानीं निर्दयहृदि किं भणिष्यामः॥'

अत्र वक्ष्यमाणस्य हरिविरहदुःखस्य प्रतिषेधस्त्वां विना स न भविष्यतीति तस्य विशेषः।

'नवनीतनिभा राधा बाधा स्मरशराग्निजा।
निर्दयस्त्वमिहोक्तेन किं वा न ब्रूमहे वयम्॥'

अत्रोक्तस्यालीविरहदुःखस्य प्रतिषेधस्तस्याशक्यकथत्वं तु विशेषः।

सदेति। रक्तकः पत्रकमाह। तेजः प्रतापः पराक्रमश्च। भाः किरणस्तनुकान्तिश्च।

तदेवमिति। उपमेयादुपमानस्याधिक्ये पुनश्चतुर्विंशतिस्ते स्युरिति परैरुक्तमिह न स्वीकृतम्।

निषेध इति। वक्तुमिष्टस्याप्यर्थस्य विशेषविवक्षया यः प्रतिषेधः स आक्षेपः।

सखीति। श्रीराधां विशाखाह। इदानीमिति। विरहसंज्वरग्रस्तो लुठतीति वक्ष्यमाणम्।

नवनीतेति। कृष्णं दूत्याह।

क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्तिर्विभावना ॥२२॥

हेतुभूतक्रियाविरहेऽपि कार्योत्पत्तिर्विभावना । अत्र विनापि हेतुं कार्योदयोपनिबन्धो हेत्वन्तरसापेक्षो भवितुं युक्तः । तच्च क्वचिदुक्तं क्वचिदनुक्तमिति द्वेधा ।

'अनायासकृशं मध्यमशङ्कातरले दृशौ ।
अभूषणमनोहारि वपुर्वयसि सुभ्रुवः ॥

अत्र वयो निमित्तमुक्तम् । अत्रैव 'वपुर्दीव्यति सुभ्रुवः' इति पाठे त्वनुक्तं तत् ।

विशेषोक्तिरखण्डेषु कारणेषु फलावचः ।

कारणकलापे सत्यपि कार्यानुक्तिः विशेषोक्तिः । सापि पूर्ववद् द्वेधा ।

क्रमेणोदाहरणम्—

'त्वां शीलरूपचरितैः परमप्रकृष्ट-
सत्त्वेन सात्त्विकतया प्रबलैश्च शास्त्रैः ।

क्रियाया इति । अत्र फलोक्तेः क्रिया हेतुभूतैव लभ्यते । तच्च हेत्वन्तरं जनकं बोध्यम् ।

अनायासेति । जातयौवनां काञ्चिद्वीक्ष्य हरिः सुबलमाह । वयसि तारुण्ये सति ।

विशेषोक्तिरिति । स्पष्टम् ।

कारणेति[1] सति मिलितेऽपीत्यर्थः । पूर्ववदिति । हेतुसमवधानेऽपि कार्यानुदयोपनिबन्धः प्रतिबन्धकभूतं हेत्वन्तरमपेक्षते । तच्चोक्तमनुक्तं वेति द्वेधा सेत्यर्थः ॥

त्वामिति । भगवन्तं प्रति श्रीयामुनाचार्याणामुक्तिः । त्वां महद्भ्योऽपि महत्तरत्वेन पूर्वोक्तमित्यर्थः । शीलं मर्कटादिभिर्मन्वतमैरपि निष्कपटप्रणयः । रूपमप्राकृतदिव्यमङ्गलविग्रहः । चरितं विश्वसृष्ट्यादिसेतुनिर्माणगोवर्धनोद्धरणादि चातिमानुषदैवतं कर्म । परमप्रकृष्टेन विशुद्धेन सत्त्वेन सात्त्विकतया प्रबलैः शास्त्रैः श्रीविष्णुपुराणादिभिः प्रख्यातास्च ते दैवपरमार्थविदश्चाराध्यभूतसत्यवस्तुबोद्धारः वाल्मीकिव्यासादिमहर्षयस्तेषां मतैश्च विद्यमानैरपि बोद्धुं न प्रभवन्ति । सर्वेश्वरत्वेन ज्ञातुं न

---

१. 'स्पष्टम् । कारणे'ति च क, ख पुस्तकयोः नास्ति ।

प्रख्यातदैवपरमार्थविदां मतैश्च
नैवासुरप्रकृतयः प्रभवन्ति बोद्धुम् ॥'

अत्रासुरी प्रकृतिर्हेत्वन्तरम् ।

'धनिनोऽपि निरुन्मादा युवानोऽपि न चञ्चलाः ।
प्रभवोऽप्यनहंकाराः कियन्तः सन्ति भूतले ॥'

अत्र हेतुर्नोपात्तः ।

यथा वा—

'कृष्णस्य चञ्चलकटाक्षशरेण भिन्नं
शूलाकरोषि हृदयं त्वमनङ्ग किं नः ।
भस्मीकृतस्य भवतो वृषभध्वजेन
किं भस्मसान्न हि कृतो बत बाहुदर्पः ॥'

अत्र बाहुभस्मीभावस्तद्दर्पभस्मीभावे हेतुः । जाते च तस्मिन् स नाभूदिति सत्यपि हेतौ कार्यानुक्तिः । अचिन्त्यहेतुकेयमिति भिदान्तरं केचिदाहुः । किं त्वनुक्तहेतुकैवेयम् ।

यथासंख्यं क्रमेणैव क्रमिकाणां समन्वयः ॥२३॥

शक्नुवन्तीत्यर्थः । आसुरी तामसी प्रकृतिर्येषां ते । तान् प्रति शोचनात्र व्यज्यते । अत्र शीलादिषु बोधकारणेषु सत्स्वपि तत्कार्यस्य बोधस्यानुदयाद्विशेषोक्तिः ।

धनिनोऽपीति । युधिष्ठिरमुद्दिश्य नारदस्योक्तिः । प्रभवः समर्थाः ।

अत्रेति । हेतुर्भगवद्भक्तिः ।

कृष्णस्येति । स्मरेण पीडिता गोप्यस्तं शपन्ते । वृषभध्वजेन शम्भुना ।

अत्रेति । तद्दर्पो बाहुदर्पः । तस्मिन् बाहुभस्मीभावे । स बाहुदर्पभस्मीभावः ।

केचिदिति । मम्मटादय इत्यर्थः ।

किंत्विति । तस्यापि भिदान्तरस्यानुक्तहेतुकेऽन्तर्भावसंभवादिति भावः ।

यथा—

'उन्मीलन्ति नखैर्लुनीहि, वहति क्षौमाञ्चलेनावृणु,
क्रीडाकाननमाविशन्ति वलयक्वाणैर्मुहुस्त्रासय ।
इत्थं वञ्जुलदक्षिणानिलकुहूकण्ठेषु सांकेतिक-
व्याहाराः सुभग त्वदीयविरहे राधासखीनां मिथः ॥'

सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते ।
यत्र सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेण वा ॥२४॥

साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां सामान्यं विशेषेण चेत् समर्थ्यते विशेषो वा सामान्येन तदार्थान्तरन्यासश्चतुर्विधः ।

तत्र साधर्म्यात्सामान्यं विशेषेण यथा—

'बृहत्सहायः कार्यान्तं क्षोदीयानपि गच्छति ।
संभूयाम्भोधिमभ्येति महानद्या नगापगा ॥'

अत्र परार्धार्थेन विशेषेण सामान्यात्मा पूर्वार्धार्थः सोपपत्तिकः क्रियते ।

वैधर्म्याद्यथा—

'गुणानामेव दौरात्म्याद्धुरि धुर्यो नियुज्यते ।
असंजातकिणस्कन्धः सुखं स्वपिति गौर्गडिः ॥'

अत्र परार्धेन पूर्वार्धः समर्थ्यते ।

कृतव्रजदर्शन उद्धवः कृष्णं प्रति राधिकाविरहोद्रेकं वर्णयति—उन्मीलन्तीति । वञ्जुला उन्मीलन्त्यङ्कुरानुद्गमयन्तीति कयाचिदुक्तेऽन्याह—नखैर्लुनीहीति । दक्षिणानिलो वहतीत्युक्तेऽन्याह—क्षौमाञ्चलेनावृण्विति । कुहूकण्ठाः क्रीडाकाननमाविशन्तीत्युक्तेऽन्याह—वलयक्वाणैस्त्रासयेति । एकत्र बहूनां क्रमेणोपन्यासश्चमत्कारीत्यस्यालंकारता ।

सामान्यं वेति । समर्थनमुपपत्तिविन्यासः ॥

बृहदिति । माघे उद्धवस्योक्तिः । क्षोदीयान् क्षुद्रतरः । संभूय मिलित्वा । नगापगा पर्वतजा क्षुद्रनदी ।

गुणानामिति । किणः शुष्कव्रणग्रन्थिः ।

साधर्म्याद्विशेषः सामान्येन यथा—

'निर्वेदमाप न च न श्रमणो मुरारि-
नाचिन्तयद्व्यसनमृक्षबिलप्रवेशे।
आहृत्य हन्त मणिमेव पुरं प्रपेदे
स्यादुद्यमः कृतधियां हि फलोदयान्तः॥'

अत्र विशेषरूपस्त्रिपाद्यर्थश्चतुर्थपादेन सामान्येन समर्थ्यते।

वैधर्म्याद्यथा—

'प्राणाः प्रयान्तु मे सद्यस्त्यक्ताया नन्दसूनुना।
सत्यं ता एव जीवन्तु यासां फलवती कृतिः॥'

अत्र पूर्वार्धः परार्धेन समर्थ्यते।

विरोधः सोऽविरोधेऽपि विरुद्धत्वेन यद्वचः।

वस्तुतो विरोधाभावेऽपि विरुद्धतोरिवोभयोरुक्तिर्विरोधः।

तं विभजते—

जातिश्चतुर्भिर्जात्याद्यैर्विरुद्धा स्याद् गुणस्त्रिभिः॥२५॥
क्रिया द्वाभ्यामथ द्रव्यं द्रव्येणैवेति ते दश।

निर्वेदेति। नारदं प्रत्युद्बोधितः। ऋक्षस्य जाम्बवतः। मणिं स्यमन्तकम्।

प्राणा इति। विरहिणीव्याहारः। कृतिः प्रयत्नः, नन्दसूनुसमागमानुकूलरूपः। अत्र विपर्ययेण साधर्म्यपर्यवसानादन्यासामपि मादृशीनां प्राणस्थितिर्दुःशकैवेति सत्यमेतत्। अनुपपद्यमानतया संभाव्यमानस्यार्थस्योपपादनायार्थान्तरस्योपपादकतयोपन्यासोऽर्थान्तरन्यासः।

विरोध इति। स्पष्टम्[1]।

वस्तुत इति। अन्यथा विरोध एव स्यान्न विरोधाभासः।

---

१. 'स्पष्टम्' इति क, ख पुस्तकयोर्न पठ्यते।

क्रमेणोदाहरणानि—

'दावस्तवायं तुहिनाद्रिवायुः सरोरुहं संचरदुष्मसंपत्।
स्वान्तं निकृन्तन्ति पिकानि कामं वराम्बरं हालहलं किमेतत् ॥'

अत्र वायुसरोरुहपिकाम्बरशब्दा जातिवाचिनः।

दावोष्मकृन्तनहालहलशब्दाः क्रमाज्जातिगुणक्रियाद्रव्यवाचिनः। एषु प्रतियुग्मं मिथो विरोध इव भासते।

'ध्वनिः पिकानां मधुरोऽप्यभूत्कटुः
शीतोऽपि दाहं तनुते स्म मारुतः।
सुकोमलोऽप्यच्युत पुष्पकन्दुको
भवद्वियोगे पविरेव सुभ्रुवः ॥'

अत्र मधुरशीतलसुकोमलशब्दा गुणवाचिनः। कटुदाहपविशब्दास्तु क्रमाद् गुणक्रियाद्रव्यवाचिनः।

'मूर्छयति च जीवयति च मुरहर वंशी तवाङ्गनाराजिः[1]।
साङ्गीभावमनङ्गं नयति च तत्सिद्धिमन्त्रोऽसौ ॥'

अत्र मूर्छनजीवने साङ्गीभावश्च क्रिया। अनङ्गो द्रव्यम्।

'सरसीकुरुते मनांसि नो मुरहर्तुः पुरतो मृगाक्षि यः।
अधुना विपनाय संगते सति तस्मिन्कुलिशः स तु स्मरः ॥'

अत्र स्मरकुलिशौ द्रव्ये।

दावस्तवेति। गुप्तनवानुरागां प्रति सखी पृच्छति। अत्र तुहिनवायुत्वादिभिश्चतसृभिर्जातिभिः सह दावत्वोष्मकृन्तनहालहलानां जातिगुणक्रियाद्रव्याणां विरोधस्तदाभास एव, संयोगे ये पदार्थाः सुखदास्ते वियोगे प्रियादर्शनेन दुःखदा इति समाधानात्।

ध्वनिरिति। कृष्णं विशाखाह। हे अच्युत, पविर्वज्रम्। समाधानं प्राग्वत्।

मूर्छयतीति। वृन्दाह। चित्तस्यानन्दे लयविधानान्मूर्छयति। आनन्दस्य भोग्यस्य दानाज्जीवयति च। साङ्गीभावः सम्यक्प्रकाशनमिति समाधानं च।

---

१. राजीः ख।

'आगता यमुनाकुञ्जं हारिण्यपि विहारिणी।
नित्यं वलययुक्तापि राधा नवलयान्विता॥'

एवमाद्युक्तिवैचित्र्येण श्लेषतोऽपि विरोधो मन्यते।

स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादेः स्वक्रियारूपवर्णनम्॥२६॥

स्वयोस्तदेकाश्रययोश्चेष्टारूपयोः। रूपं वर्णः संस्थानं च।

यथा—

'मुखपुटनिहितकराङ्गुलिरुच्चलचरणः स देवकीसूनुः।
क्षणरुदितस्मितकुशलो व्रजकुलमुदमतितरामतनोत्॥'

यथा वा—

'रागः सप्तसु हन्त षट्स्वपि शिशोरङ्गेष्वलं तुङ्गता
विस्तारस्त्रिषु खर्वता त्रिषु तथा गम्भीरता च त्रिषु।

सरसीति। विशाखां राधाह। कुलिशो वज्रम्। पूर्ववदेव समाधानम्।

आगतेति। काचिद्वनदेवताऽपरामाह। हारादिसद्भावेऽपि हारादिविरह इति विरोधाभासः। हारिणी हारवती। विहारिणी विहरणशीला[1]। वलयानि कलाविकाभूषणानि, नवेन लयेनान्विता च। गीतवाद्यपादादिलास्यानां[2] मिथः साम्यं लय उच्यते तज्जेत्यर्थः।

स्वभावोक्तिरिति। यैः धर्मैश्चमत्कारस्त एवात्रालंकाराः। तेन 'गोरपत्यं बलीवर्दो घासमत्ति मुखेन यः' इत्यत्र न प्रसङ्गः।

मुखपुटेति। पौर्णमासी गार्ग्याह। देवकी श्रीयशोदा। 'द्वे नाम्नी नन्दभार्यं यशोदादेवकीति च' इति वचनात्। व्रजकुलमुदं व्रजजनानन्दम्।

रूपवर्णनामुदाहरति—राग इति। श्रीव्रजराजः स्वमित्रं वदति। सप्तसु नेत्रान्तपादकरतलतालवधरौष्ठजिह्वानखेषु। षट्सु वक्षःस्कन्धनखनासाकटिमुखेषु। त्रिषु कटिललाटवक्षःसु। पुनस्त्रिषु

---

१. 'विहारणशीला' क, ख। २. नास्यानां क, ख।

दैर्घ्यं पञ्चसु किं च पञ्चसु सखे संप्रेक्ष्यते सूक्ष्मता
द्वात्रिंशद्वरलक्षणः कथमसौ गोपेषु संभाव्यते ॥'

व्याजस्तुतिर्मुखे निन्दा स्तुतिर्वा रूढिरन्यथा ।

आदौ निन्दस्तुति र्वा बुध्यते तयोश्चेदन्यथारूढिः पर्यवसानं स्यात्तदा व्याजरूपा व्याजेन वा स्तुतिर्व्याजस्तुतिः । वाच्याभ्यां निन्दास्तुतिभ्यां स्तुतिनिन्दे चेत् क्रमात् व्यज्येते तदेत्यर्थः ।

क्रमेणोदाहरणम्—

'त्वदङ्घ्रिमूलं भजतां मुकुन्द लाभोऽस्तु दूरे वपुषो निजस्य ।
चिरन्तनस्यापि भवेद्विनाशः स्वभाव एवैष तव प्रसिद्धः ॥'

अत्र निन्दया स्तुतिः ।

'जगति त्वत्समो नान्यः स्पृहाशून्यः समीक्ष्यते ।
कृष्णकीर्तनरत्नानि कण्ठे यत्कुरुपे न हि ॥'

अत्र स्तुत्या निन्दा ।

ग्रीवाजङ्घामेहनेषु । पुनश्च त्रिषु नाभिस्वरसत्त्वेषु । पञ्चसु नासाभुजनेत्रहनुजानुषु । पुनः पञ्चसु त्वक्केशदन्ताङ्गुलिपर्वसु । यदुक्तं सामुद्रिकेन—

'पञ्चसूक्ष्मः पञ्चदीर्घः सप्तरक्तः षडुन्नतः ।
त्रिह्रस्वपृथुगम्भीरो द्वात्रिंशल्लक्षणो महान् ॥' इति ।

द्वात्रिंशद् वराणि गोपान्तरवर्तिभ्योऽपि तत्तल्लक्षणेभ्यः श्रेष्ठानि लक्षणानि यस्य सः । गोपेषु कथमिति भगवदवतारेष्वप्येतादृशत्वाश्रवणादिति भावः । अत्र राग इति वर्णवर्णना, तुङ्गतेत्यादिस्तु संस्थानवर्णना चावगमनीया । अत्र प्राकरणिकतुल्ययोगिता च बोध्या । प्रकृतानामेव रागादीनां प्रेक्षारूपैकक्रियाभिः संबन्धात् ।

त्वदङ्घ्रीति । कृष्णं कश्चित्कविराह । अत्र मुकुन्दसेवकाः लिङ्गदेहपर्यन्तं मायामलं निर्धूय नित्यं विशुद्धं तत्पदं विकशन्तीति स्तुतिर्व्यज्यते ।

जगतीति । हरिविमुखं कश्चिद् भक्त उपहसति । अत्र त्वमतिपामरः कृष्णवैमुख्यान्नरकाणि यास्यसीति निन्दा व्यज्यते ।

सा सहोक्तिः सहार्थस्य बलादेकं द्विवाचकम् ॥२७॥

एकान्वयबोधकमपि सहार्थबलादुभयोरेव गमकं चेत् सहोक्तिः ।

उदाहरणम्—

'मतिरघूर्णत सार्धमलिव्रजै र्धृतिरभून्मधुभिः सह विच्युता ।
व्यकसदुत्कलिका कलिकालिभिः सममिह प्रियया वियुतस्य मे ॥'

अत्र मत्यादिगतस्य घूर्णनादेः सहार्थबलादलिव्रजादिष्वन्वयः ।

'सहाधरतलेनास्या यौवने रागवान्प्रियः ।'

इत्यादौ श्लेषाद्विच्छित्तिविशेषः ।

'विनोक्तिः सा विनाऽन्येन यत्रान्यः सन्न नेतरः ।'

यत्रान्येन विनान्यः सन्नसन् वा[1] न स्यादशोभनः शोभनो वा स्यात्, सा विनोक्तिरित्यर्थः ।

क्रमेणोदाहरणम्—

'न विना प्रेमसंपत्त्या विभाति भगवज्जनः ।
न च सा प्रेमसंपत्तिर्विना निःस्पृहतामिह ॥'

'सांख्ययोगादिकैर्भावैर्विनेयमतिशोभना ।
ऐकान्तिकी हरेर्भक्तिस्तद्वशीकरणौषधिः ॥'

सेति । स्पष्टम्[2] । मतिरिति । ललितमाधवीयगर्भाङ्कस्थमिदं पद्यमनुकर्तृरूपस्य माधवस्य स्वगतवाक्यम् । उत्कलिका उत्कण्ठा । रागो रक्तिमानुरागश्च ।

विनोक्तिरिति । न विनेत्यादिद्वयं भक्तिरहस्यज्ञस्योक्तिः ।

---

१. 'वा' इति क, ख पुस्तकयो र्न पठ्यते । २. स्पष्टम् इति क, ख पुस्तकयो र्नास्ति ।

'निरर्थकं जन्म गतं नलिन्या यया न दृष्टं तुहिनांशुबिम्बम् ।
उत्पत्तिरिन्दोरपि निष्फलैव दृष्टा विनिद्रा नलिनी न येन ॥'

इत्यत्र विनाशब्दाभावेऽपि तदर्थविवक्षया विनोक्तिः । एवं सहोक्तावपीति केचित् ।

परिवृत्तिर्विनिमयो योऽर्थानां स्यात्समासमैः ॥२८॥

अर्थविनिमयः परिवृतिः । स च समैरसमैश्च ॥

यथा—

'इयं कृष्णादङ्कस्रजगुरुमुपादाय रुचिरां
वदान्यास्मै राधा रुचिरमणिमालामिह ददौ ।
निपीयास्याः कृष्णस्त्वधरमधुदन्तक्षतमदाद्
गृहीत्वाभ्यामाल्यो दरतदवलोकं तनुमदुः ॥'

अत्र समेन न्यूनेन च विनिमयः ।

निरर्थकमिति । चन्द्रदर्शनं विना नलिनीजन्म न शोभत इत्याद्यर्थात् ।

एवं सहोक्तावपीति । 'प्रियाविरहिणश्चेतो मुद्रितं कमलैर्मम' इति । वस्तुतस्तु व्यङ्ग्ये इमे इत्यन्ये ।

परिवृत्तिरिति । दानादानरूपेत्यर्थः ।

स चेति । विनिमय इत्यर्थः ।

इयमिति । काचित्सखी कृष्णापेक्षयापि राधायास्तदपेक्षयापि च सखीनां व्यवहारौदार्यं[1] व्यञ्जयन्त्याह । अङ्कस्रजं अङ्कसम्बन्धिकुसुममालाम्, कृष्णादुपादाय गृहीत्वास्मै कृष्णाय रुचिरां मणिमालां ददौ । पक्षे अङ्कस्रजमालिङ्गनमणिमालां दन्तक्षतम् । 'मणिमाला स्मृता हारे स्त्रीणां दन्तक्षतान्तरे' इति विश्वप्रकाशः । अत्र समेन समस्य विनिमयः । कृष्णस्त्वस्याः श्रीराधाया अधरमधु निपीय दन्तक्षतमदात् । आल्यः सख्यः पुनराभ्यां श्रीराधाकृष्णाभ्यां दरतदवलोकं ईषद्विनिमयदर्शनं गृहीत्वा तनुं देहं दत्तवत्यः । अत्र न्यूनेनाधिकस्य विनिमयः ।

---

१. व्यवहारौदार्यम् क पुस्तके नास्ति ।

प्रत्यक्षा इव यद्भावाः क्रियन्ते भूतभाविनः ।
तद्भाविकम्,

भूताश्च भाविनश्च पदार्थाश्चेत् साक्षादिव वर्ण्यन्ते तदा भाविकम् ।

उदाहरणम्—

अत्रासीन्नन्दसद्मेति कलयन्तु धरामिमाम् ।
अथैनामनुपश्यन्तु भावि गोविन्दकीर्तनम् ॥'[1]

अत्र पूर्वार्धे भूतस्य, परार्धे तु भाविनो दर्शनम् ।

काव्यलिङ्गं हेतोर्वाक्यपदार्थता ॥२९॥

हेतुश्चेद्वाक्यार्थः पदार्थो वा तदा काव्यलिङ्गम् ।

क्रमेणोदाहरम्—

'श्रीरामनामरत्नानि यः कण्ठे कुरुते पुमान् ।
कृतान्तात्साध्वसं नासौ दुरन्तादपि पश्यति ॥'

अत्र पूर्वार्धरूपं वाक्यमुत्तरार्धे हेतुः ।

प्रत्यक्षा इति । स्फुटं प्रतीयमाना इत्यर्थः । न चेयं भ्रान्तिः । भूतभाविनां भूतभावितयोक्तेः, किन्तु कविना भूतभाविनावपि प्रत्यक्षाविव विवक्ष्येते । अतएव विवक्षारूपो भावः कवेरभिप्रायोऽत्रास्तीति भाविकमिति संज्ञा ।

अत्रासीति । माथुरः पुरोहितो यजमानान् श्रीनन्दीश्वरस्थानानि दर्शयन्नाह । कीर्तनं श्रीभागवतपारायणम् ।

काव्यलिङ्गमिति । स्पष्टम्[2] ।

श्रीरामेति । यमदण्डाद् बिभ्यन्तं शिष्यमाह ।

---

१. कीर्त्तनाम् ख । २. स्पष्टमिति क, ख पुस्तकयोः नास्ति ।

'गोविन्दचरणद्वन्द्वसौन्दर्यस्वादतुन्दिलाः ।
कदाचिदपि नेच्छन्ति स्वर्गग्रामटिकां बुधाः ॥'

अत्र परार्धे पूर्वार्धमेकं पदं हेतुः ।

यथा वा—

'निखिलगुणगभीरे क्ष्माधरोद्धारधीरे
सकलसुखदशीले क्षालिताशेषपीले ।
सुभगनतकिशोरे विश्वचित्ताक्षिचौरे
मुरभिदि युवतीनां हृन्निमग्नं सतीनाम् ॥'

अत्र चतुर्थपादे पादत्रयपदानि हेतवः ।

पर्यायोक्तं विना वाच्यवाचकत्वेन वस्तु यत् ।

वाच्यवाचकभावं विनापि चेद्वस्त्वभिधीयते तदा पर्यायेण भङ्ग्या कथनात्पर्यायोक्तम् । व्यङ्ग्यस्यैवोक्तिवैचित्र्यविशेषादभिधेयवत् स्फुटा प्रतीतिस्तदित्यर्थः ।

उदाहरणम्—

'जहौ श्रीकृष्णमालोक्य स्थितिं स्वाभाविकीमपि ।
दर्पः कन्दर्पहृदये मानो मानवतीहृदि ॥'

गोविन्देति । निष्कामाया भक्तेः परमपुमर्थतामुपदिशति । ग्रामटिका लघुग्रामः ।

निखिलेति । शारीशुकयोरुक्तिः ।

पर्यायोक्तमिति । विनेति । कन्दर्पो निर्दर्प इत्यादावर्थे श्लोकस्थस्य कस्यापि शब्दस्याभिधाऽदर्शनादित्यर्थः । तथापि वस्त्वभिधीयत इति व्यङ्ग्यस्यापि वस्तुनः काववाक्षिप्तवद्वाच्यार्थेन सहैव भासनादित्यर्थः । उक्तवैचित्र्यविशेषादित्यगूढव्यङ्ग्याया लक्षणाया नावकाशः । ननु दर्पमानयोरचेतनयोः स्थितित्यागे कर्तृत्वानुपपत्तेस्तदाश्रयभूतयोः कन्दर्पमानिन्योर्लक्षणाऽस्तु । मैवम् । भङ्गीविशेषविनिवेशितवाक्यस्वरूपमहिम्नैव विनैव तां तदर्थधीसिद्धेः ।

जहाविति । रासोत्सवसंबन्धिनीं श्रीकृष्णस्य सुषमां पौर्णमासीं प्रति वृन्दा वर्णयति । जहौ त्यक्तवान् । स्थितिं स्थैर्यम्, विद्यमानतां वा ।

अत्र कन्दर्पो निर्दर्पः। मानिन्यो निर्माना इति व्यङ्ग्यमपि भङ्ग्या शब्देनाभिधीयते।

यथा वा—

'व्यक्तं चक्रेण यश्चक्रे राहुस्त्रीणां रतोत्सवम्।
चुम्बनैकाश्रयं नित्यं तमनन्तगुणं नुमः॥'

अत्र राहुः शिरोमात्रो व्यधायीति व्यङ्ग्यमपि भङ्ग्याभिधेयवत् प्रकाश्यते।

उदात्तं वस्तुनः संपत्,

संपत् समृद्धिः।

उदाहरणम्—

'चिन्तामणिश्चरणभूषणमङ्गनानां
शृंगारपुष्पतरवस्तरवः सुराणाम्।
वृन्दावने व्रजधनं ननु कामधेनु-
वृन्दानि चेति सुखसिन्धुरहो विभूतिः॥'

महतां चोपलक्षणम्॥३०॥

यत्र प्रधानमप्यङ्गतां गच्छति तदप्युदात्तम्।

यथा—

'सेयं मथुरा नगरी सुरगुरुभिर्याचितो भगवान्।
यत्रावतीर्य शतशः सुरद्विषो हेलया न्यवधीत्॥'

अत्रेति। भङ्ग्या उक्तिवैचित्र्यविशेषेण। अभिधीयतेऽभिधेयवत् प्रकाश्यते।

व्यक्तमिति। भगवन्तं कश्चित्कविरचिन्त्यशक्तितया स्तौति। राहुस्त्रीणां रतोत्सवं चुम्बनैकाश्रयं यश्चक्रेण चक्रे तं नुम इत्यनुषङ्गः।

अत्रेति। व्यधायीति भगवतेत्यर्थः॥

उदात्तमिति। वस्तुनो वर्णनीयस्य।

चिन्तामणिरिति। बिल्वमङ्गलः श्रीवृन्दाटवीं वर्णयति। सुराणां तरवः कल्पद्रुमाः।

सेयमिति। अत्र मथुराया अङ्गित्वं भगवतस्त्वङ्गत्वं परिचायकत्वमिति यावत्।

अत्र वीरो नगर्यङ्गम् ।

तत्सिद्धिहेतावेकस्मिन्यत्रान्यत्तत्करं भवेत् ।
समुच्चयोऽसौ,

तस्य प्रकृतकार्यस्यैकस्मिन्साधके स्थिते यद्यन्यत्साधकं निर्दिश्यते तदा समुच्चयः । स च सद्योगेऽसद्योगे सदसद्योगे चेति त्रिधा ।

क्रमेणोदाहरणम्—

'प्रेमा प्रमाणरहितोऽनुपमा गुणश्रीः
सौन्दर्यसंपदसमा रुचिरं च शीलम् ।
तारुण्यमद्भुततमं सखि राधिकायाः
कृष्णः कथं न भविता वशगो गुणज्ञः ॥'

अत्र प्रेमैव तादृशः कृष्णं वशीकरोति, तथापि तदुपरि गुणश्रीप्रभृतिरुपात्तः ।

'संसारमार्गो ह्यधमः स्वभावात्कर्माणि तस्मिन्कटुकण्टकानि ।
गतागताभ्यामपि खेद एव तथापि नास्मिन्कुजनो विरज्येत्[1] ॥'

'प्रियः प्रणयकोविदः प्रणयिनी सदैवोत्सुका
खलः क्षतपराक्रमो गुरुजनः खलोक्तासहः ।

तत्सिद्धीति । इह सदसच्छब्दौ शोभना शोभनार्थकौ । तौ च तथा पर्यवसानादेव न सूत्रिताविति बोध्यम् ।

प्रेमेति । काचित्सखी राधां वर्णयति । वशगो वशवर्ती ।

संसारेति । निर्विण्णस्योक्तिः । अधमो मन्दः ।

प्रिय इति । कलावत्या धवां[2] विपक्षकृतसूचनायां च तत्पतिवेशधारिणा कृष्णेन वञ्चितायां प्रसन्नास्तत्सख्यस्तामुल्लासयन्ति । प्रियः कृष्णः । प्रणयिनी त्वम् । अमी प्रणयकोविद प्रियादयः पञ्च

---

१. 'विरज्जेत्' ख । २. 'वायाम्' इत्यधिकं क पुस्तके ।

गृहं गृहपतिच्युतं मनसिजस्य पञ्चासवः
कलावति बहिश्चरा इव लसन्त्यमी पञ्च नः ॥'

अत्र प्रियादयः सन्तः, खलस्त्वसन् ॥

स त्वन्यो युगपद्या गुणक्रियाः ॥३१॥

गुणौ च क्रिये च गुणक्रिये, तौ[1] यदि युगपन्निर्दिश्येते तदा त्वन्यस्त्रिविधः समुच्चयः ।

क्रमेणोदाहरम्—

'अरुणे च तरुणि नयने तव मलिनं च प्रियस्य मुखम् ।
मुखमानतं च सखि ते ज्वलितश्चास्यान्तरे ज्वलनः ॥'

अत्र पूर्वार्धे गुणयोर्यौगपद्यं परार्धे तु क्रिययोः ।

'अरुणं च नीलनलिनप्रभमपि नयनं प्रिये मयि ते ।
आसन्नश्च ममायं हृदि कम्पश्चम्पकद्योते ॥'

अत्र गुणक्रिययोः ।

एकं क्रमेणानेकस्मिन्पर्यायोऽन्यस्ततोऽन्यथा ।

मनसिजस्य पञ्चासवो बहिश्चरा इव लसन्ति । तेन प्राणाधीनस्थितिको मनसिजोऽप्यत्राविर्भवेदेवेति तत्क्रीडापात्रीभवेत्यर्थः ।

स त्वन्य इति । स्पष्टम् ।[2]

द्वयोर्द्वयोरेव समुच्चय इत्यभिप्रेत्य व्याख्याति—गुणौ चेत्यादि ।

अरुणे इति । यूथेशां सख्याह । गुणयोरेककालमुत्पत्त्या समुच्चयः । एवं नमनज्वलनयोः क्रिययोश्च सः ।

अरुणं चेति । ललितां हरिराह ।

---

१. 'च' इति क, ख । २. स्पष्टम् इति क, ख पुस्तकयोः न पठ्यते ।

एकं वस्तु चेत् क्रमेणानेकस्मिन् भवति क्रियते वा तदैकः पर्यायः। यदि त्वनेकमेकस्मिस्तदान्य इत्यर्थः।

क्रमेणोदाहरणम्—

'चेतो मदीयं चिकुरे निपत्य मुखाम्बुजामोदविलासि मुक्ते।
तस्याः समारूढ[1]कुचाद्रिसानुश्रमेण नाभीसरसि न्यमाङ्क्षीत्॥'

'कचानां नाथ कौटिल्यं हृदयेऽपि कृतं त्वया।
काठिन्यं कुचयोरत्र चित्तेऽपि न्यस्तमेतया॥'

'विलसन्ति नितम्बिन्यो यत्र चित्राम्बराश्रिताः।
विचरन्ति शिवास्तत्र त्वद्वैरिभवने विभो॥'

'श्रीमन्व्रजवने यस्मिन्संमदो विधृतः पुरा।
निधीयन्तेऽधुना तस्मिन्विरहानल विप्रुषः॥'

एषु पूर्वस्मिन् युग्मे एकस्यानेकत्रभवनं करणं च परस्मिंस्त्वनेकस्यैकत्रेति बोध्यम्।

अनुमानं तदुक्तं यत्साध्यसाधनयोर्वचः॥३२॥

एकमिति। अनेकस्मिन्नेकभिन्ने द्विकत्रिकादौ, भवति स्वतो निष्पद्यते। क्रियते कर्त्रा निष्पाद्यते।

चेत इति। पृच्छन्तीं दूतीं प्रति ध्यातसंभुक्तराधस्य हरेर्वाक्यम्। न्यमाङ्क्षीन्निमग्नमभूत्।

गृहीतवाक्यौ[2] प्रेष्ठौ प्रति विशाखाह—कचानामिति। नाथ हे श्रीकृष्ण। एतया श्रीराधयापि।

विलसन्तीति। हतशाल्वं कृष्णं प्रति श्रीनारदस्योक्तिः। शिवाः शृगाल्यः।

कृष्णेन सुबलादिमङ्गलं पृष्ठ उद्धवस्तमाह—श्रीमन्निति। उभयत्र वाक्ये त्वयेति गम्यम्। तन्निवृत्तिरधुना सांप्रतमिति भावः।

अनुमानमिति। विच्छित्या शोभाविशेषेण। इतरथा वह्निमान् धूमादित्यत्र प्रसङ्गः।

---

१. ममारूढ कुचाद्रि° ख। २. वाम्यौ क।

विच्छित्त्या चेत्साधनात्साध्यस्य ज्ञानं तदानुमानम् ।

यथा[1]—

'दृशश्चकोर्य एवैताः कृशाङ्गि व्रजसुभ्रुवाम् ।
कृष्णास्येन्दुस्मितज्योत्स्नां पिबन्ति यदहर्निशम् ॥'

यथा वा—

'यत्र पतत्यबलानां दृष्टिर्नियताः पतन्ति तत्र शराः ।
तच्चापरोपितशरो धावत्यासां पुरः स्मरो मन्ये ॥'

ज्ञापको हेतुरनुमानस्य विषयः, निष्पादकस्तु काव्यलिङ्गस्य; उत्प्रेक्षायामनिश्चिता प्रतीतिः, इह तु निश्चितेति भेदः ।

विशेषणैर्यत्साकूतैरुक्तिः परिकरस्तु सः ।

साभिप्रायानेकविशेषणद्वारा विशेष्यस्य पुष्टिः परिकरः ।

उदाहरणम्—

'अमेध्यप्रतिजातस्य विट्पात्रस्य विनाशिनः ।
वपुषः परिपोषाय मूढाः पापानि कुर्वते ॥'

अत्र हेयत्वेनासंरक्षणीयत्वाभिप्रायाणि विशेषणानि ।

दृश इति । निगूढरागा सखीं प्रत्याह । इह रूपकवशाद्विच्छित्तिः ।

यत्रेति । शरा इत्यतः पूर्वं यदित्यध्याहार्यम् । यत्रतत्रेतिपदाभ्यां दृष्टिपातस्मरशरयोर्व्याप्तिः प्रतीयते । यत्तत्पदाभ्यां तु शरपाताग्रवर्तिस्मरयोश्च । तदयं प्रयोगः—'एताः पुरोगामिस्मराः शरपातनियतदृष्टिपातवत्वात्' इति । अत्र वस्तुतो व्याप्त्यभावेऽपि कविप्रौढोक्तिवशादेव तथाविधानमित्यलंकारता ।

विशेषणैरिति । विशेष्यस्येत्याक्षिप्यते पुष्टिरित्यर्थात् ।

अमेध्येति । परद्रोहपरान् शोचति ।

---

१. 'शोभाविशेषेण' इत्यधिकं ख पुस्तके ।

यथा वा—

'नवजलधरधामा कोटिकामावतारः
प्रणयरसयशोरः श्रीयशोदाकिशोरः ।
अरुणदरुणदीर्घापाङ्गभङ्ग्या कुरङ्गी-
रिव निखिलकृशाङ्गी रङ्गिणि त्वं क्व यासि ॥'

अत्र सर्वथागन्तव्यत्वाभिप्रायाणि तानि । एकस्यैव बहुविशेषणविन्यासश्चमत्कारीत्यस्यालंकारता ।

व्याजोक्तिश्छद्मनोद्भिन्नवस्तुरूपनिगहनम् ॥३३॥

निगूढमपि वस्तुरूपं कथंचिद् व्यक्तं केनापि व्याजेन चेत्संव्रियते तदा व्याजोक्तिः ।

यथा—

अहो शैत्यस्य महिमा हिमानिल तवेदृशः ।
शक्यते न च निह्नोतुं कृतो येनाधरव्रणः ॥'

अत्र कान्तसंगमहेतुकोऽधरव्रणः, शैत्यहेतुकत्वच्छद्मना गोप्यते । न चेयमपह्नुतिः प्रकृताप्रकृतसादृश्यासंभवात् ।

अत्र श्लेषेणापि निगूहनं मन्यन्ते ।

नवेति । कुसुमेभ्यो वनं यान्तीं कांचित् प्रति काचिदाह । अरुणत् रुरोध । पूर्वार्धमुदाहरणम् ।

एकस्यैवेति । अन्यथा ह्यपुष्टार्थत्वविरहो दोषाभावः स्यादित्यभिप्रायः ।

व्याजोक्तिरिति । गोप्यं वस्तु केनापि हेतुना प्रतीतम्, तस्य च केनापि छद्मना निगूहनं व्याजोक्तिरित्यर्थः ।

अहो इति । विपक्षाभि विदितं सुरताङ्कं गोपितुं श्यामलाह । हे हिमानिल, अत्र कृष्णसंगजस्याधरक्षतस्य हिमवायुस्पर्शकृतत्वप्रतिपादनाल्लक्षणसंगतिः ।

न चेति । उपमानोपमेययोः सादृश्यं हिमं[1] न संभवतीति नापह्नुति । अत्र किंचिदनिषिद्धचैव

---

१. सादृश्यहिमम् क ।

यथा—

'हस्तेनाद्य प्रियसखि लसत्पुष्कराभेन दूरा-
त्कृष्णेनाहं मदकलदृशा कम्पिताङ्गी विकृष्टा।
नीचैर्जल्प भ्रमति पुरतो भ्रान्तचित्तो[1] गुरुस्ते
हुं कालिन्दीपुलिनविपिने दीप्रदन्तीश्वरेण ।।'

इह गाढोत्कण्ठया व्यक्तं वस्तुश्लेषेण संवृतम् ।।

किंचित्पृष्टमपृष्टं वा कथितं यत्प्रकल्पते ।
तादृगन्यव्यपोहाय परिसंख्या तु सा स्मृता ।।३४।।

प्रश्नपूर्वकमप्रश्नपूर्वकं वा किंचिद्वस्तु कथितं सद्यदि तत्समानान्यव्यावृत्तये कल्पते, तदा परिसंख्या। तत्रोभयत्रापि व्यावर्त्यं व्यङ्ग्यं वाच्यं चेति चतुर्धासौ।

उदाहरणम्—

'का कृष्णस्य प्रणयजनिभूः, श्रीमती राधिकैका,
कास्य प्रेयस्यनुपमगुणा, राधिकैका न चान्या ।

हेत्वन्तरजस्य वस्तुनो हेत्वन्तरजत्वव्यवस्थापनमपि भेदकं वीक्ष्य ।

हस्तेनेति । काचिद् बल्लवी स्वसखीमाह। इह तृतीयपादः सखीवाक्यम् । कृष्णेन नन्दसूनुना, कृष्णवर्णेन च । प्रथमे पक्षे लसतः पुष्करस्य कमलस्येवाभा यस्य तेन । कमलतुल्येनेत्यर्थः । द्वितीये तु लसन्ती पुष्कराभाऽग्रकान्तिर्यस्य तेन । हस्तेन शुण्डादण्डेनेत्यर्थः ।

'पुष्करं करिशुण्डाग्रे वाद्यभाण्डमुखे जले ।
व्योम्नि खड्गफले पद्मे तीर्थौषधिविशेषयोः ।।' इति । नानार्थवर्गात् ।।

किंचित्पृष्टमिति । परितः संख्यानं यया सा परिसंख्या । सा स्वसमानान्याधिवय-वोधिकेत्यर्थः ।

का कृष्णस्येति । काचित् सखी श्रीराधां सर्वोत्कृष्टतया वर्णयति । जैह्म्यं कुटिलता ।

---

१. भ्रान्तचित्ते क, ख ।

जैह्म्यं केशे दृशि तरलता निष्ठुरत्वं कुचेऽस्या
वाञ्छापूर्त्यै प्रभवति हरे राधिकैका न चान्या ॥'

अत्र पूर्वार्धे सप्रश्ने परार्धे चाप्रश्ने तत्तुल्यान्यस्या व्यावृत्तिः। पूर्वस्मिन्पादे व्यङ्ग्या परस्मिस्तु वाच्या।

यथोत्तरं चेत्पूर्वस्य पूर्वस्यार्थस्य हेतुता।

तदा कारणमाला स्यात्,

उत्तरमुत्तरं प्रति यथोत्तरम्।

उदाहरणम्—

'सत्संगमेनैव भवेद्विरागो, विरागतः स्यान्मनसो विशुद्धिः।
मनोविशुद्ध्यैव हरेः प्रकाशो, हरेः प्रकाशेन कृतार्थता स्यात् ॥'

इह कथितपदत्वं न दोषः, विहितानुवादात्।

क्रियया तु परस्परम् ॥३५॥

वस्तुनोर्जननेऽन्योन्यम्,

वस्तुनी यदि क्रियया मिथो हेतू तदान्योन्यालंकारः।

केश इत्यादौ। 'जात्याख्यायामेकस्मिन्बहुवचनमन्यतरस्याम्' इति पाणिनिस्मरणादेकत्वम्। अत्र श्रीराधातुल्यानां चन्द्रावल्यादीनां तदन्यासां व्यावृत्तिः। तेन ताभ्यः सर्वाभ्यः श्रीराधायाः श्रैष्ठ्यं सिद्धम्।

यथोत्तरमिति। वीप्सायामव्ययीभावः।

पुरुषार्थप्राप्तौ साधनक्रमं गुरुरुपदिशति—सत्संगमेनैवेति। कृतार्थता पुरुषार्थप्राप्तिरित्यर्थः। सा चाविद्याध्वंसपूर्वकनिरतिशयानन्दसाक्षात्कारलक्षणैव हरिप्रकाशहेतुका बोध्येति प्रकृतोऽर्थः। वस्तुतस्तु तत्प्रकाशरूपैव सा वक्तुं युक्ता, धान्येन धनमितिवत् तृतीयोपपत्तेः।

क्रिययेति। एकजातीयक्रियामुखेनेत्यर्थः।

उदाहरणम्—

'राधया माधवो भाति माधवेनैव राधिका।
रजन्या राजते चन्द्रश्चन्द्रेणेह रजन्यपि ॥'

अत्रोभयोर्दीप्तिसंपादनद्वारा मिथो हेतुता।

उत्तरश्रुतिमात्रतः।
प्रश्नस्योन्नयनं यत्र क्रियते तत्र वा सति ॥३६॥
असकृद्यदसंभाव्यमुत्तरं स्यात्तदुत्तरम्।

प्रतिवचनश्रवणादेव चेत्प्रश्नः कल्प्यते, तदैकमुत्तरम्। प्रश्नानन्तरं चेदसकृद्विचित्रमुत्तरं स्यात्तदा तु द्वितीयमित्यर्थः।

क्रमेणोदाहरणम्—

'यत्पादपांशुर्बहुजन्मकृच्छ्रतो
धृतात्मभि र्योगिभिरप्यलभ्यः।
स एव यद्दृग्विषयः स्वयं स्थितः
किं वर्ण्यते दिष्टमहो व्रजौकसाम् ॥

अत्र व्रजौकसः किं तपस्तेपुरिति प्रश्नो गम्यते। न चैतदनुमानम्। साध्यसाधनयोर्निर्देश एव तस्याङ्गीकारात्। नापि काव्यलिङ्गम्, उत्तरस्य प्रश्नं प्रत्यजनकत्वात्।

राधयेति। सख्यो वर्णयन्ति।

ननु पूर्वमेव सतोः कथं जन्यजनकता, तत्राह—अत्रोभयोरिति। तथा च पूर्वं सतोरेव मिथ उपकारोपरागेणैव तथोक्तिरिति प्रतिवस्तूपमा चात्र बुध्या।

उत्तरेति। असकृत्प्रश्ने सतीति च योज्यम्।

यत्पादेति। श्रीशुकोक्तिः। स एव श्री कृष्णः। अत्र व्रजौकसः सखायः प्रकृताः। विवक्षितास्तु सर्वे भक्ताः। दिष्टं भाग्यम्।

'किं गेयं भगवन्नाम किं पेयं तत्कथामृतम्।
किं हेयं गुरुवैमुख्यं किं ध्येयं तत्पदाम्बुजम् ॥'

न चेयं सप्रश्नपरिसंख्या अन्यव्यावृत्तौ तात्पर्याभावात्।

किं गेयमिति। सतीर्थ्ययोः प्रश्नप्रतिवचनरूपं वाक्यम्। चत्वारोऽपि पादाः प्रश्नोत्तरात्मानो बोध्याः। अन्यव्यावृत्ताविति। भगवन्नामादीनां ज्ञेयत्वाद्यतिशय एव तात्पर्यविश्रान्तेरिति भावः। इद द्वितीयमुत्तरं बहुधा पद्यान्तः पद्याद्.बहिश्चोत्तरं दृष्टम्। तच्च व्यस्तसमस्ततया व्यस्ततया समस्ततया चेत्येवमादिसमाकलनात्। दिङ्मात्रं यथा—

'रवेः कवेः किं समरस्य सारं कृषेर्भयं किं किमुशन्ति भृङ्गाः।
सदा भयं चाप्यभयं च केषां भागीरथीतीरसमाश्रितानाम् ॥'

(अत्रोत्तरं क्रमशः भाः, गीः, रथी, ईतिः, रसम्, आश्रितानां, भागीरथीतीरसमाश्रितानाम्।[1])

'को दुराढ्यस्य मोहाय का प्रिया मुरविद्विषः।
पदं प्रश्नवितर्के किं को दन्तच्छदभूषणम् ॥'

उत्तरं[2] रामानुरागः। (रा द्रव्यम्, मा लक्ष्मीः, नु, रागः)

'अपि सेविता द्विजिह्वैः कथय कदापि के न यान्ति विकारम्।
विच्छिद्यमानतनवोऽप्यधिकं स्वगुणैर्विराजन्ते ॥'

चन्दनतरवः।

प्रहेलिकाप्यत्रैवान्तः स्यात्। यथा—

व्याहर मथुरानाथे मम सन्देशप्रहेलिकां पान्थ।
विकला कृता कुहूभिर्लभते चन्द्रावली क्व लयम् ॥'

अत्र हराविति प्रत्युक्तिः। हरिः सूर्यः कृष्णश्च। प्रहेलिका[3] लक्षणं चाहुः—

'व्यक्तीकृत्य कमप्यर्थं स्वरूपार्थस्य दर्शनात्।
यत्र बाह्यान्तरावर्थौ कथ्येते सा प्रहेलिका ॥' इति।

---

१. कोष्ठान्तर्वर्त्ति क, ख पुस्तकयोः न पठ्यते।

२. 'उत्तरम्' क, ख पुस्तकयोः न पठ्यते। ३. तत् क, ख।

कुतोऽपि लक्षितः सूक्ष्मोऽप्यर्थोऽन्यस्मै प्रकाश्यते ॥३७॥
धर्मेण केनचिद्यत्र तत्सूक्ष्मं परिचक्ष्यते ।

कुतोऽप्याकारादिङ्गिताद्वासूक्ष्मः सूक्ष्मधीगम्यः ।

क्रमेणोदाहरम्—

'राधायाः करकमले शिखण्डदलपक्ष्म लग्नमालोक्य ।
प्रातः सखी विदग्धा लिलेख तत्रैव कार्मुकं सशरम् '

अत्र करलग्नाच्चन्द्रकात्सख्याः पुरुषायितं ज्ञात्वा तत्र पुरुषधार्ययो र्धनुर्बाणयोर्लिखनेन तां प्रति तत्प्रकाशितम् ।

'भवनप्राङ्गणसंगतमनङ्गरसमङ्गलं कृष्णम् ।
सकृदवलोक्य सलीलं राधा पिदधेऽवगुण्ठनेन मुखम् ॥'

अत्र कृष्णेन पृष्टं संकेतसमयमिङ्गितादेव विज्ञाय राधा[1] चन्द्रास्तमनशंसिना मुखपिधानेन तं ति प्रकाशयामास ।

उत्तरोत्तरमुत्कर्षो भवेत्सारः परावधिः ॥३८॥

उत्तरोत्तरं निरूप्यमाणस्योत्कर्षस्य चेत्पर्यन्ते विश्रान्तिस्तदा सारः ।

कुतोऽपीति । धर्मेण स्मारकेणेति शेषः । आकारात्सस्थानविशेषात् । इङ्गितान्मुखपिधानादिरूपचेष्टाविशेषात् ।

राधाया इति । नान्दीमुखीं वृन्दाह । कार्मुकं धनुः ।

अत्रेति । करलग्नचन्द्रकावतंसपक्ष्मदर्शनेन पुरुषायितं विदित्वा तत्करतले धनुःशरविलिखनरूपेण चातुर्येण तव पुरुषायितं मया विदितमिति तां प्रति प्रकटीकृतम्, पुरुषा एव धनुर्भृतो यद्भवन्तीति ।

भवनेति । सैव तामाह ।

अत्रेति । चन्द्रेऽस्तं गते सति नो संगमो भावीति ज्ञापितमित्यर्थः ।

उत्तरोत्तरमिति । यत्रोत्तरोत्तरमुत्कर्षः प्रतीयते स सार इत्यर्थः । स च परावधिर्वर्ण्येष्वेवोदीच्योऽवधिर्विश्रामस्थानं यस्य तादृश इत्यर्थः ।

---

१. 'राधा' क, ख पुस्तकयोः नास्ति ।

उदाहरणम्—

'भूमौ भारतमुत्तमं मधुपुरी तत्रापि तत्राप्यलं
वृन्दारण्यमिहापि हन्त पुलिनं तत्रापि रासस्थली ।
गोपीकान्तपदद्वयी परिचयप्राचुर्यपर्याचिता
यस्यां सन्ति महामुनेरपि मनोराज्यर्चिता[1] रेणवः ॥'

भिन्नदेशतयात्यन्तं कार्यकारणभूतयोः ।
युगपद्धर्मयोर्यत्र ख्यातिः सा स्यादसंगतिः ॥३९॥

कार्यकारणयोरेकदेशत्वं हि ख्यातम् । यथाग्निधूमयोः । यत्र तथाभूतयोरपि धर्मयोर्भिन्नदेशतया युगपदवभासः सा असंगतिः ।

उदाहरणम्—

'तवाधरौष्ठे क्षतमञ्जनं च मम व्यथार्थं मलिनं च चेतः ।
पीतस्तया ते वदनासवस्त्वं मत्तः कुतोऽनर्थं परम्परेयम् ॥'

भिन्नाधारत्वादियमेकाधाराद्विरोधाद्भिद्यते ॥

समाधिः सुकरं कार्यं कारणान्तरयोगतः ।

आरब्धं कार्यं यदि साधनान्तरयोगादक्लिष्टं समाधीयते तदा समाधिः ।

भूमाविति । नववृन्दावनीयगोवर्धनकन्दरलिखितानि चित्राणि राधाकृष्णौ दर्शयन्ती नववृन्दा तत्र रासस्थलीं चित्रितां दर्शयते । हन्तेति हर्षे ।

भिन्नदेशेति । कार्यकारणयोरत्यन्तभिन्नदेशतया ख्यातिरसंगतिः । स्वाभाविकमिथः संगतित्यागादिति भावः ।

तवेति । कृष्णं राधाह । तया चन्द्रावल्या ।

समाधिरिति । केनचित्किंचित्कार्यमारब्धं तच्चेत्कारणान्तरयोगादक्लेशेन सिद्धं स्यात्तदेत्यर्थः ।

---

१ राज्यार्चिताः क, ख ।

उदाहरणम्—

'प्रणम्य पादौ वृषभानुजायाः प्रसादनं कुर्वति पङ्कजाक्षे।
तथाम्बुदः प्रांशु जगर्जवक्षस्तटीं यथासौ सहसास्य भेजे॥'

समुच्चये खले कपोतनिपातवत्कारणानां प्राप्तिः, इह त्वमेकस्मिन् कारणे पुष्कलेऽप्यन्यस्य काकतालीयवदापतनमिति भेदः।

समं योग्यतया योगो यदि संभावितः क्वचित् ॥४०॥

आभिरूप्येण चेद्वस्तुनोः संबन्धः संभाव्यते तदा समम्। सद्योगेऽसद्योगे चेति द्वैधं तत्।

क्रमेणोदाहरणम्—

'कृष्णो वरीयान्पुरुषेषु सद्गुणैः
श्रीराधिका स्त्रीषु गुणैर्वरीयसी।
सङ्गं विधातुस्त्वनयोः परस्परं
धातुर्नरीनर्ति गुणज्ञतायशः॥'

'निसर्गव्यग्रचित्तोऽपि विधिर्युक्तविधानकः।
पिचुमर्दफले काकः सहकारे कृतः पिकः॥'

प्रणम्येति। विद्युन्मञ्जरी स्वसखीं प्रति श्रीराधिकाया मानभङ्गविधिं वर्णयति। अम्बुजाक्षे गोविन्दे। प्रांशूच्चं यथा स्यात्तथा। असौ वृषभानुजा। अस्य पङ्कजाक्षस्य।

सममिति। आभिरूप्येणौचित्येन सतः सता योगः, असतस्त्वसताभिरूपः साम्यादेव।

कृष्ण इति। काचित् सखी प्रियौ वर्णयति। धातु विधातुः।

राधया सह कृष्णस्य संयोगो विधिना साधु कृत इति व्यञ्जयन्ती पौर्णमासी तं श्लाघते—निसर्गेति। पिचुमर्दो निम्बः। सहकारः सुगन्धिराम्रः।

फा० —२८

क्वचिद्यदतिवैधर्म्यान्न श्लेषो घटनामियात् ।
कर्तुः क्रियाफलावाप्तिर्नैवानर्थश्च यद्भवेत् ॥४१॥

गुणक्रियाभ्यां कार्यस्य कारणस्य गुणक्रिये ।
क्रमेण च विरुद्धे यत्स एष विषमो मतः ॥४२॥

द्वयोरति वैलक्षण्याद्यदघटित इव योगः स्यात्, यच्च क्रियायाः प्रणाशादभीष्टं तत्फलं न स्यात् , प्रत्युतानर्थश्चानभीष्टः प्राप्नुयात् । यच्च कार्यकारणगतयोर्गुणयोः क्रिययोर्वा मिथो विरोधः स चतुर्विधो विषमः ।

क्रमेणोदाहरणम्—

'क्व वज्रसारसर्वाङ्गौ मल्लौ शैलेन्द्रसंनिभौ ।
क्व चातिसुकुमाराङ्गौ किशोरौ नाप्तयौवनौ ॥'

'कृत्यानलः प्रतिहतः स रथाङ्गपाणे-
रस्त्रौजसा नृपविभुग्नमुखो निवृत्तः ।

क्वचिदिति । श्लेषो योगः । घटनामौचितीम् ।

गुणक्रियाभ्यामिति । कार्यस्य कारणानुकरणे औत्सर्गिके सत्यपि तयोर्गुणौ क्रिये वा मिथश्चेद्विरुद्धौ तदा द्विधा विषम इत्यर्थः । विषमत्वं च समविपरीतरूपत्वाद् बोध्यम् ।

क्व व्रजेति । मल्लाभ्यां युध्यमानौ रामकृष्णौ वीक्ष्य मथुरास्था वदन्ति । अत्रेदं च लक्ष्यम् :—

'विपुलेन सागरशयस्य कुक्षिणा, भुवनानि यस्य पपिरे युगक्षये ।
मदविभ्रमा सकलया पपे पुनः, सपुरस्त्रियैकतमयैकया दृशा ॥' इति ।

अत्र जगदाधारस्य सर्वेश्वरस्य स्त्रीनेत्रकोणकृततत्पानस्य चातिवैलक्षण्याद्योगो दुर्घट इवेति लक्षणसंगतिः ।

पितृवैरप्रतियातनार्थं सुदक्षिणेन राज्ञा प्रेषिता कृत्या भगवच्चक्रज्वालपीडिता परावृत्य काशीं ददाहेति श्रीशुको वर्णयति—कृत्यानलेति । नृप, हे परीक्षित् । अभिचारो मारणाग्निः । यस्मै माहेश्वरी कृत्या सुदक्षिणेन कृता स कृष्णापकारो नाभूत्, प्रत्युत सुदक्षिण एव स्वस्थानपरीवारस्तया दग्ध इति लक्षणयोजना ।

वाराणसीं प्रति समेत्य सुदक्षिणान्तं
सर्त्विग्जनं समदहत्स्वकृतोऽभिचारः ॥'

'तमालनीलोऽपि तवैष नन्दकः संगम्य भूमन्परसैन्ययोर्जिताम् ।
रणाजिरान्तः शरदिन्दुसुन्दरीं यशस्ततिं संतनुतेऽद्भुतं महत् ॥'

अत्र नीलशुक्लयोर्गुणयोर्विरोधः ।

'जातः सखि मनोजस्ते नेत्रेणानन्ददायिना ।
तापं तनोति कृष्णस्य तन्वि चित्रमिदं महत् ॥'

अत्रानन्दतापयोः क्रिययोः ।

महतोर्यन्महीयांसावाश्रिताश्रययोः क्रमात् ।
आश्रयाश्रयिणौ स्यातां तनुत्वेऽप्यधिकं तु तत् ॥४३॥

महतोरप्याधेयाधारयोर्विषये तदपेक्षयास्वल्पावप्यधाराधेयौ प्रकृतभूमविवक्षया क्रमेण चेन्महीयांसौ स्यातां तदा द्विविधमधिकम् । आधाराधेययोरेकस्याधिक्येऽधिकमिति हि निष्कर्षः ।

'दृष्ट्वा राधां निपुणविधिना सुष्ठु केनापि सृष्टां
धाता क्षीणः सदृशमनया यौवनं निर्मिमित्सुः ।
सारं चिन्वन्नसृजदिह तत्स्त्रस्य सृष्टेः समास्याः
नैकाप्यासीदपि तु समभूत्पूर्वसृष्टिर्निरर्था ॥'

इति चात्र लक्ष्यान्तरम् ।

तमालेति । वन्दिनः कृष्णं स्तुवन्ति ।

जात इति । राधां विशाखाह । यत्र व्यधिकरणयोरैक्याधिकरण्यप्रतिसंधानकृतो विरोधस्तत्र विरोधाभासः । यत्र समानाधिकरणयो वैयधिकरण्यप्रतिसन्धानकृतस्तत्रासंगतिः । यत्र तु तदन्यतरप्रतिसन्धानं विनैव कृतस्य कार्यकारणवृत्तिविजातीयगुणक्रियासंबन्धमात्रस्य चमत्कृतिकारकता तत्र विषम इति बोध्यम् ।

महतोरिति । आश्रितमाधेयम् । आश्रय आधारः । महत्याधेये स्वल्पोऽप्याधारश्चेन्महान्, महति चाधारे स्वल्पोऽप्याधेयश्चेन्महान् तदाऽधिकम् । वर्णनीयप्रकर्षः फलम् ।

क्रमेणोदाहरणम्—

'बभौ व्रजेशोरसि या मुरारेर्नीलोत्पलालीदलमालिकेव।
तनौ प्रभुस्तत्र कथं गुणास्ते सहस्रवक्त्रेण हि येऽप्यगण्याः॥'

अत्राधेयभूतानां गुणानां महत्त्वेऽप्याधारभूतायास्तनोस्ततोऽपि महत्त्वं विवक्ष्यते।

'यस्यास्तनोरन्तरलोकि मात्रा विश्वं करेऽद्रिः कमलत्वमाप।
श्रीराधिकाऽऽस्याम्बुजदर्शनोत्था मुदो प्रभुस्ता न हरेर्वतास्याम्॥'

अत्राधारभूतायास्तनोर्महत्त्वेऽप्याधेयभूतानां मुदां ततोऽपि महत्त्वम्।

प्रतिपक्षमशक्तेन प्रतिकर्तुं तिरस्क्रिया।
या तदीयस्य तत्स्तुत्यै प्रत्यनीकन्तदुच्यते॥४४॥

तिरस्कारकमपि विपक्षं साक्षात्तिरस्कर्तुमशक्तेन केनचिद् या विपक्षोत्कर्षार्थी विपक्षीयस्य तिरस्क्रिया तत्प्रत्यनीकम्।

यथा—

'कृष्णस्य सौन्दर्यभरैर्विनिर्जितः
कामोऽस्य किंचित्प्रतिकर्तुमक्षमः।
राधामिह प्रीतिमतीं विनिर्णयं-
स्तां बाधतेऽसौ तदगोचरेऽन्वलाम्॥'

बभाविति। शारीशुकयोरुक्तिः। सहस्रवक्त्रेण शेषेणापि।

अत्रेति। महत्त्वमिहाचिन्त्यशक्तिहेतुकं बोध्यम्। गुणापेक्षया तनोरल्पत्वेऽपि महत्त्वं चारुत्वहेतुः।

यस्यास्तनोरिति। तयोरेवोक्तिः। अत्र मुदां ततोऽपि महत्त्वमिति श्रीराधाया ह्लादिनीनाम-महाशक्तिसारत्वादिति भावः। तन्वपेक्षया मुदामल्पत्वेऽपि महत्त्वं चारुताहेतुः।

प्रतिपक्षमिति। तत्स्तुतिरत्रार्थात्संपद्यत इत्यवधेयम्, तदिच्छाया बाधात्।

कृष्णस्येति। तयोरेवोक्तिः। स्पष्टम्।

समेन लक्ष्मणा वस्तु वस्तुना सन्निगूह्यते ।
निजेनागन्तुकेनापि तन्मीलितमिति स्मृतम् ।।४५।।

सहजेनागन्तुकेन वा चिह्नेन यदि केनचित्किंचिद् गोप्यते तर्हि मीलितं द्वेधा ।

उदाहरणम्—

'लाक्षारसाङ्कमलके[1] गिरिधातुचित्रे
वक्षस्युरोजमदलक्षणमम्बुदाभे ।
राधालयादुपगतस्य हरेः प्रभाते
कैश्चिन्न नीतिनिपुणैरपि पर्यचायि ।।'

अत्र श्यामत्वं निजं गैरिकं त्वागन्तुकम् ।

स्थाप्यतेऽपोह्यते वापि यथापूर्वं परं परम् ।
विशेषणतया यत्र वस्तु सैकावली द्विधा ।।४६।।

पूर्वं पूर्वं प्रति यद्युत्तरस्य वस्तुनो विशेषणतया स्थापनं खण्डनं वा, सा द्विधैकावली ।

क्रमेणोदाहरणे—

'वृन्दावनं दिव्यलतापरीतं लताश्च पुष्पस्फुरिताग्रभाजः ।
पुष्पाण्यपि स्फीतमधुव्रतानि मधुव्रताश्च श्रुतिहारिगीताः ।।'

समेनेति । साधारणेन धर्मेणेत्यर्थः । गोप्यतेऽभिभूयते । एकेनापरस्याभिभवो मीलितमित्यर्थः । अभिभवश्च प्रबलसजातीयग्रहकृताग्रहः, तेन व्याजोक्तौ नातिव्याप्तिः । तत्र गृहीतस्यैव छद्मना गोपनात् । उपमानोपमेयभावाविव क्षणान्न चापह्नुतिः ।

लाक्षारसाङ्केति । तयोरुक्तिः । मदः कस्तूरी ।

स्थाप्यत इति । परं परं वस्तु यत्र पूर्वपूर्ववस्तुविशेषणतया स्थाप्यते निषिध्यते वा सैकावलीग्रन्थना-न्यायसाम्यात् ।

वृन्दावनमिति । श्रीबलदेवस्योक्तिः । अत्र वृन्दावनस्य लतास्तासामग्रविशेषणमुखेन पुष्पाणि. तेषां मधुव्रताः, तेषां च गीतमिति ग्रन्थना ।

---

१. °मलिके क, ख ।

'प्रीतिर्न सा प्रैति न या परं जनु-
र्न तज्जनुर्यन्न महाकुलोद्भवम् ।
महाकुलं तच्च न यत्र वैष्णवं
न वैष्णवः सोऽपि न यो व्रजप्रियः ॥'

यथानुभवमर्थस्य दृष्टे तत्सदृशे स्मृतिः ।
स्मरणम् ,

सदृशवस्तुदर्शनेन पूर्वानुभूतस्य तथैव प्रतिसन्धानं स्मरणम् ।

उदाहरणम्—

'विकचं वारिजं वीक्ष्य मधुपावलिभूषणम् ।
एणीदृशः स्खलद्वेणि वदनं स्मृतवान्हरिः ॥'

विसदृशवस्तुदर्शनेऽपि केचिदेतदिच्छन्ति ।

यथा—

'शिरीषमृद्वी गिरिषु प्रपेदे यदा यदा दुःखशतानि सीता ।
तदा तदास्याः सदनेषु सौख्यलक्षाणि दध्यौ गलदश्रुरामः ॥'

भ्रान्तिमानन्यसंवित्तत्तुल्यदर्शने ॥४७॥

प्रीतिरिति । कश्चिद्विशुद्धभक्तो वर्णयति । या परं जनुर्द्वितीयं जन्म नैति, सा प्रीतिर्न भवतीत्यादिभिरेषां प्रीत्यादीनां श्रेष्ठ्यं निषिध्यते । अत्र प्रीतेः परजनुर्गामित्वम्, जनुषो महाकुलोद्भवत्वम्, महाकुलस्य वैष्णवत्वम्, वैष्णवस्य च व्रजप्रियत्वं विशेषणम् । तत् तच्चासति तत्तद्भावे निषिध्यते ।

यथानुभवमिति । अव्ययेऽव्ययीभावः ।

विकचमिति । उज्ज्वलः सुबलमाह । एणीदृशः श्रीराधायाः ।

भ्रान्तिमानिति । व्याचष्टे ।

तेन प्रकृतेन तुल्यमप्रकृतम्, तस्य दर्शने सति तदन्यत्प्रकृतमिदमिति धीर्भ्रान्तिमान्, अतस्मिंस्तद्बुद्धिरित्यर्थः ।

उदाहरणम्—

'पृष्ठे मणीन्द्रमहसि प्रतिबिम्बमेव
केशस्य केशपरिशेष इति भ्रमेण ।
उल्लासयन्त्यसकृदङ्गुलिपल्लवेन
सा व्यग्रधीरजनि केशवकेशबन्धे ॥'

रूपकप्रथमातिशयोक्त्योराहार्यभ्रमत्वात्ताभ्यामस्य भेदः ।

आक्षेप उपमानस्य प्रतीपमुपमेयता ।
तस्यैव यदि वा कल्प्या तिरस्कारनिबन्धनम् ॥४८॥

यद्युपमेयस्तुतये कैमर्थ्येनोपमानमाक्षिप्यते, यदि वोपमानस्यैवोपमेयता तत्तिरस्कारायोपकल्प्यते, तदा द्विविधं प्रतीपम् ।

क्रमेणोदाहरणम्—

'तव जयति जगत्यां राधिके भ्रूविभङ्गे
किमिति कुसुमचापश्चापमन्यं बिभर्ति ।
विलसति मुखबिम्बे वेधसा वा किमर्थं
व्यरचि विधुविधाने निष्फलोऽयं प्रयासः ॥'

तेनेति । स्पष्टम्[1] ।

श्रीकृष्णकेशसंस्कारकाले श्रीराधायाश्चेष्टां रूपमञ्जरी विशाखां प्रत्याह—पृष्ठ इति । मणीन्द्र इन्द्रनीलः । सा श्रीराधा ।

आक्षेप इति । कैमर्थ्यं किंफलता । उपमानापकर्षः प्रतीपम् । उपमानं प्रति प्रतिकूलवतीत्यर्थः ।

तवेति । श्रीकृष्णोक्तिः ।

१. स्पष्टम् इति क, ख पुस्तकयोः न पठ्यते ।

यथा वा—

'विनिर्मितेऽस्या वदने विधात्रा दृष्ट्वाम्बुजेन्दू बहुदोषपूर्णौ ।
अशुद्धतां सूचयता तयोस्तौ कृतौ द्विरेफाङ्कमसीविलिप्तौ ।।

अनयोरुपमानस्याक्षेपः, किंतु परत्र कैमर्थ्यं गम्यते ।

विवेकविधुरः प्रेयान्यत्तेनाप्युपमीयते ।
कृशोदरि तवानेन मुखेन मृगलाञ्छनः ॥'

यथा वा—

'मम वदनमेव नयनानन्दकमिति मा कृथाः सुतनुगर्वम् ।
अपरोऽपि कश्चिदेवं राकायां शरदि शुभ्रांशुः ॥'

अनयो पूर्वत्रोपमितिरनिष्पन्ना, परत्र तु निष्पन्नाप्युपमीयमानस्य चन्द्रस्य तिरस्कारायैव ।

यथा वा—

'अहमेव गुरुः सुदारुणानामिति हालाहल मा स्म तात दृप्यः ।
ननु सन्ति भवादृशानि भूयो भुवनेऽस्मिन्वचनानि दुर्जनानाम् ॥'

विनिर्मितेति । श्रीराधां कापि सखी स्तौति । तयोरम्बुजेन्द्वोः । अङ्कः कलङ्कः । मसी कज्जलम् ।

द्वितीयप्रतीपे त्रिधा रीतिः—क्वचिदुपमितेरनिष्पत्तिः क्वचिन्निष्पत्तिः क्वचित्सर्वथैवानिष्पत्तिरिति ।

तत्र प्रथमां रीतिमाह—विवेकेति । विशाखोक्तिः । तेन प्रेयसा । अत्र मृगलाञ्छनस्य स्वल्पगुणत्वादुपमित्यनिष्पत्तिः ।

द्वितीयमाह—ममेति । राधां ललिताह । हे सुतनु राधे, राकायामिति पूर्णः शारदचन्द्र ईदृशोऽस्ति । अत्रोपमेयीकरणमेव शुभ्रांशोरनादरः ।

तृतीयामाह—अहमिति । दुर्जनं निन्दितुं हालाहलमुपलक्ष्य कश्चिदाह—हे हालाहल हे तात । दृप्य सगर्वः ।

अत्र हालाहलस्योपमानत्वमसाधर्म्यादसंभाव्यमानमपि कल्पितं तस्यैव तिरस्कृतये ।

प्रस्तुतस्य यदन्येन गुणसाम्यविवक्षया ।
ऐकात्म्यं बध्यते योगात्तत्सामान्यमिति स्मृतम् ॥४६॥

प्रस्तुतस्य प्राधान्येन वर्णनीयस्यान्येनाप्रस्तुतपदार्थेन योगात् संपर्काद्यदैकात्म्यमपृथक्प्रतीयमानत्वं समानगुणत्वप्रतिपादनाय निबध्यते तत्सामान्यम् ।

'मल्लिकामालभारिण्यः सर्वाङ्गीणार्द्रचन्दनाः ।
क्षौमवत्यो न लक्ष्यन्ते ज्योत्स्नायामभिसारिकाः ॥'

अत्र प्रस्तुततदन्ययोः साम्येन निबद्धं शौक्ल्यमेकात्मता हेतुः, अतो न तयोः पृथगुपलक्षणम् ।

यथा वा—

'राधे तडिद्गौरि तवैष गण्डयोः
कर्णावलम्बी नवकेतकीछदः ।
न सौरभेणापि गतो विभिन्नतां
मधुव्रतेनैष विविच्य बोधितः ॥'

अत्र हेत्वन्तरजापि भेदधीः प्राक्तनमभेदं नोदस्यति, तस्य प्रतीतत्वात् ॥

अत्रेति । उपमेयगतोत्कटानेकधर्मवत्किलोपमानं भवति, तदभावात् सर्वथैवोपमितिरनिष्पन्ना । तेन दुःखजनकस्वरूपं यत्किंचिद्धर्मसत्त्वेऽपि न क्षतिः । व्यतिरेकालंकारोऽत्र व्यङ्ग्यः ।

प्रस्तुतस्येति । योगादित्यस्य व्याख्यानं संपर्कादिति, सामान्यं समानगुणनिबन्धनात् । स्वगुणत्यागाभावात्तद्गुणतोऽस्य भेदः ।

मल्लिकेति । दण्डीकविराह । 'इष्टकेषीकामालानां चिततूलभारिषु' इति [पा० ६-३-६५] पाणिनिस्मृतेर्ह्रस्वत्वम् ।

राधे इति । हरेरुक्तिः । हे तडिद्गौरि । एष केतकीछदः । विविच्य विविक्तम्, भिन्नं कृत्वेत्यर्थः ।

अत्रेति । हेत्वन्तरं मधुव्रतरूपं तस्याभेदस्य प्रतीतेश्च बाधायोगादित्यनुशयः ।

विना प्रसिद्धमाधारमाधेयस्य व्यवस्थितिः ।
एकात्मा युगपद्वृत्तिरेकस्यानेकगोचरा ॥५०॥

अन्यत्प्रकुर्वतः कार्यमशक्यस्यापि वस्तुनः ।
तथैव करणं चेति विशेषस्त्रिविधः स्मृतः ॥५१॥

प्रसिद्धाधारपरिहारेणापि याऽऽधेयस्य विशिष्टा स्थितिः सः प्रथमो विशेषः । या चैकस्यापि वस्तुनो युगपदेकरूप्येणा[1]नेकत्र वृत्तिः स द्वितीयः । या तु किंचित्कार्यमारभमाणस्य कर्तुरतेनैव व्यापारेणाशक्यकार्यान्तरनिर्मितिः स तृतीयः ।

क्रमेणोदाहरणम्—

'लोकान्तरान्तः सुहृदां गतानां गिरश्च रूपाणि च केलयश्च ।
तथैव सन्तीह सुहृज्जनानां मनस्यहो सौहृद ते प्रभावः ॥'

'राधाग्रतश्च पुरतोऽपि च पार्श्वतश्च
श्रोत्रे च चक्षुषि च वाचि च मानसे च ।
केनाध्वनैष मदनो हृदि मे प्रविश्य
मां हन्ति हन्त किमियं न निराचकार ॥'

पर्याये क्रमादेकस्यानेकत्र वृत्तिरिह तु युगपदिति भेदः ।

विनाप्रसिद्धमिति । एक आत्मा स्वभावोऽर्थाद् वृत्तिमतो यस्यां सा तथाभूता, अनेकस्मिन्वर्तमानेत्यर्थः ।

लोकान्तरेति । युधिष्ठिरादिषु भगवत्पदं प्राप्तेषु पश्चात् स्थितानामियमुक्तिः । विभावनात्र व्यङ्ग्या ।

राधेति । कृष्णः स्वगतमाह । पृथक् पृथक् चकाराः सर्वत्र समां वृत्तिं सूचयन्ति । विप्रलम्भप्रकर्षरूपं वस्त्वत्र व्यङ्ग्यम् ।

---

१. युगपदैकरूप्येण इति ख ।

'नयनयुगविधाने राधिकाया विधात्रा
जगति मधुरसाराः संचिताः सद्गुणा ये ।
भुवि पतिततदंशैस्तेन सृष्टान्यसारैः
भ्रमरमृगचकोराम्भोजमीन्युत्पलानि ॥'

स्वमुत्सृज्य गुणं योगादत्युज्ज्वलगुणस्य यत् ।
वस्तु तद्गुणतामेति भण्यते स तु तद्गुणः ॥५२॥

उदाहरणम्—

'नासिकामौक्तिकं यस्याः पद्मरागोऽधरत्विषा ।
व्रजनाथ पुरः सेयं तरुणीमणिरीक्ष्यताम् ॥'

अत्र मौक्तिकापेक्षयाऽधरस्य प्रगुणवर्णता ।

तद्रूपाननुहारश्चेदस्य तत्स्यादतद्गुणः ।

यद्यनेन वस्तुना न्यूनगुणत्वेन तदीयवर्णो न गृह्यते, अथवानेन प्रकृतेन चेदप्रकृतस्य रूपं नानुक्रियते तर्ह्यतद्गुणः ।

नयनेति । काचित्सखी वर्णयति । तेन विधात्रा । व्यतिरेकोऽत्र व्यङ्ग्यः ।

स्वमुत्सृज्येति । बलीयसा परगुणेन चेत् स्वगुणतिरस्कारस्तदवाप्तिश्च तर्हि तद्गुणः । तस्याप्रकृतस्य गुणोऽत्रास्तीति व्युत्पत्तेः ।

नासिकेति । हरिसन्निधौ । राधामानीय दूती वदति । हे व्रजनाथ । मीलिते धर्मिणो न ग्रहणम् । सामान्ये स्वगुणस्य न त्यागः, इह तु गुणमात्रस्याभिभवो धर्मिणः प्रतिपत्तिश्चेति ताभ्यां भेदः ।

तद्रूपमिति । वस्तु न्यूनगुणमप्यतरतद्गुणं[1] न गृह्णाति ।

---

१. 'न्यूनगुण्पमतस्तद्गुणम्' क ।

क्रमेणोदाहरणम्—

'धवलोऽपि मम स्वान्तं रक्तं वितनुषे हरे ।
रक्तेऽपि विधृतः स्वान्ते न रक्तोऽस्यद्भुतं महत् ॥'

अत्र रक्तेनापि स्वान्तेन युक्तो रक्ततां नोपयात इत्यतद्गुणः ।

'क्षीरोदधिजठरभवः सहजन्मा कालकूटस्य ।
तदपि च न सितो न शितिः कौस्तुभ एकः स्वभावतो रक्तः ॥'

यद्यथा साधितं केनाप्यपरेण तदन्यथा ॥५३॥
तथैव यद्विधीयेत[1] स व्याघात इति स्मृतः ।

केनापि कर्त्रा यद्वस्तु येनोपायेन साधितं तच्चेदपरेण तज्जिगीषुणा तेनैव वान्यथा क्रियते तर्हि व्याघातः ।

उदाहरणम्—

'उज्जीवयन्ति दृक्पातैर्दृक्पातनिहितं स्मरम् ।
व्रजेषु नार्यो गौर्योऽपि विभवप्रीतयो ध्रुवम् ॥'

धवल इति । ललिता हरिमाह । धवलः शुद्धः वृषभश्च । रागो रक्तिमानुरागश्च ।

उच्चावचसंगतावपि साधुः स्वधर्मं न त्यजतीति कौस्तुभमुद्दिश्याह—क्षीरेति । पूर्वत्र तदिदमोरधिकगुणन्यूनगुणवाचित्वम्, परत्र तु प्रकृताप्रकृतवाचित्वमिति भेदः ।

यद्यथेति । यथा येनोपायेन, तथा तेनोपायेन ।

गोपीनां महिमानं कश्चिद्वर्णयति । उज्जीवयन्तीति । व्रजेषु स्थिता नार्यो गौर्यः शिवा अपि विभवप्रीतयः विगतशिवस्नेहाः । कुत इत्याह—उज्जीवयन्तीत्यादि । अत्र वाक्यगतकाव्यलिङ्ग-विरोधाभासयोरङ्गाङ्गिभावेन सांकर्यं च । पक्षे गौर्यो गौराङ्ग्यः । विभवे भगवद्गुणसंपत्तौ प्रीतिर्यासां

---

१. विधेयेत क, ख ।

अत्र हरदृक्पातनिहतस्य स्मरस्य गोपस्त्रीदृक्पातैरुज्जीवनमिति साधितवस्तुव्याहननाद् व्याघातः।

तदेवमनुप्रासादिव्याघातान्ता अलंकारा दर्शिताः। अथ संसृष्टिसंकरौ दर्शयति—

सेष्टा संसृष्टिरेतेषां भेदेनैकत्र या स्थितिः ॥५४॥

एषां प्रागुक्तानां मिथोनैरपेक्ष्येणैकत्र शब्दभागेऽर्थविषये उभयत्र वा स्थितिः संसृष्टिनामालंकारः।

तत्र शब्दालंकारयोर्यथा—

'सुरतरुरेष नतानां सुरतरुचिर्गोपरमणीनाम्।
त्रिभुवनजनकमनीयो जयतादाभीरराजयुवराजः॥'

अत्र यमकानुप्रासयोः।

अर्थालंकारयोर्यथा—

ता इति विरोधभङ्गश्च। शिवापेक्षयाप्याधिक्यवर्णनाद् व्यतिरेकोऽपि गम्यः।

अत्रेति। एकजातीयव्यापाराद्विजातीयकार्योक्तेरयं व्याघात इत्यन्ये।

'प्रयाहि न मया सीते मृदु त्वं तिष्ठ सद्मनि।
इत्युक्ता साह याम्येषा मृद्वी नाथ त्वया सह॥'

इत्यत्रापि व्याघात एव।

अनुप्रासोपमादीनां पृथक्चारुत्वे सत्यपि मिथः सांकर्येण चाप्यतिचारुत्वमनुभूतम्, अतः संसृष्टिसंकरयोः पृथगलंकारत्वं दर्शयितुमाह—तदेवमित्यादि।

सेष्टेति। एकत्र पद्येऽलंकृतीनां संसृज्यमानत्वात्संसृष्टिरित्यर्थः।

सुरतरुरिति। शारी पठति। स्पष्टम्।

'तारुण्ये नवभूपतौ श्लथनये राधावपुः पत्तने
वक्षोजद्वयदस्युना सजघनेनाक्रम्य मध्यं बलात्।
पौष्कल्यं निखिलं हृतं त्रिवलिभिः फूत्कारभीत्या गुणै
र्बद्धा स्थापितमित्यवेत्य भयतो गुल्फौ निलीय स्थितौ ॥'

अत्र रूपकोत्प्रेक्षयोः।

उभयालंकाराणां यथा—

'कृष्णः पायादपायान्नः पूर्णेन्दुसदृशाननः।
भक्तहृत्सरसीहंसः कंसवंशनिसूदनः ॥'

अत्र यमकोपमारूपकानुप्रासाः संसृष्टाः।

अविश्रान्तिजुषामा[1]त्मन्यङ्गाङ्गित्वं तु संकरः।

त एव चेदात्मन्यप्राप्तस्वातन्त्र्या मिथोनुग्राह्यानुग्राहकतां धारयन्ति, तर्हि संकरनामा।

यथा—

'पाणौ पानीयमानीय पिपासुरपि जानकी।
शोणिते शोणितभ्रान्त्या भूयो भूयो विमुञ्चति ॥'

अत्र तद्गुणोऽङ्गी भ्रान्तिमानङ्गमित्यनुग्राह्यानुग्राहकभावः।

तारुण्य इति। काचित्सखी श्रीराधाङ्गं वर्णयति। गुल्फौ पादग्रन्थी।

कृष्ण इति। अत्र चतुर्षु पादेष्वेते यमकादयश्चत्वारोऽलंकाराः क्रमाद् बोध्याः।

अविश्रान्तीति। अलंकृतीनां संकीर्यमाणस्वरूपत्वादयं संकरः।

पाणाविति। वनवासीयं श्रीसीतावृत्तमेतत्। न चात्र शोणितपदं निहितार्थम्, शोणितभ्रान्तिहेतुत्वावेदनेन शोणिमावबोधात्।

---

१. °पुषामा° क, ख।

यथा वा—

'हृतभुवनतमाः क्रमाद्विरागः कलय कलानिधिर्वैष्णवो विशुद्धः।
रुचिममृतमयीं क्षिपन्विदूरे प्रविशति विष्णुपदप्रपत्तिवीथीम् ॥'

अत्र रूपकमङ्गी श्लेषोऽङ्गमित्यनयोः संकरः।

यथा वा—

'माधव्याः श्रीर्माधवेनैव रम्या माधव्यैवोत्फुल्लया माधवश्रीः।
इत्यन्योन्यश्रीसमुल्लासहेतू एतौ धातुर्युञ्जतोऽभिज्ञतासीत् ॥'

अत्राप्रस्तुतप्रशंसाया अङ्गाभ्यामन्योन्यसमाभ्यां संकरः।

यथा वा—

'निरस्य करलीलया तिमिरनीलचेलाञ्चली
रथाङ्गमिथुनस्तनावपि निपीड्य जातस्मितः।
ह्रियेव निमिषत्कुशेशयदृशं सरागां प्रियः
प्रियामिव सुधाकरो हरिहरिद्वधूं चुम्बति ॥'

अत्र रूपकोत्प्रेक्षाश्लेषोपमासमुच्चया मिथोऽङ्गाङ्गिभावेन प्रतीयन्ते। तत्र तिमिरेति रूपकम्। ह्रियेवेत्युत्प्रेक्षा। करलीलयेति श्लेषः। प्रियः प्रियामिवेत्युपमा। निरस्य निपीड्येति समुच्चयः।

हृतेति। भामां हरिराह। तमो ध्वान्तमविद्या च। विरागः शुक्लिमा विषयवैतृष्ण्यं च। रुचिः किरणोऽभिलाषश्च। अमृतं सुधा मोक्षश्च। अत्र श्लेषेण रूपकमुपपादितमिति तस्याङ्गित्वम्।

माधव्याः श्रीरिति। काचित्सखी वर्णयति। माधवी वासन्ती, माधवो वसन्तः, एतावप्रस्तुतौ, राधाकृष्णौ तु प्रस्तुतौ।

निरस्येति। राधास्कन्धनिवेशितवामबाहुः कृष्णश्चन्द्रं दर्शयेन्नाह। हरिहरित् प्राची दिक् सैव वधूर्वनिता। करः किरणः पाणिश्च। रथाङ्गौ चक्रवाकौ। कुशेशयं पद्मम्।

यथा वा—

स्मराग्रनाशीत्यादि । [पृ० १५८] अत्रानुप्रासादयः शब्दालंकाराः संकीर्यन्ते ।

एकस्य च ग्रहे न्यायदोषाभावादनिश्चयः ॥५५॥

यत्र द्वौ बहवो वालंकारा सहैव प्रतीयन्ते, तत्र चेदेकस्य साधिकाबाधिका वा युक्ति र्न स्यात्तर्हि निश्चयाभावरूपो द्वितीयः संकरः ।

यथा—

'नयनानन्ददायीन्दोर्बिम्बमेतत्प्रसीदति ।
अधुनापि निरुद्धाशमविशीर्णमिदं तमः ॥'

अत्र किं स्मरोद्दीपकः कालस्चकास्तीति भङ्ग्यन्तरेणोक्तेः पर्यायोक्तम्, किं वा तन्मुखस्येन्दुतयाऽध्यवसायादतिशयोक्तिः । अथवैतदिति मुखं निर्दिश्य तस्मिन्निन्दुत्वारोपणाद्रूपकम् । किं वा प्रदोषसमये विशेषणमाहात्म्यान्मुखस्यावगतौ समासोक्तिः । उत मुखप्रसादप्रस्तावादप्रस्तुतप्रशंसेति बहूनां संशयादयमपरः संकरः ।

यत्र तु न्यायदोषयोरेकतरस्योपलम्भस्तत्र न सः ।

स्मराघनाशीति । नवमे [१५८ पृष्ठे] व्याख्यातम् । अत्रानुप्रासगोमूत्रिकाश्वगतिमुक्तकपाटवद्धकपाटानां सांकर्यम् ।

एकस्य चेति । एकस्यालंकारस्य न्यायः साधकप्रमाणम् । दोषो बाधकप्रमाणमित्यर्थः । चकारः संकर इत्यनुकर्षणार्थः ।

नयनेति । कस्यचित्कवेर्वाक्यम् । आशा दिशस्तृष्णाश्च । तमस्तिमिरम् वाक्य[1] प्रत्यायितमानस्थितिशङ्काजनितोमोहश्च[2] । इन्दुप्रसादे सत्यपि तमोनाशाभावाद् विशेषोक्तिश्च । यत्र द्वयोः सह प्रतीतिः तत्तु 'नखसितरुचिगङ्गाकृष्णपादप्रयागे' इत्यादिकं [पृ० १७४] प्रागुक्तं द्रष्टव्यम् । अत्र रूपकोपमयोरुभयोरपि प्रतीतौ साधकं बाधकं च निश्चेतुं न शक्नुमः ।

यत्रेति । स संकरः ।

---

१. वाम्य क, ख ।   २. जनितमोहश्च क, ख ।

यथा—

'विरचिताभयं वृष्णिधुर्य ते चरणमीयुषां संसृतेर्भयात् ।
करसरोरुहं कान्त कामदं शिरसि धेहि नः श्रीकरग्रहम् ॥'

अत्र श्रीकरग्रहणं करस्यैव संभवेदित्युपमायाः साधकम् ।

'अहो बत महत्यस्य धृष्टता भीरुतापि च ।
सति तन्मुखचन्द्रेऽन्यश्चन्द्रोऽयं यदुदीयिवान् ॥'

अत्रान्यत्वं चन्द्रेऽनुकूलं न तु मुखे । तत्र तु प्रतिकूलमेवेति[1] रूपकस्य साधकं तत् बाधकं तूपमायाः ।

'शास्त्रज्ञभास्करं संज्ञा त्वामालिङ्गति सर्वदा ।'

अत्रालिङ्गनमुपमाया बाधकम्, सत्याः पतितुल्ये तदसंभवात् । तेन रूपकस्यैव साधकं तत् ।

'मुखेन्दुस्तव गोविन्द स्फुरत्कनककुण्डलः ।'

अत्र कुण्डलवत्त्वमिन्दौ प्रतिकूलमसंभवदिति रूपकस्य बाधकम् । साधकं तूपमायाः । एवमन्यच्च सुज्ञैः परीक्ष्यम् ॥

विरचितेति । गोप्यः कृष्णं गायन्ति । हे वृष्णिधुर्येति । 'प्रागयं वसुदेवस्य कच्चिज्जातस्तवात्मजः' इति गर्गोक्त्या प्राचीनसंबन्धमारोप्येति बोध्यम् । हे कान्त, करः सरोरुहमिवेत्युपमितसमासः ।

अहो इति । वृतीं हरिराह । अस्य चन्द्रस्य ।

शास्त्रज्ञेति । संज्ञा रविपत्नी । पक्षे संज्ञा सम्यक् ज्ञानम् । सम्यग् ज्ञानमेव रविपत्नीति केचित् ।

---

१. प्रतिकूलत्वमेवेति ख ।

स्फुटमेकत्र विषये शब्दार्थालंकृतिद्वयम् ।

व्यवस्थितं च,

एकस्मिन्नेव पदे यद्युभावपि शब्दार्थालंकारौ स्फुटं तिष्ठतस्तदा तृतीयः संकरः ।

उदाहरणम्—

'शैवाललक्ष्मणविलक्षणलक्ष्मलक्ष्मी-
रुद्दण्डरश्मिविशमण्डलमण्डयमानः ।
मग्नश्चिरं हरिहरित्सरसीरसेभ्यः
प्रत्युन्ममज्ज शनकैरमृतांशुहंसः ॥'

अत्रैकपदविषयौ रूपकानुप्रासौ न तु संसृष्टिवत् पृथक्पदविषयौ । एवमन्यच्च बोध्यम् ।

तेनासौ त्रिरूपः परिकीर्तितः ॥५६॥

अनुग्राह्यानुग्राहकतया संदेहेनैकपदबोध्यतया चासौ संकरस्त्रिविधः ॥

अथालंकारदोषान्दर्शयति—

एषां दोषा यथायोगं संभवन्तोऽपि केचन ।
उक्तेष्वन्तः पतन्तीति न पृथक्प्रतिपादिताः ॥५७॥

स्फुटमिति । विषये पदे पादे वेति व्याख्येम् । तथैवाभियुक्तैः स्वीकृतत्वात् ।

शैवालेति । कृष्णश्चन्द्रोदयं वर्णयति । शैवाललक्षणं शैवलरूपं यद्विलक्षणं विशिष्टं लक्ष्म कलङ्कस्तेन लक्ष्मीः शोभा यस्य । अतिकमनीयवस्तुनि दृष्टिदोषहरणाय मसीं न्यस्यन्तीति लोके प्रसिद्धम् । अनेनारोपविषयारोप्यमाणयोर्विपरीतोपन्यासेनापि रूपकं दर्शितम् । प्रत्युन्ममज्ज उत्थितः ।

स्वग्रन्थस्य न्यूनत्वं परिहर्तुमाह—अथेति । एषामनुप्रासादीनाम् ।

तथाहि—वैफल्यप्रसिद्ध्यभाववृत्त्ययोग्यता अनुप्रासे दोषाः, ते क्रमादपुष्टार्थत्व-प्रसिद्धिविरोध-प्रतिकूलवर्णत्वरूपास्तत्स्वाभाव्यात्।

यथा—

'इन्द्रनीलतनुर्नन्दसूनुरानन्दकन्दलः ।
'कंस त्वद्वंशविध्वंसी मया स्वप्ने विलोकितः ॥'

अत्रायमनप्रासो वाच्यं न पुष्णातीति निष्फलः।

'द्वन्द्वं द्वन्द्वं वादयद्दुन्दुभीनां
नन्दद्वृन्दं व्योम्नि वृन्दारकाणाम्।
हर्षोत्कर्षादिन्दुकुन्दद्युतीनां
सान्द्रानन्दं नन्दसूनुं ववन्द[1] ॥'

अत्र सर्वेषां देवानां शौक्ल्यमप्रसिद्धम्।

'शिखण्डिताण्डवक्रूरे' [पृ० १३३] तु वृत्तिविरोधः। इह हि शृङ्गारे वृत्तिरुप-नागरिका युज्यते।

यमकस्य पादत्रयगतत्वमप्रयुक्तता।

इन्द्रनीलेति। कंसं प्रति तस्य हितकारी कश्चिदाह। हे कंस।

अत्रेति। वाच्यं कंसविपत्प्राप्तिरूपमर्थम्।

द्वन्द्वमिति। सायं गृहमागत्य शिशवः कथयन्ति। वृन्दारकाणां वृन्दं कर्तृभूतं नन्दसूनुं ववन्द इत्यन्वयः। कीदृशम्? नन्दत् समृद्धियुक्तम्, दुन्दुभीनां द्वन्द्वं द्वन्द्वं वादयत्। सीधुस्यन्दामन्द-मन्दारवर्षैः' इति तृतीये पादे तु सति निर्दोषत्वम्।

---

१. ववन्दे क।

यथा—

'राधैव सौभाग्यविधौ समाना न कापि तस्या रमणी समाना ।
मयूखजालेन हि हीरकाणां भवन्ति मुक्तारुचयः समाना ॥'

उपमायामासादृश्यासंभवादुपमानस्य जातिप्रमाणगतं न्यूनत्वाधिक्यं चानुचितार्थता ।

क्रमेणोदाहरणम्—

'दिङ्मण्डलमिवाभाति प्रसूनं पश्य सुन्दरि ।'

अत्र दिङ्मण्डलप्रसूनयोः सादृश्यं नास्त्येव ।

'त्वदास्यान्निर्गतं वाक्यं चन्द्रादिव मधुक्षरत् ।'

अत्र चन्द्रान्मधुक्षरणमसंभवि ।

'देवोऽयं पुष्पकोदण्डश्चण्डाल इव दारुणः ।'

अत्र जात्या न्यूनता ।

'इन्दुरेष सुधाबिन्दुरिव सर्वरसायनः ।'

अत्र प्रमाणेन ।

युवतीसभायां श्रीराधिकायाः श्रैष्ठ्यं श्रीललिता वर्णयति—राधैवेति । समाना मानसहिता संमानपुरस्सरमस्याः कृष्णकर्तृकं सौभाग्यविधानमित्यर्थः । सौभाग्यजनके कृष्णानुरञ्जनरूपे विधौ राधैव सगर्वा नान्या तदबोधादेवेति वा । अत एवान्या कापि रमणी तस्यां समाना तुल्या न भवति । तत्र दृष्टान्तः—हीरकाणां मयूखजालेन सह मुक्तानां कान्तयः समास्तुल्या न भवन्ति । नाशब्दो निषेधे ।

उपमायामिति । आसादृश्यादिकमनुचितार्थतां नातिक्रामतीति तदात्मकं तदित्यर्थः । उपमानं जात्या प्रमाणेन च न्यूनं चेद् भवति तथा दोषः । जात्या प्रमाणेन वा चेदधिकं भवति तदापि दोष इत्यर्थः ।

अत्र प्रमाणनेति । न्यूनतेत्यनुषज्यते ।

'करटोऽयं दीर्घजीवी मार्कण्डेयो मुनिर्यथा ।'

अत्र जात्याधिक्यम् ।

'पातालमिव ते नाभिर्वैणीयं यमुनोपमा ।'

अत्र प्रमाणेन । एषु चण्डालादिभिरुपमानैरुपमेयस्य कदर्थनादनुचितार्थता ।

साधर्म्यगता न्यूनता न्यूनपदता । अधिकता त्वधिकपदतैव ।

क्रमेणोदाहरणम्—

'राधयालिङ्गितः कृष्णस्तारहारद्युतिं दधत् ।
विद्युतालंकृतो नीलबलाहक इवाबभौ ॥'

अत्र बलाहकस्य सबलाकत्वानुक्तेर्न्यूनपदता ।

'चामीकराभं वसनं वसानः शिखण्डचूडो हरिराबभासे ।
विभूष्यमाणः क्षणरोचिरिन्द्रधनुर्बलाकाभिरिवाम्बुवाहः ॥'

अत्र तस्य सबलाकत्वातिरेकादधिकपदता ॥

उपमानोपमेययोर्लिङ्गवचनभेदः कालपुरुषविध्यादिभेदश्च भग्नप्रक्रमता ।

क्रमेणोदाहरणम्—

'सुधेव मधुरं वारि' अत्र लिङ्गभेदः । 'कीर्तिर्ज्योत्स्ना इवौज्ज्वला' अत्र वचनभेदः ।

करटोऽयमिति[1] करटः काकः । 'काके तु करटारिष्टबलिपुष्टसकृत्प्रजाः' इत्यमरः ।

साधर्म्यगतेति । तदात्मकत्वादित्याशयः ।

राधयेति । सख्यो वर्णयन्ति । नीलबलाहको घनाघनः ।

चामीकरेति । क्षणरोचिर्विद्युत्, तस्योपमानस्य ।

---

१. करटोऽयमिति क, ख पुस्तकयोः नास्ति ।

'हरिरानन्दयद्राधां पद्मिनीमिव दीप्तिमान् ।'

अत्र कालभेदः । आनन्दयतीति तु युक्तम् ।

'भासि त्वं कल्पवल्लीव राधेऽभीष्टफलप्रदा ।'

अत्र पुरुषभेदः । कल्पवल्ली हि भाति ।

'कृष्णे प्रवहतु प्रीतिस्तव गङ्गेव सर्वदा ।'

अत्र विधिभेदः । गंगा तु वहति । एषु धर्मोभयनिष्ठतायाः प्रक्रान्ताया स्फुटमनिर्वाहात्तथा । यत्र लिङ्गादिभेदेऽपि सारूप्याद्रूपं न भिद्यते तत्र नैष दोषः ।

यथा—

'हन्त रत्नैरिवानर्घ्यैं रामनामाक्षरोत्करैः ।
भूषितोऽहं भूरिभागः किमन्यैर्भूषणैस्ततः ॥'

'दीव्यन्ती शम्भुमुकुटे गङ्गेव त्वत्पदाम्बुजे ।
महिते हितलाभाय तनुतामीश मे शुभम् ॥'

'विधुवद्धमहामोदा बुद्धिस्ते सागरा इव ।
अतुलं बत गाम्भीर्यं स्थैर्यं च दधते भृशम् ॥'

हरिरिति । दीप्तिमान् रविः ।

एष्विति । तथा भग्नप्रक्रमतेत्यर्थः । यत्रेति । आदिपदाद्वचनादेर्ग्रहणम् ।

हन्तेति । रत्नैरुत्करैरित्यनयोर्भिसि तुल्यरूपता ।

दीव्यन्तीति । हे ईश, त्वत्पदाम्बुजे शुभं तनुताम् । कीदृशे । शम्भुमुकुटे दीव्यन्ती । हितलाभाय महिते च । गङ्गेव । गङ्गा च शुभं तनुताम् । कीदृशी शंभुमुकुटे दीव्यन्ती । ईहितलाभाय महिता च । अत्र द्विवचनैकवचनयो रूपं न भिद्यते तेन वचनश्लेषोऽयम् ।

एषूक्तिवैचित्र्यादुभयानुयायी धर्मः प्रतीतः।

उत्प्रेक्षायां यथाशब्दप्रयोगेऽवाचकता तस्य साधर्म्यमात्रवाचित्वात्।

यथा—

'एष मूर्तो यथा धर्मः क्षितिपो रक्षति क्षितिम्।'

अर्थान्तरन्यासेऽतात्त्विकोत्प्रेक्षितार्थसमर्थनमनुचितार्थता।

यथा—

'तन्वि त्वन्मध्यमालोक्य व्रीडयैव विनिह्नुतः।
केशरी हन्त कस्तिष्ठेन्न्यूनोऽधिकगुणैः सह॥'

समासोक्तौ तुल्यविशेषणवशात्प्रतीतस्यापि परार्थस्याप्रस्तुतप्रशंसायां व्यञ्जनयाधिगतस्य प्रस्तुतस्य च शब्देन पुनरभिधानं पुनरुक्तता।

यथा—

'कलावता निशां नीत्वा जागरेण कुमुद्वती।
मीलन्नेत्रोत्पला निद्रां प्रातः प्राप वधूरिव॥'

अत्र वधूरिवेत्यपुष्टार्थम्। एवमन्यच्चोहनीयम्। व्याख्यातमिदं सम्पूर्णं काव्यलक्षणम्।

विधिवति। विधुः कृष्णश्चन्द्रश्च। दधते धारयन्ति च। 'दध धारणे' 'डुधाञ् धारणपोषणयोः' इति धातुद्वयसाहाय्यात्, अयं प्रकृतिश्लेषः। वचनश्लेषश्चात्र बोध्यः।

तन्वीति। राधां हरिराह। केशरी सिंहः। अत्र मध्यदर्शनजलज्जया सिंहस्य वने निह्नुतित्वास्तवीति तत्रोपपत्तिचिन्ता न युज्यते।

कलावतेति। विभातं सख्यो वर्णयन्ति। कलावता चन्द्रेण सह।

मम्मटाद्युक्तिमाश्रित्य मितां साहित्यकौमुदीम् ।
वृत्तिं भरतसूत्राणां श्रीविद्याभूषणो व्यधात् ॥

इति श्रीभरतसूत्रवृत्तौ साहित्यकौमुद्यामर्थालंकारनिरूपणो नाम
दशमः परिच्छेदः ॥

एतावता ग्रन्थेन भरतसूत्राणि व्याख्यातानि, वक्ष्यमाणपरिशिष्टानि स्वाभियुक्तेभ्यः संगृहीतानीत्युपसंहारव्याजेनाह—

मम्मटेति । एतेन स्वकपोलकल्पनापि निरस्ता ।

इति कृष्णनन्दिन्यां साहित्यकौमुदीटीकायां
दशमः परिच्छेदः ॥

**कृपया यस्य भक्तानां न किंचित्परिशिष्यते ।
मनसि स्फुरतु श्रीमान्ममासौ श्यामसुन्दरः ॥**

इह भरतोक्तेभ्यः केचन परिशिष्टाः प्रदर्श्यन्ते—

तत्र शब्दालंकाराः—

**शब्दैरेकविधैरेव भाषासु विविधास्वपि ।
वाक्यं यत्र भवेत्सोऽयं भाषासमक उच्यते ॥१॥**

उदाहरणम्—

'मञ्जुलमणिमञ्जीरे कलगम्भीरे विहारसरसीतीरे ।
विरसासि केलिकीरे किमालि धीरे च गन्धसारसमीरे ॥'

अथ भरतोक्तपरिशेषान्वक्तुं स्वार्चितपादस्य श्री भगवतः स्फूर्तिं मङ्गलमाशास्ते—कृपयेति । यस्येत्युभयत्रान्वेति देहलीदीपकन्यायात् ।

केचनेति । एभ्योऽन्येऽपि सन्ति । ते च प्रायः स्वोक्तेष्वन्तः स्युरिति नोट्टङ्कितम्, संगमनीयं तु कुशाग्रधिषणैः ।

मञ्जुलेति । मानवतीं प्रति सखीवाक्यम् । कलेन मधुरसूक्ष्मध्वनिना गम्भीरे मनोहरे केलिकीरे खेलाशुके । धीरे मन्दे, गन्धसारसमीरे चन्दनानिले ।

अत्र संस्कृतप्राकृतशौरसेनी[1]प्राच्यावन्तीनागरापभ्रंशैरेकविधः श्लेषः ।

अन्योऽर्थो विस्फुटं यत्र बिन्द्वादिप्रच्युतावपि ।
प्रतीयते विदः प्राहुस्तद्बिन्दुच्युतकादिकम् ॥२॥

यथा—

'सुन्दरि बिन्दुच्युतके तव नैपुण्यं बभूव पुण्येन ।
शशिमुख वशीकृताभूद्वंशी मम यत्त्वया त्वरया ॥'

यथा वा—

'सुश्यामा चन्दनवती कान्ता तिलकभूषिता ।
कस्यैषानङ्गभूः प्रीतिं भुजङ्गस्य करोति न ॥'

अत्रानङ्गभूरित्यत्र बिन्दौ विच्युते नगभूरिति, भुजंगस्येत्यत्र बिन्दुच्युतौ भुजगस्येति भवति ।

'मन्द्रैः कलापिनामेते पक्षिणां धरणीरुहाः ।
विरुतैः स्वागतानीव वारिवाहाय तन्वते ॥'

अन्योऽर्थ इति । स्पष्टम् ।

सुन्दरीति । राधां हरिराह । त्वदधीना मम वंशीति स्फुटमपरोऽर्थः ।

सुश्यामेति । सबिन्दुपक्षे कान्तेति पदं विशेष्यम् । कीदृशी । अनङ्गभूः कामनिवासस्थानभूता । भुजङ्गस्य कामिनः । बिन्दुविच्युतौ तु नगभूः पर्वतभूमिरिति विशेष्यम् । तत्पक्षे चन्दनतिलकौ तरुभेदौ । कस्य भुजगस्य सर्पस्य । इदं बिन्दुच्युतकं नाम काव्यम् ।

मन्द्रैरिति । एकपदत्वे मन्द्रं धीरमेकं लपन्तीति मन्द्रैःकलापिनस्तेषां पक्षिणामिति विसर्गच्युतकम् । एवमन्यचेति ।

'महानपि सुधीरोऽपि बहुरत्नयुतोऽपि सन् ।
विरसः क्रूरपरिखो नदीनः केन सेव्यते ।'

अत्र नदीनपदे नकारच्युतौ दीन इति भवति । नदीनः समुद्रः, दीन कृपणः इत्यक्षरच्युतकम् ।

---

1. सौरसेनी क, ख ।

अत्र मन्द्रैरिति विसर्गविच्युतौ मन्द्रैकलापिनामिति भवति । एवमन्यच्च वर्णच्युतकादिकमूहनीयम् ।

च्योतयित्वाक्षरं किंचिद्दत्वा चान्यत्प्रकाश्यते ।
अन्योऽर्थो यत्र तत्प्राहुश्च्युतदत्ताक्षरं बुधाः ॥३॥

उदाहरणम्—

'पूर्णचन्द्रमुखी रम्या यामिनी निर्मलाम्बरा ।
करोति कस्य न स्वान्तमेकान्तमदनोत्तरम् ॥'

अत्र ये च्युते के दत्ते कामिनीति भवति । उभयोस्तुल्यानि विशेषणानि ॥

भिक्षवो रुचिराः सर्वे सुरसाः सकलप्रियाः ।
क्षमायामभिसंपन्ना दृश्यन्ते गौडनीवृति ॥'

अत्र भिक्षव इत्यस्मिन्पदे भव्यञ्जनच्युताविक्षव इति भवति । क्षमायां पृथिव्याम् । उभयोस्तुल्यानि विशेषणानि इति व्यञ्जनच्युतकम् ।

'हरः क्षयी तापकरः सुरेशः
शान्तो हरिर्गोत्ररिपुर्विवस्वान् ।
चन्द्रो द्विजिह्वाश्रय इत्युपेत्य
लक्ष्म्या वृतः पातु विधिर्जगन्ति ॥'

अत्र हरो द्विजिह्वाश्रितः, चन्द्रः क्षयी, विवस्वान् तापकरः, सुरेशो गोत्ररिपुः, विधिः शान्तः, इत्युपेत्य ज्ञात्वा लक्ष्म्या वृतो हरिर्जगन्ति पात्विति स्थानच्युतकम् । इदमन्ये नाङ्गीकुर्वन्ति । अस्थानस्थपदत्वदोषरूपत्वात् ।

च्योतयित्वेति । स्फुटम् ।

पूर्णेति । उभयोर्यामिनीकामिन्योः वसन्तागमे प्रोषितभर्तृकां विह्वलां वीक्ष्य दूत्योः संवादः ।

यथा वा—

'कूजन्ति कोकिलाः साले यौवने फुल्लमम्बुजम् ।
किं करोतु कुरङ्गाक्षी वदनेन निपीडिता ॥'

अत्र रसाल इति वक्तव्ये साल इति रश्च्युतः । वन इत्यत्र यौवने इति यौर्दत्तः । वदनेति मे च्युते वश्च दत्तः[1] ।

न लक्ष्यते स्फुटं यत्र पदसंधानकौशलात् ।
क्रियादि सदपि प्राज्ञैः क्रियागुप्तादि तत्स्मृतम् ॥४॥

यथा—

'पाण्डवानां सभामध्ये दुर्योधन उपागतः ।
तस्मै गां च सुवर्णं च सर्वाण्याभरणानि च ॥'

अत्रादुरिति क्रिया ।

यथा वा—

'नवरत्नमयी माला कण्ठे रामस्य सीतया ।
अत्र क्रियापदं गुप्तं प्रत्यक्षेपि क्रियापदे ॥'

कूजन्तीति । स्फुटमेव वृत्तौ[2] । अत्रान्यो विवक्षितोऽर्थः । च्युताक्षरं दत्ताक्षरं च्युतदत्ताक्षरं चेति व्याख्येयम् ।

न लक्ष्यत इति । स्फुटम् ।

पाण्डवानामिति । अत्राधनो य उपागतस्तस्मै गवादिकमदुरिति संबन्धः ।

नवरत्नेति । प्रत्यक्षेपि प्रक्षिप्ता निहितेत्यर्थः । क्रियापदे विवाहकाले । अत्र न गर्भितत्वं दोषः । गोपनस्य सम्यक्प्राप्तेः ।

---

१. 'दत्तः' इति क, ख पुस्तकयोः नास्ति ।
२. 'ध्यावदानम्' इत्यधिकं क, ख पुस्तकयोः ।

अत्र प्रत्यक्षेपीति च ।

'माधवस्य पुरोऽप्यासां साध्वीनां गोपसुभ्रुवाम् ।
राजते वदने तन्वी नापि स्वप्रियचेतसाम् ॥'

अत्र मेति कर्ता ।

'साकं सखीभिरागत्य काननेऽस्मिन्दिने दिने ।
उत्काप्युत्काय मे राति राधा वामतया बत ॥'

अत्राकमिति कर्म ।

'पूतिपङ्कमयेऽत्यर्थं कासारे दुःखिता अमी ।
दुर्वारा मानसं हंसा गमिष्यन्ति घनागमे ॥'

अत्र दुर्वारेति करणम् । एवमन्या च संप्रदानादिगुप्तिः सुधीभिरूहनीया ।

अथार्थालंकाराः—

एकस्य बहुधोल्लेखादुल्लेखं कवयो विदुः ।

माधवस्येति । शारी शुकमाह । आसां गोपसुभ्रुवां वदने धवस्य पत्युः पुरस्तन्वी स्वल्पापि मा शोभा न राजते । कीदृशीनाम् ? स्वप्रिये नन्दसूनौ चेतो यासां तास्तथाभूतानाम् । प्रियस्य पुरस्तु महती शोभेत्यर्थः ।

मत्स्वामिनीं श्रीराधां वर्णयेति आर्याप्रोक्तः शुकः क्वाचित्कं श्रीकृष्णवाक्यमनुवदन्नाह— साकमिति । सखीभिः सहास्मिन्कानने आगत्य उत्कापि सा राधा मे मह्यं कृष्णायाकं दुःखं राति । अत्र हेतुर्वामतयेति । अनौचित्यकारिणीयं न वर्ण्येति भावः ।

पूतीति । दुर्वारा दुष्टजनेन दुर्वारा, दुःखेन वारयितुं शक्या इति प्रतीतिः ।

अथेति । परिशिष्टा इत्यर्थः ।

एकस्येति । एकस्य वस्तुनो बहुधा विविधरूपेणोल्लेखादवधारणाद्धेतोः ग्रहीतृभेदाद्विषयभेदाच्च द्विधासौ क्रमेणोदाह्रियते ।

यथा—

'मल्लानामशनि इत्यादि [पृ० १०९]।

यथा वा—

'आनम्रामसितभ्रुवोरुपचितामक्ष्णोःपक्ष्माङ्कुरे-
ष्वालोलामनुरागिणोर्नयनयोरार्द्रां मृदौ जल्पिते।
आताम्रामधरामृते मदकलामम्लानवंशीस्वने-
ष्वाशास्ते मम लोचनं व्रजशिशोर्मूर्तिं जगन्मोहिनीम् ॥'

प्रकृते स्थापितेऽन्यस्मिन्प्रतिषिद्धे च निश्चयः ॥५॥

अन्यस्मिन्प्रकृतादारोप्यमाण इत्यर्थः।

यथा—

'नासौ नन्दसुतो देवि तापिच्छोऽयं निभाल्यताम्।'

मल्लानामिति। व्याख्यातं प्राक्। इह नानाविधधर्मयोग्येकं वस्तु तत्तद्धर्मयोगरूपनिमित्त-भेदाद् बहुभि र्ग्रहीतृभि र्बहुधावधारितम्। भयविस्मयरुच्यादिकं यथायथ प्रयोगहेतुः। न चैतन्मालारूपकं भ्रान्तिमान् वा, भगवतोऽशनित्वादिधर्माणां वास्तवत्वाद् गृहीतृबहुत्वाच्च।

आनम्रामिति। लीलाशुकस्य कवेरुक्तिः। स्फुटमलंकारान्तरविच्छित्तिमूलश्चायमीक्ष्यते।

'गुरुर्वचस्यर्जुनोऽयं कीर्तौ भीष्मः शरासने इत्यत्र श्लेषयोगः। वज्रपञ्जरमिति शरणार्थिनः, कल्पतरुरिति धनार्थिनः, काम इति तरुण्यस्तत्र कृष्णं विदुः,' इत्यत्र रूपकयोगः।

प्रकृत इति। स्थापिते तत्त्वेनावहिते अन्यस्मिन्नारोप्यमाणे प्रतिषिद्धे भिन्नत्वेनोक्ते च इति निश्चयो नामालंकारः। आरोप्यमाणं च सादृश्यातिशयेनारोपविषयतां नीयमानमुपमानमित्यर्थः।

अत्रारोप्यमाणप्रतिषेधपूर्वकं प्रकृतस्थापनं क्वचित्प्रकृतस्थापनपूर्वकम् आरोप्यमाणप्रतिषेधः क्रमेणोदाहरणयोर्द्रष्टव्यम्।

यथा वा—

'हृदि बिसलताहारो नायं भुजङ्गमनायकः
कुवलयदलश्रेणी कण्ठे न सा गरलद्युतिः।
मलयजरजो नेदं भस्म प्रियारहिते मयि
प्रहर न हरभ्रान्त्यानङ्ग क्रुधा किमु धावसि।

अत्र भुजङ्गाद्युपमानं निषिध्य बिसलताहाराद्युपमेयं स्थाप्यते। न चायं निश्चयान्तः संदेहः, संशयनिश्चययोर्व्यधिकरणत्वात्॥

हेतोः कार्यात्मताख्यानं हेतुरित्यभिधीयते।

उदाहरणम्—

'अद्रीणां विद्रुतिः साक्षादाकृष्टिर्व्रजसुभ्रुवाम्।
स्थैर्यं स्रोतस्वतीनां तु जीयाद्वंशीध्वनिर्विभोः॥'

अत्राद्रिविद्रवादी हेतुरपि वंशीनादस्तदादिरूपत्वेनाभिहितः। केचिदभिधाहेतुमेतमाचक्षते।

अनुकूलं प्रातिकूल्यादानुकूल्यं भवेद्यदि॥६॥

हृदीति। शरर्वाषितया संभाव्यमानं स्मरं प्रति श्रीराधाविरहो हरिराह। हे अनङ्ग, क्रुधा किं धावसि। हरभ्रान्त्या मयि न प्रहर। नाहं हर इत्यर्थः। तत्र हेतुः प्रियारहित इति। स तु सदैव प्रियासहितो भवतीत्यर्थः। ननु भुजङ्गादिमांस्त्वं हर इति चेत्तत्राह। नायं भुजङ्गमनायकः, किं तर्हि? बिसलताहारः, मृणालमालेत्यर्थः, एवमग्रेऽपि।

हेतोरिति। कार्याभिन्नत्वेन हेतोरुक्तिर्हेतुर्नामालंकारः।

अद्रीणामिति। गाढमानां श्रीराधां विशाखाह। विद्रुतिर्द्रवीभावः। स्थैर्यं स्तब्धीभावः। त्वं मद्वाचं नाङ्गीकुरुषे वंशीनाद एव त्वच्चित्तं द्रुतं विधाय त्वामाकृष्य तदन्तिके स्तब्धां विधास्यति, स च यथेच्छमाचरिष्यति तदिदं कौतुकमहं द्रक्ष्यामीति भावः।

उदाहरणम्—

'प्राणापहारं हरिरप्रियं द्विषां मखापहारं च बलाच्छचीपतेः ।
स्थानापहारं फणिनश्चकार यत्तेनैव तेषामभवत्सुमङ्गलम् ॥'

विध्याभासो निषेधे चेद्विधिर्व्यक्तं समीक्ष्यते ।

यथा—

'गच्छ गच्छसि चेत्कान्त पन्थानः सन्तु ते शिवाः ।
ममापि जन्म तत्रैव भूयाद्यत्र गतो भवान् ॥'

अत्र त्वयि गते सत्यहं न भविष्यामि तत्त्वं सर्वथा मा याहीति प्रतिषेधे गच्छेति विधिर्व्यक्तं दर्शितः ।

यथा वा—

'गुणगणरसलीलैश्वर्यरत्नैर्लसन्तो
बहव इह जगत्यां सन्ति धन्या यदीत्थम् ।
वदत वदत लोका आकरः किं त्वमीषां
व्रजपतिसुख एको निश्चितः श्रीमुनीन्द्रैः ॥'

विचित्रं त्विष्टलाभाय तद्विरुद्धं विचेष्टितम् ॥७॥

प्राणेति । शारीशुकयोरुक्तिः । अत्र प्राणनाशादिरूपात् प्रातिकूल्यादसुरादीनां मोक्षादिसिद्धिरानुकूल्यमिति लक्षणसंगतिः ।

विध्याभास इति । निषेधे तिरोहित इति गम्यम् ।

गच्छेति । प्रस्थानोद्यतं प्रियं कान्ताह । शिवाः सुखरूपाः । तत्रैव देशे ।

गुणगणेति । तयोरुक्तिः । हे लोका इत्थं यदि वदत तर्हि वदत किन्त्वमीषामित्यादिन ऽन्ये तादृशा इत्यर्थः ।

विचित्रं त्विति । विरुद्धमिष्टविरुद्धम् ।

यथा—

'भोगेप्सवः सकलकामदमर्थलुब्धाः
सर्वार्थदं सुखतृषश्च सुखस्वरूपम्।
लोकाधिपत्यलसिता जगदीश्वरं तं
कृष्णं द्विषन्ति दनुजाः कुधियो बतैते ॥'

यथा वा—

'प्रणमत्युन्नतिहेतोर्जीवनहेतोर्विमुञ्चति प्राणान्।
दुःखीयति सुखहेतोः को मूढः सेवकादन्यः ॥'

विरोधे तुल्यबलयोर्विकल्पश्चारुताजुषि ।

यथा—

'सद्यः शिरांसि चापान्वा नमयन्ति महीभुजः।'

अत्र शिरश्चापनमनाभ्यां संधिविग्रहावुपलक्षितौ, तयोः सह विधातुमशक्यत्वाद्विरोधः, तुल्यबलत्वं चोभयोः कार्यत्वात्। उभयोरपि नमनयोः स्पर्धायाः संभाव्यमानत्वात्तदित्यन्ये। चारुता चौपम्यगर्भत्वेन।

भोगेप्सव इति। तयोरुक्तिः। अत्र भोगादिकांक्षिणो भोगप्रदादिरूपं कृष्णं द्विषन्तीति लक्षणसंगतिः।

प्रणमतीति। प्रणतिरपकर्षः, उन्नतिरुत्कर्षः, जीवनं प्राणरक्षा, दुःखीयति दुःखमिच्छति।

विरोध इति। विकल्पो नामालंकारः।

सद्य इति। बलवद्युयुत्सोरुक्तिः अत्र। संधिविग्रहप्रमाणप्राप्तयोः शिरश्चापनमनयोर्युगपदुपस्थितयोः सह कर्तुमशक्यत्वाद्विरोधः। वैरोच्छेदाय राजाद्यनुष्ठेयत्वात्तुल्यबलता च।

अथोपलक्षणं विनापि लक्षणं संगच्छत इति मतान्तरमाह उभयोरपीति। शिरश्चापनमनयोरुभयोरपि वक्तुः स्पर्धाजन्यसंभावनाविषयत्वादेव तुल्यबलत्वमित्यर्थः। औपम्यगर्भत्वेनेति।

यथा वा—

'भक्तिप्रह्वविलोकनप्रणयिनी नीलोत्पलस्पर्धिनी
ध्यानालम्बनतां समाधिनिरतैर्नीते हितप्राप्तये ।
लावण्यैकमहानिधी रसिकतां राधादृशोस्तन्वती
युष्माकं कुरुतां भवार्तिशमनं नेत्रे तनुर्वा हरेः ॥'

अत्र श्लेषानुकूल्येन चारुता ।

यथा वा—

'पतत्यविरतं वारि नृत्यन्ति च शिखण्डिनः ।
अद्य कान्तः कृतान्तो वा दुःखस्यान्तं करिष्यति ॥'

अत्र विप्रलम्भानुकूल्येन सा ।

शिरोनमनस्योत्कटत्वाच्चापनमनस्योपमानत्वेन पर्यवसानमिति भावः । तुल्यबलयोरन्यतरस्यैव प्रकृते योऽन्वयः स एवात्र विरोधो बोध्यः ।

युष्माकमिति । इह तनुनेत्रयोर्भवार्तिशमनसाधनक्षमत्वेन तुल्यबलत्वम् । तयोरन्यतरस्य भवार्तिशमनरूपे प्रकृतकार्ये हेतुत्वेनान्वयो न तु समुच्चयवदुभयोरिति विरोधः ।

पततीति । प्रियागमनं चेन्मरणं नाशङ्कनीयम्, मरणे तु न प्रियसमागमसंगम इति तयोराशंसायां विकल्पः । एकस्य दुःखनाशेऽन्वयाद्विरोधः । तुल्यबलता च द्वयोर्दुःखहानिक्षमत्वात् ।

यत्र चारुत्वं न स्यात्तत्र नायमलंकारः । यथा—

'दीयतामूर्जितं वित्तं देवाय ब्राह्मणाय वा' इति ।

अत्रोभयोरुत्तमपात्रत्वात्तुल्यबलत्वम् । प्रकृते दाने एकतरस्य संबन्धो न तूभयोरिति विरोधश्च ।

दण्डापूपिकयान्यार्थागमोऽर्थापत्तिरिष्यते ॥८॥

मूषिकेन दण्डो भक्षितश्चेदिहस्थः पूपोऽपि तेन भक्षित इति न्यायो दण्डापूपिका। तयाऽन्यार्थागमोऽर्थान्तरप्रत्ययोऽर्थापत्तिरित्यर्थः ।

यथा—

'म्लेच्छानामपि चेतांसि हरन्ति भगवद्गुणाः ।
शुचीनां वेदवेदान्तवेत्तॄणां का कथा पुनः ॥'

यथा वा—

'हारोऽयं हरिणाक्षीणां लुठति स्तनमण्डले ।
मुक्तानामप्यवस्थेयं के वयं स्मरकिंकराः ॥'

अत्र श्लेषमूलत्वाद् विच्छित्तिविशेषः ।

पुनः स्वगुणसंप्राप्तिः पूर्वरूपमुदीर्यते ।

दण्डेति । दण्डापूपिका दण्डपूपन्यायः । तमाह—मूषिकेणेति । इहस्थ इति । दण्डभक्षणस्य दुष्करस्यापि मूषिकेण सिद्धौ तत्सहचरितस्य पूपभक्षणस्य सुकरत्वाद्यथा संभाव्यता तथान्यत्रापि सहचरितैकसिद्धावपरसिद्धिरौचित्यात् संभाव्यते इत्यर्थः ।

म्लेच्छानामिति । क्रियाहीनानां दुष्टानां यवनानाम् ।

हारोऽयमिति । मुक्तानां हारघटकरत्नविशेषाणां निवृत्तसंसारदुःखानां च । मुक्तानां तावद्योषिदालिङ्गनं दुर्घटं तस्य सिद्धावस्माकं स्मरजितानां सुतरां तत्स्यादिति भावः ।

पुनरिति । अत्युज्ज्वलपरगुणयोगेन त्याजितस्य स्वगुणस्य बलवत्तरसजातीयपरगुणयोगात् पुनः प्राप्तिः पूर्वरूपमलंकारः ।

यथा—

'तव करकमलस्थां स्फाटिकीमक्षमालां
नखकिरणविभिन्नां दाडिमीबीजबुद्ध्या ।
अनुकलमनुकर्षन्येन कीरो निबद्धः
स भवतु मम भूत्यै वाणि ते मन्दहासः ॥'

साभिप्रायं विशेष्यं चेद्भवेत्परिकराङ्कुरः ॥९॥

उदाहरणम्—

चतुर्णां पुरुषार्थानां दाता देवश्चतुर्भुजः ॥

वाञ्छितादधिकस्याप्तौ प्रहर्षणमुदीरितम् ।

यथा—

'स्थानाभिकामस्तपसि स्थितोऽहं
त्वां दृष्टवान्साधुमुनीन्द्रगुह्यम् ।
काचं विचिन्वन्निव दिव्यरत्नं
स्वामिन्कृतार्थोऽस्मि वरं न याचे ॥'

उपायसाधकाद्यत्नादुपेयाप्तिश्च तत्स्मृतम् ॥१०॥

तत्प्रहर्षणमित्यनुषज्यते ।

तव करेति । वाणीं प्रति कमलाकरस्य कवेरुक्तिः । येन मन्दहासेन निबद्धः स्तब्धीभूतः भूत्यै संपत्तये ।

चतुर्णामिति । अत्र चतुर्भुज इति विशेष्यं पुरुषार्थचतुष्टयदानसामर्थ्याभिप्रायगर्भम् ।

स्थानेति । भगवन्तं प्रति ध्रौव्युवस्योक्तिः स्थानाभिकामो राज्याभिलाषी वरं राज्यादि ।

उपायेति । स्पष्टम्[1] ।

फलोपायसाधकादेव यत्नात्फलोपायमनपेक्ष्य चेत्साक्षात्फलप्राप्तिर्भवेत्तर्हि प्रहर्षणं नाम ।

---

१. 'स्पष्टम्' इति क, ख पुस्तकयोः नास्ति ।

उदाहरणम्—

'अनुकीर्तयति ध्रुवां स्मृतिं प्रतिसन्धाय हरिप्रकाशिकाम् ।
करुणावरुणालयो विभुर्बहुलाश्वे हरिरेव संबभौ ।'

अत्र हरिप्रापिका हि ध्रुवा स्मृतिस्तस्याः साधकात्कीर्तनादेव हरेः प्राप्तिरिति संगतिः ।

मिथ्याध्यवसितिर्मिथ्यासिद्ध्यै मिथ्यार्थनिर्मितिः ।

उदाहरणम्—

'गोविन्दचरणद्वन्द्वं मायावादविशारदः ।
लभते सच्चिदानन्दं खपुष्पस्तवकं वहन् ॥'

परिणामः क्रियार्थश्चेदारोप्यो विषयात्मना ॥११॥

किंचित्कार्योपयोगितया निबद्धस्यारोप्यमाणस्य स्वतस्तदुपयोगित्वासंभवाद्यदि विषयरूपतापत्तेरपेक्षा स्यात्तर्हि परिणामः ।

अन्विति । श्रीसूतोक्तिः । सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिलाभे विप्रमोक्ष इति बहुलाश्वे नृपे संबभौ साक्षाद् बभूव ।

मिथ्याध्यवसितिरिति । यदि चेच्छब्दाभ्यां यद्यर्थस्यानुक्तेर्नातिशयोक्तिरियम् । चिन्मात्राद्वैतिभिरपि भगवानेवं प्राप्यस्तस्य सर्वात्मत्वादिति चेत्तत्राह—गोविन्देति ।

परिणाम इति । आरोप्यो विषयी कमलादिः स चेद्विषयात्मना नेत्रादिरूपेण दर्शनादिक्रियानिर्वर्तकः स्यात्, तदा परिणाम इत्यर्थः ।

उदाहरणम्—

'सा राधिका स्मरपतत्रिवशावशाङ्गी
फुल्लेन नेत्रकमलेन ददर्श कृष्णम् ।'

अत्र कमलस्य दर्शनोपयोगित्वं निबध्यते, न तु नेत्रस्य मयूरव्यंसकादिसमासेन परपदार्थप्राधान्यात् । न च नेत्रं कमलमिवेत्युपमितिसमासः । फुल्लेनेति सामान्यधर्मयोगात् ।

दोषस्य प्रार्थनानुज्ञा तत्रैव गुणवीक्षणात् ।

उदाहरणम्—

'विपदः सन्तु नः शश्वत्तत्र तत्र जगद्गुरो ।
भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम् ॥'

प्राक्प्रसिद्धगुणोत्कर्षोऽनुगुणः परसन्निधेः ॥१२॥

यथा—

'राधा कुङ्कमपीताङ्गी हरिपीतपटाश्रिता ।
धत्ते द्विगुणितां प्रातः पीततां पश्यतालयः ॥'

सा राधिकेति । ललितां विशाखाह । अत्र समग्रेण नेत्रेण न तु तत्कोणेन दर्शनं स्मरशरविवशायास्त्रपापगमात् । कमलस्य दर्शनोपयोगित्वं स्वात्मना न संभवतीति तस्य प्रकृतनेत्रात्मना परिणत्यपेक्षणात् परिणामालंकारः ।

न च नेत्रमिति । 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' इति सामान्यधर्माप्रयोग एव तस्योपमितिसमासस्य महर्षिणानुशिष्टत्वादित्यर्थः ।

दोषस्येति । तत्रैव दोषप्रार्थने ।

विपद इति । श्रीकृष्णं कुन्त्याह । न पुनर्भवस्य संसारस्य दर्शनं येन तत् । त्वद्दर्शनमेव मोक्षदर्शनमिति ।

आनन्दयति श्यामां रसिकान्नयनानि च स्वधामनि यः ।
विस्मापकदामोदरलीलोऽवतु नः सः गोविन्दः ॥

इति साहित्यकौमुद्यां परिशिष्टालंकारनिरूपणो नाम
एकादशः परिच्छेदः[1] ॥

समाप्तौ मङ्गलमाचरति—आन्दयतीति । श्यामां श्रीराधां रसिकान्व्रजवासिजनान् नयनानि तद्वासिप्राणिमात्राणां नेत्राणि स गोविन्दो वृन्दावनाधीश्वरो भगवान् श्यामसुन्दरः अवतु पालयतु । पक्षे 'आचार्यचैत्यवपुषा स्वगतिं व्यनक्ति' इत्यादि—प्रामाण्यात् ।

स गोविन्दोऽस्माकं गुर्वादिरूप इति श्लेषेण दर्शयति । श्रीदामोदरस्य निजगुरोरपि विश्वविस्मापकसौन्दर्यत्वात् तथोक्तम् । भगवत्पक्षे तु बहूनां दाम्नां योजनेऽपि द्व्यङ्गुलन्यूनतायाः स्थितत्वाच्च ।

साहित्यकौमुदीव्याख्यां श्रीकृष्णानन्दिनीमिमाम् ।
कलयन्तु कृपावन्तः सन्तः कौतूहलाकुला ॥

इति साहित्यकौमुदीटीकायां कृष्णनन्दिन्याम्
एकादशः परिच्छेदः ॥

* समाप्तोऽयं ग्रन्थः *

---

१. शुभमस्तु । समाप्तोऽयंग्रन्थः । श्री श्याम सुन्दरः प्रीणातु । इत्यधिकं पठ्यते ख पुस्तके ।

परिशिष्टम्

परिशिष्टम् १

साहित्यकौमुदी-कारिकाः

प्रथमः परिच्छेदः

१ नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम् ।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति ॥१॥

२ काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्यः परनिर्वृत्तये कान्तासंमिततयोपदेशयुजे ॥२॥

३ शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् ।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥३॥

४ तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि ।
इदमुत्तममतिशायिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः ॥४॥

५ अतादृशि गुणीभूतव्यङ्ग्यं व्यङ्ग्ये तु मध्यमम् ।
शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यम् त्ववरं स्मृतम् ॥५॥

द्वितीयः परिच्छेदः

६ स्याद् वाचको लाक्षणिकः शब्दोऽत्र व्यञ्जकस्त्रिधा ।
वाच्यादयस्तदर्थाः स्युः तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित् ॥१॥

७ सर्वेषां प्रायशोऽर्थानां व्यञ्जकत्वमपीष्यते ।
साक्षात्संकेतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः ॥२॥

८ संकेतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा ।
स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते ॥३॥

९ मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात् ।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणारोपिता क्रिया ॥४॥

१० स्वसिद्धये पराक्षेपः परार्थं स्वसमर्पणम् ।
उपादानं लक्षणं चेत्युक्ता शुद्धैव सा द्विधा ॥५॥

११ सारोपान्या तु यत्रोक्तौ विषयी विषयस्तथा ।
विषय्यन्तः कृतेऽन्यस्मिन्सा स्यात्साध्यवसानिका ॥६॥

१२ भेदाविमौ च सादृश्यात्संबन्धान्तरतस्तथा ।
गौणौ शुद्धौ च विज्ञेयौ लक्षणा तेन षड् विधा ॥७॥

१३ व्यंग्येन रहिता रूढौ सहिता तु प्रयोजने ।
तच्च गूढमगूढं वा तदेषा कथिता त्रिधा ॥८॥

१४ तद्भूर्लाक्षणिकस्तत्रव्यापारो व्यञ्जनात्मकः ।
यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते ॥९॥

१५ फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनान्नापरा क्रिया ।
नाभिधा समयाभावात् हेत्वभावान्न लक्षणा ॥१०॥

१६ लक्ष्यं न मुख्यं नाप्यत्र बाधा योगः फलेन नो ।
न प्रयोजनमेतस्मिन्न च शब्दः स्खलद्गतिः ॥११॥

१७ एवमप्यनवस्था स्याद् या मूलक्षतिकारिणी ।
प्रयोजनेन सहितं लक्षणीयं न युज्यते ॥१२॥

१८ ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलमन्यदुदाहृतम् ।
विशिष्टे लक्षणा नैवं विशेषाः स्युस्तु लक्षिते ॥१३॥

१९ अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते ।
संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद्व्यापृतिरञ्जनम् ॥१४॥

२० तद्युक्तो व्यञ्जकः शब्दः यत्सोऽर्थान्तरयुक् तथा ।
अर्थोऽपि व्यञ्जकस्तत्र सहकारितया मतः ॥१५॥

तृतीयः परिच्छेदः

२१ अर्थाः प्रोक्ताः पुरा तेषामर्थव्यञ्जकतोच्यते ।
वक्तृबोद्धव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसन्निधेः ॥१॥

२२ प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात्प्रतिभाजुषाम् ।
योऽर्थस्यान्यार्थधीहेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा ॥२॥

२३ शब्दप्रमाणवेद्योऽर्थो व्यनक्त्यर्थान्तरं यतः ।
अर्थस्य व्यञ्जकत्वे तच्छब्दस्य सहकारिता ॥३॥

चतुर्थः परिच्छेदः

२४ अविवक्षितवाच्यो यस्तत्र वाच्यं भवेद् ध्वनौ ।
अर्थान्तरे संक्रमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम् ॥१॥

२५ विवक्षितं चान्यपरं वाच्यं यत्रापरस्तु सः ।
कोऽप्यलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो लक्ष्यव्यङ्ग्यक्रमः परः ॥२॥

२६ रसभावतदाभासभावशान्त्यादिरक्रमः ।
भिन्नोरसाद्यलंकारादलंकार्यतया स्थितः ॥३॥

२७ कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च ।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः ॥४॥

२८ विभावा अनुभावास्तत्कथ्यन्ते व्यभिचारिणः ।
व्यक्तः सः तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावः स्मृतो रसः ॥५॥

२९ शृंगारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः ।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्याष्टौ नाट्ये रसा स्मृताः ॥६॥

३० रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा ।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः ॥७॥

३१ निर्वेदग्लानिशङ्काख्यास्तथासूयामदश्रमाः ।
आलस्यं चैव दैन्यं च चिन्ता मोहः स्मृतिर्धृतिः ॥८॥

३२ व्रीडा चपलता हर्ष आवेगो जडता तथा ।
गर्वो विषाद औत्सुक्यं निद्रापस्मार एव च ॥९॥

३३ सुप्तं विबोधोऽमर्षश्चाप्यवहित्थमथोग्रता ।
मतिर्व्याधिस्तथोन्मादस्तथा मरणमेव च ॥१०॥

३४ त्रासश्चैव वितर्कश्च विज्ञेया व्यभिचारिणः ।
त्रयस्त्रिंशदमी भावाः समाख्यातास्तु नामतः ॥११॥

३५ निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः ।
रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः ॥१२॥

३६ भावः प्रोक्त, तदाभासा अनौचित्यप्रवर्त्तिताः ।
भावस्य शान्तिरुदयः संधिः शबलतापि च ।
मुख्ये रसेऽपि तेऽङ्गित्वं प्राप्नुवन्ति कदाचन ॥१३॥

३७ अनुस्वानाभसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्थितिस्तु यः ।
शब्दार्थोभयशक्त्युत्थस्त्रिधा स कथितो ध्वनिः ॥१४॥

३८ अलंकारोऽथ वस्त्वेव शब्दाद्यत्रावभासते ।
प्रधानत्वेन स ज्ञेयः शब्दशक्त्युद्भवो द्विधा ॥१५॥

३९ 'अर्थशक्त्युद्भवोऽप्यर्थो व्यञ्जकः संभवी स्वतः ।
प्रौढोक्तिमात्रात्सिद्धो वा कवेस्तेनोम्भितस्य वा ॥१६॥

४० वस्तु वालंकृतिर्वेति षड्भेदोऽसौ व्यनक्ति यत् ।
वस्त्वलंकारमथवा तेनायं द्वादशात्मकः ॥१७॥

४१ शब्दार्थोभयभूरेकः भेदा अष्टादशास्य तत् ।
रसादीनामनन्तत्वाद्भेद एको हि गण्यते ॥१८॥

४२ वाक्ये द्व्युत्थः पदेऽप्यन्ये प्रबन्धेऽप्यर्थशक्तिभूः ।
पदैकदेशरचना वर्णेष्वपि रसादयः ॥१९॥

४३ भेदास्तदेकपञ्चाशत् तेषां चान्योन्ययोजनम् ।
संकरेण त्रिरूपेण संसृष्ट्या चैकरूपया ॥२०॥
'वेदखाब्धिवियच्चन्द्राः (१०४०४) शरेषु युगखेन्दवः (१०४५५) ॥'

पञ्चमः परिच्छेदः

४४ अगूढमपरस्याङ्गं वाच्यसिद्ध्यङ्गमस्फुटम् ।
संदिग्धतुल्यप्राधान्ये काक्वाक्षिप्तमसुन्दरम् ॥१॥

४५ व्यङ्ग्यमेवं गुणीभूतव्यङ्ग्यस्याष्टौ भिदाः स्मृताः ।
एषां भेदा यथायोगं वेदितव्याश्च पूर्ववत् ॥२॥

४६ सालंकारैर्ध्वनेस्तैश्च योगः संसृष्टिसंकरैः ।
अन्योन्ययोगादेवं स्याद् भेदसंख्यातिभूयसी ॥३॥

षष्ठः परिच्छेदः

४७ शब्दार्थचित्रं यत्पूर्वं काव्यद्वयमुदाहृतम् ।
गुणप्राधान्यतस्तत्र स्थितिः शब्दार्थचित्रयोः ॥१॥

सप्तमः परिच्छेदः

४८ 'मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद्वाच्यः ।
उभयोपयोगिनः स्युः शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि सः ॥१॥

४९ 'दुष्टं पदं श्रुतिकटुच्युतसंस्कृत्यप्रयुक्तमसमर्थम् ।
निहतार्थमनुचितार्थं निरर्थकमवाचकं त्रिधाश्लीलम्' ॥२॥

५० 'संदिग्धमप्रतीतं ग्राम्यं नेयार्थमथ भवेत्क्लिष्टम् ।
अविमृष्टविधेयांशं विरुद्धमतिकृत्समासगतमेव ॥३॥

५१ 'अपास्य च्युतसंस्कारमसमर्थं निरर्थकम् ।
वाक्येऽपि दोषाः सन्त्येते पदस्यांशेऽपि केचन ॥४॥

५२ प्रतिकूलवर्णमुपहतविसर्गविसन्धिहतवृत्तम् ।
न्यूनाधिककथितपदं पतत्प्रकर्षं समाप्तपुनरात्तम् ॥५॥

५३ अर्धान्तरैकवाचकमभवन्मतयोगमनभिहितवाच्यम् ।
अपदस्थपदसमासं संकीर्णं गर्भितं प्रसिद्धहतम् ॥६॥

५४ भग्नप्रक्रममक्रमममतपरार्थं च वाक्यमेव तथा ।
'अर्थोऽपुष्टः कष्टो व्याहतपुनरुक्तदुष्क्रमग्राम्याः ॥७॥

५५ संदिग्धो निर्हेतुः प्रसिद्धिविद्याविरुद्धश्च ।
अनवीकृतः सनियमानियमविशेषाविशेषपरिवृत्ताः ॥८॥

५६ साकांक्षोऽपदमुक्तः सहचरभिन्नः प्रकाशितविरुद्धः ।
विध्यनुवादायुक्तस्त्यक्तपुनःस्वीकृतोऽश्लीलः ॥९॥

५७ कर्णावतंसादिपदे कर्णादिध्वनिनिर्मितिः ।
संनिधानादिबोधार्थम् स्थितेष्वेतत्समर्थनम् ॥१०॥

५८ ख्यातेऽर्थे निर्हेतोरदुष्टतानुकरणे तु सर्वेषाम् ।
वक्त्राद्यौचित्यवशाद् दोषोऽपि गुणः क्वचित्क्वचिन्नोभौ ॥११॥

५९ व्यभिचारिरसस्थायिभावानां शब्दवाच्यता ।
कष्टकल्पनया व्यक्तिरनुभावविभावयोः ॥१२॥

६० प्रतिकूलविभावादिग्रहो दीप्तिः पुनः पुनः ।
अकाण्डे प्रथनच्छेदावङ्गस्याप्यतिविस्तृतिः ॥१३॥

६१ अङ्गिनोऽननुसंधानं प्रकृतीनां विपर्ययः ।
अनङ्गस्याभिधानं च रसे दोषाः स्युरीदृशाः ॥१४॥

६२ न दोषः स्वपदेनोक्तावपि संचारिणः क्वचित्।
संचार्यादेर्विरुद्धस्य बाध्यस्योक्तिर्गुणावहा ॥१५॥

६३ आश्रयैक्ये विरुद्धो यः स कार्यो भिन्नसंश्रयः ।
रसान्तरेणान्तरितो नैरन्तर्येण यो रसः ॥१६॥

६४ स्मर्यमाणो विरुद्धोऽपि साम्येनाथ विवक्षितः ।
अङ्गिन्यङ्गत्वमाप्तौ यौ तौ न दुष्टौ परस्परम् ॥१७॥

अष्टमः परिच्छेदः

६५ ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः ।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः ॥१॥

६६ उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित् ।
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥२॥

६७ माधुर्योजः प्रसादाख्यास्त्रयस्ते न पुनर्दश ।
आह्लादकत्वं माधुर्यं शृङ्गारे द्रुतिकारणम् ॥३॥

६८ करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम् ।
दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थितिः ॥४॥

६९ बीभत्सरौद्ररसयोस्तस्याधिक्यं क्रमेण च ।
शुष्केन्धनाग्निवत्स्वच्छजलवत्सहसैव यः ॥५॥

७० व्याप्नोत्यन्यत्प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः ।
गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता ॥६॥

७१ केचिदन्तर्भवन्त्येषु दोषत्यागात्परे श्रिताः ।
अन्ये भजन्ति दोषत्वं कुत्रचिन्न ततो दश ॥७॥

७२ तेन नार्थगुणा वाच्याः प्रोक्ताः शब्दगुणाश्च ये ।
वर्णाः समासो रचनास्तेषां व्यञ्जकतामिताः ॥८॥

७३ मूर्ध्नि वर्गान्त्यगाः स्पर्शा अटवर्गा रणौ लघू ।
अवृत्तिर्मध्यवृत्तिर्वा माधुर्ये घटना तथा ॥९॥

७४ योग आद्यतृतीयाभ्यामन्त्ययो रेण तुल्ययोः ।
टादिः शसौ वृत्तिदैर्घ्यं गुम्फ उद्धत ओजसि ॥१०॥

७५ श्रुतिमात्रेण शब्दानां यत्रार्थप्रत्ययो भवेत् ।
साधारणः समग्राणां स प्रसादो गुणो मतः ॥११॥

७६ वक्तृवाच्यप्रबन्धानामौचित्येन क्वचित्क्वचित् ।
रचनावृत्तिवर्णानामन्यथात्वमपीष्यते ॥१२॥

नवमः परिच्छेदः

७७ यदुक्तमन्यथा वाक्यमन्यथान्येन योज्यते ।
श्लेषेण काक्वा वा ज्ञेया सा वक्रोक्तिस्तथा द्विधा ॥१॥

७८ वर्णसाम्यमनुप्रासः छेकवृत्तिगतो द्विधा ।
सोऽनेकस्य सकृत्पूर्वः, एकस्याप्यसकृत्परः ॥२॥

७९ माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैरुपनागरिकेष्यते ।
ओजः प्रकाशकैस्तैस्तु परुषा कोमला परैः ॥३॥

८० केषांचिदेता वैदर्भीप्रमुखा रीतयो मताः ।
शब्दस्तु लाटानुप्रासो भेदे तात्पर्यमात्रतः ॥४॥

८१ पदानां स पदस्यापि, वृत्तावन्यत्र तत्र वा ।
नाम्नः स वृत्त्यवृत्त्योश्च, तेनायं पञ्चधामतः ॥५॥

८२ अर्थे सत्यर्थभिन्नानां वर्णानां सा पुनः श्रुतिः ।
यमकं पादतद्भागवृत्ति तद्यात्यनेकताम् ॥६॥

८३ वाच्यभेदेन भिन्ना यद्युगपद्भाषणस्पृशः ।
श्लिष्यन्ति शब्दाः श्लेषोऽसावक्षरादिभिरष्टधा ॥७॥

८४ भेदाभावात्प्रकृत्यादेर्भेदोऽपि नवमोमतः ।
तच्चित्रं यत्र वर्णानां खड्गाद्याकृतिहेतुता ॥८॥

८५ पुनरुक्तवदाभासो विभिन्नाकारशब्दगा ।
एकार्थतेव शब्दस्य, तथा शब्दार्थयोरयम् ॥९।

दशमः परिच्छेदः

८६ साधर्म्यमुपमा भेदे, पूर्णा लुप्ता च, साग्रिमा ।
श्रौत्यार्थी च भवेद्वाक्ये समासे तद्धिते तथा ॥१॥

८७ तद्वद्धर्मस्य लोपे स्यान्न श्रौती तद्धिते पुनः ।
उपमानानुपादाने वाक्यगाथ समासगा ॥२॥

८८ वादेर्लोपे समासे सा कर्माधारक्यचि क्यङि ।
कर्मकर्त्रोर्णमुलि, एतद् द्विलोपे क्विप्समासगा ॥३॥

८९ धर्मोपमानयोर्लोपे वृत्तौ वाक्ये च दृश्यते ।
क्यचि वाद्युपमेयासे त्रिलोपे च समासगा ॥४॥

९० एकोनविंशतिर्लुप्ताः पूर्णाभिः पञ्चविंशतिः ।
वाच्ये गम्ये च सा साम्ये एकदेशविवर्तिनी ॥५॥

९१ उपमानोपमेयत्वे एकस्यैवैकवाक्यगे ।
अनन्वयः, विपर्यास उपमेयोपमा तयोः ॥६॥

९२ संभावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत् ।
ससंदेहस्तु भेदोक्तौ तदनुक्तौ तु संशयः ॥७॥

९३ तद् रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः ।
समस्तवस्तुविषयं श्रौता आरोपिता यदि ॥८॥

९४ श्रौता आर्थाश्च ते यस्मिन्नेकदेशविवर्ति तत् ।
साङ्गमेतत्, निरङ्गं तु शुद्धम्, माला तु पूर्ववत् ॥९॥

९५ नियतारोपणोपायः स्यादारोपः परस्य यः ।
तत्परम्परितं श्लिष्टे वाचके भेदभाजि वा । १०॥

९६ प्रकृतं यन्निषिध्यान्यत्साध्यते सा त्वपह्नुतिः ।
श्लेषः स वाक्य एकस्मिन्यत्रानेकार्थता भवेत् ॥११॥

९७ परोक्तिर्भेदकैः श्लिष्टैः समासोक्तिः, निदर्शना ।
अभवन्वस्तु सम्बन्ध उपमापरिकल्पकः ॥१२॥

९८ स्वस्वहेत्वन्वयस्योक्तिः क्रिययैव च सापरा ।
अप्रस्तुतप्रशंसा या सा सैव प्रस्तुताश्रया ॥१३॥

९९ कार्ये निमित्ते सामान्ये विशेषे प्रस्तुते सति ।
तदन्यस्य वचस्तुल्ये तुल्यस्येति च पञ्चधा ॥१४॥

१०० निगीर्याध्यवसानं तु प्रकृतस्य परेण यत् ।
प्रस्तुतस्य यदन्यत्वं यद्यथोक्तौ च कल्पनम् ॥१५॥

१०१ कार्यकारणयोर्यश्च पौर्वापर्यविपर्ययः ।
विज्ञेयातिशयोक्तिः सा, प्रतिवस्तूपमा तु सा ॥१६॥

१०२ सामान्यस्य द्विरेकस्य यत्र वाक्यद्वये स्थितिः ।
दृष्टान्तः पुनरेतेषां सर्वेषां प्रतिबिम्बनम् ॥१७॥

१०३ सकृद्वृत्तिस्तु धर्मस्य प्रकृताप्रकृतात्मनाम् ।
सैव क्रियासु बह्वीसु कारकस्येति दीपकम् ॥१८॥

१०४ मालादीपकमाद्यं चेद्यथोत्तरगुणावहम् ।
नियतानां सकृद्धर्मः सा पुनस्तुल्ययोगिता ॥१९॥

१०५ उपमानाद्यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः ।
हेत्वोरुक्तावनुक्तीनां त्रये साम्ये निवेदिते ॥२०॥

१०६ शब्दार्थाभ्यामथाक्षिप्ते श्लेषे तद्वत्त्रिरष्टता ।
निषेधो वक्तुमिष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया ॥२१॥

१०७ वक्ष्यमाणोक्तविषयः स आक्षेपो द्विधा मतः ।
क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्तिर्विभावना ॥२२॥

१०८ विशेषोक्तिरखण्डेषु कारणेषु फलावचः ।
यथासंख्यं क्रमेणैव क्रमिकाणां समन्वयः ॥२३॥

१०९ सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते ।
यत्र सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेण वा ॥२४॥

११० विरोधः सोऽविरोधेऽपि विरुद्धत्वेन यद्वचः ।
जातिश्चतुर्भिर्जात्याद्यैर्विरुद्धा स्याद् गुणस्त्रिभिः ॥२५॥

१११ क्रिया द्वाभ्यामथ द्रव्यं द्रव्येणैवेति ते दश ।
स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादेः स्वक्रियारूपवर्णनम् ॥२६॥

११२ व्याजस्तुतिर्मुखे निन्दा स्तुतिर्वा रूढिरन्यथा ।
सा सहोक्तिः सहार्थस्य बलादेकं द्विवाचकम् ॥२७॥

११३ विनोक्तिः सा विनाऽन्येन यत्रान्यः सन्न नेतरः ॥
परिवृत्तिर्विनियमो योऽर्थानां स्यात्समासमैः ॥२८॥

११४ प्रत्यक्षा इव यद्भावाः क्रियन्ते भूतभाविनः ।
तद्भाविकम्, काव्यलिङ्गं हेतोर्वाक्यपदार्थता ॥२९॥

११५ पर्यायोक्तं विना वाच्यवाचकत्वेन वस्तु यत् ।
उदात्तं वस्तुनः संपत्, महतां चोपलक्षणम् ॥३०॥

११६ तत्सिद्धिहेतावेकस्मिन्यत्रान्यत्तत्करं भवेत् ।
समुच्चयोऽसौ स त्वन्यो युगपद्या गुणक्रियाः ॥३१॥

११७ एकं क्रमेणानेकस्मिन्पर्यायोऽन्यस्ततोऽन्यथा ।
अनुमानं तदुक्तं यत्साध्यसाधनयोर्वचः ॥३२॥

११८ विशेषणैर्यत्साकूतैरुक्तिः परिकरस्तु सः ।
व्याजोक्तिश्छद्मनोद्भिन्नवस्तुरूपनिगहनम् ॥३३॥

११९ किंचित्पृष्टमपृष्टं वा कथितं यत्प्रकल्पते ।
तादृगन्यव्यपोहाय परिसंख्या तु सा स्मृता ॥३४॥

१२० यथोत्तरं चेत्पूर्वस्य पूर्वस्यार्थस्य हेतुता ।
तदा कारणमाला स्यात्, क्रियया तु परस्परम् ॥३५॥

१२१ वस्तुनोर्जननेऽन्योन्यम्, उत्तरश्रुतिमात्रतः ।
प्रश्नस्योन्नयनं यत्र क्रियते तत्र वा सति ॥३६॥

१२२ असकृद्यदसंभाव्यमुत्तरं स्यात्तदुत्तरम् ।
कुतोऽपि लक्षितः सूक्ष्मोऽप्यर्थोऽन्यस्मै प्रकाश्यते ॥३७॥

१२३ धर्मेण केनचिद्यत्र तत्सूक्ष्मं परिचक्ष्यते ।
उत्तरोत्तरमुत्कर्षो भवेत्सारः परावधिः ॥ ८॥

१२४ भिन्नदेशतयात्यन्तं कार्यकारणभूतयोः ।
युगपद्धर्मयोर्यत्र ख्यातिः सा स्यादसंगतिः ॥३९॥

१२५ समाधिः सुकरं कार्यं कारणान्तरयोगतः ।
समं योग्यतया योगो यदि संभावितः क्वचित् ॥४०॥

१२६ क्वचिद्यदतिवैधर्म्यान्न श्लेषो घटनामियात् ।
कर्तुः क्रियाफलावाप्तिर्नैवानर्थश्च यद्भवेत् ॥४१॥

१२७ गुणक्रियाभ्यां कार्यस्य कारणस्य गुणक्रिये ।
क्रमेण च विरुद्धे यत्स एष विषमो मतः ॥४२॥

१२८ महतोर्यन्महीयांसावाश्रिताश्रययोः क्रमात् ।
आश्रयाश्रयिणौ स्यातां तनुत्वेऽप्यधिकं तु तत् ॥४३॥

१२९ प्रतिपक्षमशक्तेन प्रतिकर्तुं तिरस्क्रिया ।
या तदीयस्य तत्स्तुत्यै प्रत्यनीकन्तदुच्यते ॥४४॥

१३० समेन लक्ष्मणा वस्तु वस्तुना यन्निगूह्यते ।
निजेनागन्तुकेनापि तन्मीलितमिति स्मृतम् ॥४५॥

१३१ स्थाप्यतेऽपोह्यते वापि यथापूर्वं परं परम् ।
विशेषणतया यत्र वस्तु सैकावली द्विधा ॥४६॥

१३२ यथानुभवमर्थस्य दृष्टे तत्सदृशे स्मृतिः ।
स्मरणम् , भ्रान्तिमानन्यसंवित्तत्तुल्यदर्शने ॥४७॥

१३३ आक्षेप उपमानस्य प्रतीपमुपमेयता ।
तस्यैव यदि वा कल्प्या तिरस्कारनिबन्धनम् ॥४८॥

१३४ प्रस्तुतस्य यदन्येन गुणसाम्यविवक्षया ।
ऐकात्म्यं बध्यते योगात्तत्सामान्यमिति स्मृतम् ।।४९।।

१३५ विना प्रसिद्धमाधारमाधेयस्य व्यवस्थितिः ।
एकात्मा युगपद्वृत्तिरेकस्यानेकगोचरा ।।५०।।

१३६ अन्यत्प्रकुर्वतः कार्यमशक्यस्यापि वस्तुनः ।
तथैव करणं चेति विशेषस्त्रिविधः स्मृतः ।।५१।।

१३७ स्वमुत्सृज्य गुणं योगादत्युज्ज्वलगुणस्य यत् ।
वस्तु तद्‌गुणतामेति भण्यते स तु तद्‌गुणः ।।५२।।

१३८ तद्रूपाननुहारश्चेदस्य तत्स्यादतद्‌गुणः ।
यद्यथा साधितं केनाप्यपरेण तदन्यथा ।।५३।।

१३९ तथैव यद्विधीयेत स व्याघात इति स्मृतः ।
सेष्टा संसृष्टिरेतेषां भेदेनैकत्र या स्थितिः ।।५४।।

१४० अविश्रान्तिजुषामात्मन्यङ्गाङ्गित्वं तु संकरः ।
एकस्य च ग्रहे न्यायदोषाभावादनिश्चयः ।।५५।।

१४१ स्फुटमेकत्र विषये शब्दार्थालंकृतिद्वयम् ।
व्यवस्थितं च, तेनासौ त्रिरूपः परिकीर्तितः ।।५६।।

१४२ एषां दोषाः यथायोगं संभवन्तोऽपि केचन ।
उक्तेष्वन्तः पतन्तीति न पृथक्प्रतिपादिताः ।।५७।।

मम्मटाद्युक्तिमाश्रित्य मितां साहित्यकौमुदीम् ।
वृत्तिं भरतसूत्राणां श्री विद्याभूषणो व्यधात् ।।

एकादशः परिच्छेदः

कृपया यस्य भक्तानां न किंचित्परिशिष्यते ।
मनसि स्फुरतु श्रीमान्ममासौ श्यामसुन्दरः ।।

१४३ शब्दैरेकविधैरेव भाषासु विविधास्वपि ।
वाक्यं यत्र भवेत्सोऽयं भाषासमक उच्यते ॥१॥

१४४ अन्योऽर्थो विस्फुटं यत्र बिन्द्वादिप्रच्युतावपि ।
प्रतीयते विदः प्राहुस्तद् बिन्दुच्युतकादिकम् ॥२॥

१४५ च्योतयित्वाऽक्षरं किंचिद् दत्वा चान्यत्प्रकाश्यते ।
अन्योऽर्थो यत्र तत्प्राहुश्च्युतदत्ताक्षरं बुधाः ॥३॥

१४६ न लक्ष्यते स्फुटं यत्र पदसंधानकौशलात् ।
क्रियादि सदपि प्राज्ञैः क्रियागुप्तादि तत्स्मृतम् ॥४॥

१४७ एकस्य बहुधोल्लेखादुल्लेखं कवयो विदुः ।
प्रकृते स्थापितेऽन्यस्मिन्प्रतिषिद्धे च निश्चयः । ५॥

१४८ हेतोः कार्यात्मताख्यानं हेतुरित्यभिधीयते ।
अनुकूलं प्रातिकूल्यादानुकूल्यं भवेद्यदि ॥६॥

१४९ विध्याभासौ निषेधे चेद्विधिर्व्यक्तं समीक्ष्यते ।
विचित्रं त्विष्टलाभाय तद्विरुद्धं विचेष्टितम् ॥७॥

१५० विरोधे तुल्यबलयो र्विकल्पश्चारुताजुषि ।
दण्डापूपिकयान्याऽर्थागमोऽर्थापत्तिरिष्यते ॥८॥

१५१ पुनः स्वगुणसंप्राप्तिः पूर्वरूपमुदीर्यते ।
साभिप्रायं विशेष्यं चेद् भवेत्परिकराङ्कुरः ॥९॥

१५२ वाञ्छितार्थाधिकस्याप्तौ प्रहर्षणमुदीरितम् ।
उपायसाधकाद्यत्नादुपेयाप्तिश्च तत्स्मृतम् ॥१०॥

१५३ मिथ्याध्यवसितिर्मिथ्यासिद्ध्यै मिथ्यार्थनिर्मितिः ।
परिणामः क्रियार्थश्चेदारोप्यो विषयात्मना ॥११॥

१५४ दोषस्य प्रार्थनानुज्ञा तत्रैव गुणवीक्षणात् ।
प्राक्प्रसिद्धगुणोत्कर्षोऽनुगुणः परसन्निधेः ॥१२॥

इति साहित्य कौमुदी कारिकाः ।



परिशिष्टम् २

कारिकार्धावलिः

	क्रमांका:	पृष्ठाङ्का:
अकाण्डे प्रथनच्छेदावङ्गस्याप्यतिविस्तृतिः ।	६१ख	१२४
अगूढमपरस्याङ्गं वाच्यसिद्ध्यङ्गमस्फुटम् ।	४५क	६९
अङ्गिनोऽननुसंधानं प्रकृतीनां विपर्ययः ।	६२क	१२४
अङ्गिन्यङ्गत्वमाप्तौ यौ तौ न दुष्टौ परम्परम् ॥	६५ख	१३१
अतादृशि गुणीभूतव्यङ्ग्यं व्यङ्ग्ये तु मध्यमम् ।	५क	७
अनङ्गस्याभिधानं च रसे दोषाः स्युरीदृशाः ॥	६२ख	१२४
अनन्वयो विपर्यास उपमेयोपमा तयोः ॥	९१ख	१६८
अनवीकृतः सनियमानियमविशेषाविशेषपरिवृत्ताः ।	५९ख	१०७
अनुकूलं प्रातिकूल्यादानुकूल्यं भवेद्यदि ।	१४८ख	२४७
अनुमानं तदुक्तं यत् साध्यसाधनयोर्वचः ॥	११७ख	२०८
अनुस्वानाभसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्थितिस्तु यः ।	३७ख	५३
अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते ।	१९क	२५
अन्यत् प्रकुर्वतः कार्यमशक्यस्यान्यवस्तुनः ।	१३६क	२२६
अन्ये भजन्ति दोषत्वं कुत्रचिन्न ततो दश ॥	७२ख	१३६
अन्योन्ययोगादेवं स्याद् भेदसंख्यातिभूयसी ॥	४७ख	७४
अन्योऽर्थो यत्र तत्प्राहुश्च्युतदत्ताक्षरं बुधाः ॥	१४५ख	२४३
अन्योर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणारोपिता क्रिया ॥	९ख	१४
अन्योऽर्थो विस्फुट यत्र बिन्द्वादिप्रच्युतावपि ।	१४४क	२४२
अपदस्थपदसमासं संकीर्णंगर्भितं प्रसिद्धिहतम् ॥	५४ख	९६
अपास्य च्युतसंस्कारमसमर्थं निरथकम् ।	५२क	८८
अप्रस्तुतप्रशंसा या सा सैव प्रस्तुताश्रया ।	९८क	१८१
अभवन्वस्तुसम्बन्ध उपमापरिकल्पकः ॥	९७ख	१७९
अर्थशक्त्युद्भवोप्यर्थो व्यञ्जकः संभवी स्वतः ॥	३९ख	५५
अर्थस्य व्यञ्जकत्वे तच्छब्दस्य सहकारिता ॥	२३ख	३१
अर्थान्तरे सङ्क्रमितमत्यन्त वा तिरस्कृतम् ॥	२४ख	३२
अर्थाः प्रोक्ताः पुरा तेषामर्थव्यञ्जकतोच्यते ।	२१क	२८

१५३ मिथ्याध्यवसितिर्मिथ्यासिद्ध्यै मिथ्यार्थनिर्मितिः ।
परिणामः क्रियार्थश्चेदारोप्यो विषयात्मना ॥११॥

१५४ दोषस्य प्रार्थनानुज्ञा तत्रैव गुणवीक्षणात् ।
प्राक्प्रसिद्धगुणोत्कर्षोऽनुगुणः परसन्निधेः ॥१२॥

इति साहित्य कौमुदी कारिकाः ।



परिशिष्टम् २

कारिकार्धाल्तिः

परिशिष्टम् ३

वृत्तिगतोद्धरणानुक्रमः

परिशिष्टम् ४

कृष्णानन्दिनी टीकास्थ पद्यानुक्रमः

परिशिष्टम् ५

साहित्यकौमुदीस्थ-विषयाणां वर्णानुक्रमः

● ● ●

परिशिष्टम् ६

(समुद्धत-ग्रन्थ-ग्रन्थकृन्नाम)

शुद्धिपत्रम्

अशुद्धयः	शुद्धः पाठः	पृष्ठ संख्या	पंक्ति संख्या
निर्वृत्तये	निवृतये	५	३
°पकर्षसदोष°	°पकर्षदोष°	६	७
सतप्मी	सप्तमी	९	८
वाच्वम्	वाच्यम्	१२	
क्रुन्तादीनां	कुन्तादीनां	१६	७
निगूढप्रती°	निगूढम्प्रती°	१९	१२
सौकुमायम्	सौकुमार्यम्	१९	१४
दृभिः	दृग्भिः	२०	१
प्रतीनेतं	प्रतीतेर्न	२२	११
कृण्ण	कृष्ण०	२४	९
भावसान्त्यादि°	भावशान्त्यादि°	३५	५
काव्योः	काव्ययोः	३४	१४
चेत्याष्टौ	चेत्यष्टौ	३७	१६
सभ्रम	संभ्रम°	४८	३
°रस्मार	°रपस्मार°	४८	४
°वाहित्थम्	°वहित्थम्	४८	५
भ्रान्तिरुन्मद°	भ्रान्तिरुन्माद°	४८	५
शीर्णस्तपि	शीर्णस्तदपि	४९	६
स्मरमि	स्मरामि	५१	३
°ममेक्ष्य	°मवेक्ष्य	५१	९
सद्येयाः	सन्धेयाः	६१	१४
हेतुकोऽमिति	हेतुकोऽयमिति	६३	१
हरि पातुः	हरिः पातु	७२	२
सत्यैवय	सत्यैवेयम्	७३	४

अशुद्धयः	शुद्धः पाठः	पृष्ठ संख्या	पंक्ति संख्या
जगत्रयी	जगत्त्रयी	७८	१२
°सन्निति:	°सन्नतिः	८६	७
भर्तृ दर्पं	भर्तुर्दर्पं	८७	२
धीजनाद्	धीजननाद्	८७	१०
लैखै०	लेखै०	८८	६
स्यन्दननादि	स्यन्दनादि	८९	४
°चारितं	चरितम्	६४	४
परस्थिति	परिस्थिति°	६४	७
स्वसिद्धयः	स्वसिद्धयै	६४	१६
रासे कासे कापि	रासे कापि	१०६	६
कौतुम°	कौस्तुभ°	१०६	४
विष्णोष्चक्र°	विष्णोश्चक्र°	१०६	११
अत्र धराङ्ग	अत्राधराङ्ग	११४	१०
स्मरपराधाध°	स्मरापराध°	११८	६
ग्रहीतम्	गृहीतम्	१२३	६
प्रथननं	प्रथनं	१२५	१२५
मध्यामाः	मध्यमाः	१२५	१४
वन्दिवर्णिस्य	वन्दिवर्णितस्य	१२६	६
शुष्केन्धानाग्नि°	शुष्केन्धनाग्नि°	१३५	४
नयनाञ्चले	नयनाञ्चले	१३८	७
कोधनः	क्रोधनः	१४४	४
व्यञ्जननस्य	व्यञ्जनस्य	१४७	१५
मालरूपम्	मालारूपम्	१७६	३
°पशंयातो	°पसंयातो	१८०	४
निपाय	निपीय	१८२	६
माकन्दगुकुला°	माकन्दमुकुला°	१८८	१२
परार्धाथेन	परार्धार्थेन	१९६	१३

अशुद्धयः	शुद्धः पाठः	पृष्ठ संख्या	पंक्ति संख्या
विपनाय	विपिनाय	१६८	१७
निन्दस्तुति°	निन्दास्तुति	२००	४
निगहनम्	निगूहनम्	२१२	८
तं ति	तं प्रति	२१५	१२
त्वमेकस्मिन	त्वेकस्मिन्	२१७	४
प्रविश	प्रविश्य	२२६	१३
कालस्चकास्ति	कालश्चकास्ति	२३२	६
°मनप्रासो	°मनुप्रासो	२३५	६
°न्यनपतता	न्यूनपदता	२३७	६
विनिहनुतः	विनिह्नुतः	२३६	७
त्वाभियुक्तेभ्यः	त्धभियुक्तेभ्यः	२४०	५
°व्युतकम्	°युतकम्	२४२	२२
°मध्ये दुर्योधन	°मध्येदुर्योधन	२४४	१०
बहूभि°	बहूभिः°	२४६	१५
यथायथ	यथायथं	२४६	१५
°मित्यर्थः	°मित्यर्थः	२४६	२१
कौतुकमह	कौतुकमहं	२४७	२४
दोषष्य	दोषस्य	२५४	८
लतितां	ललितां	२५४	१७
कौतूहलाकुला	कौतूहलाकुलाः	२५५	१४
प्रोक्त	प्रोक्तः	२६२	१८
शब्दार्थयो°	शब्दार्थयो°	२६७	१५
विस्फुट	विस्फुटं	२७५	२१